साम्राज्यवाद

[क्या है और कैसे फैला ?]

लेखक—

श्रीमुकुन्दीलाल श्रीवास्तव

भूमिका लेखक—

पंडित जवाहरलाल नेहरू

प्रकाशक

ज्ञानमण्डल, काशी

प्रथम संस्करण १२५०]   १९९०   [मूल्य २॥)

विषय-सूची

मानचित्रोंकी सूची

भूमिका

मेरे साथी और मित्र, काशी विद्यापीठके आचार्य्य, नरेन्द्र देवजीने जब मुझसे इस पुस्तककी भूमिका लिखनेको कहा, तब मैं कुछ झिझका। मेरे पास समय कम था और जेलसे छूटने पर बहुत कामोंमें फंसा था। फिर मुझे किताबका मज़मून मालूम हुआ और मैंने खुशीसे उसपर लिखना मंजूर किया। किताबको कुछ पढ़ने पर यह राय मेरी और भी पक्की हो गई, क्योंकि मैंने देखा कि हमारी जनताके लिये वह एक आवश्यक पुस्तक है। पूरी किताब तो मैंने अभीतक नहीं पढ़ी है और इसलिये मैं उसके निसबत तफ़सीलवार कुछ नहीं कहा चाहता। लेकिन मैंने काफी देख लिया यह जाननेके लिये कि श्री मुकुन्दीलाल श्रीवास्तवने साम्राज्यवादके बहुत पहलुओंपर उसमें अच्छी तरह लिखा है और हमारी आजकलकी दुनियाके एक बड़े सवालपर बहुत रौशनी डाली है।

इतिहासके पढ़ने और समझनेके कई तरीक़े हो सकते हैं। एक तो यह है कि अलग अलग बातें होती हैं—बड़े आदमी आते हैं और अपना जबरदस्त असर देशपर और दुनियापर डालते हैं। एक बातका दूसरी बातके साथ खास संबंध नहीं होता। एक तरहसे इत्तेफाकन या अचानक बातें होती हैं। दूसरा तरीक़ा यह है कि एक बातका दूसरी बातसे बहुत संबंध है—एक का असर दूसरेपर पड़ता है और अगर दुनियाके इतिहासकी सब बातोंको मिलाकर देखा जावे, तब कुछ क़ायदे और क़ानून-से निकलते हैं और हम समझ सकते हैं कि इतिहासमें जो कुछ

हुआ है उसके माने क्या हैं और वह क्यों होता है । यह समझनेसे दुनियाके सब कामोंपर रौशनी सी पड़ जाती है और हम आएन्दाका रास्ता देख सकते हैं ।

हमारे देशमें और बहुत अन्य देशोंमें अभीतक ज्यादातर पहले तरीक़ेसे इतिहास देखा जाता है । हर देशके रहनेवाले अपने देशको सबसे बड़ा समझते हैं—उसको पुण्य भूमि मानते हैं । अपने पुराने ज़मानेके तरफ निगाह रखते हैं और उसको अपने दिमाग़में बहुत ऊँची पदवी देते हैं । वह सत्ययुग, रामराज इत्यादि हो जाता है और यही कोशिश होती है कि फिरसे वह ज़माना आजावे । इस बातपर विचार नहीं करते कि असली वजह क्या है जो देशोंको उठाती है और गिराती है और क्रान्ति कराती है ।

यूरोपकी जो जातियाँ आगे बढ़ी हुई हैं, वह अब इस तरीक़ेसे इतिहास नहीं पढ़तीं । उन्होंने दूसरा तरीक़ा पसन्द किया है और इसलिये वह सब इतिहासको और दुनियाकी आजकल की हालतको ज्यादा ठीक तौरसे समझने लगे हैं ।

आजकल हिन्दोस्तानमें बहुत लोग परेशान हैं कि क्या करना चाहिए और उसको कैसे करें । आजकलकी दुनिया और हमारे देशकी हालत उनको अजीब और बेमाने मालूम होती हैं । इस परेशानीकी वजह यही है कि वह इतिहासके असली माने नहीं समझे । जब यह माने समझ जावेंगे, तब उनका रास्ता किसी क़दर साफ़ हो जावेगा और आजकलकी बातें बेमाने नहीं मालूम होंगी ।

इस पुस्तकमें कोशिश की गई है कि इतिहासपर नये ढंगसे विचार किया जावे । दुनियामें बड़े बड़े साम्राज्य हजारों बरससे होते जाते हैं लेकिन आजकलका साम्राज्यवाद एक नई चीज है, जो

कि पहले बार पिछले कुछ बरसोंमें पैदा हुआ है। इस समय दुनियाके क़रीब क़रीब सब देश (सिवाय सोवियट रूसके) उसके छापेमें हैं। हम हिन्दोस्तानमें उससे लड़ते हैं और उससे आज़ाद होना चाहते हैं। लेकिन हममेंसे बहुत कम उसके असली माने समझे हैं और अक्सर लोग इस धोकेमें हैं कि वह पुराने तरहका साम्राज्यवादहै। जबतक हम इस नये साम्राज्यवादको ठीक तौरसे न समझें और उसकी जड़ें और शाखाएँ न देखें, तबतक हम आजकलकी दुनियाका हाल नहीं समझ सकते और अपनी आज़ादीकी लड़ाई ठीक नहीं लड़ सकते।

इस किताबमें यह बात कई पहलुओंसे समझाई गई है और इसलिये मैं इसका स्वागत करता हूँ। ऐसी किताब सिर्फ चन्द आदमियोंकी या हज़ार दो हज़ार लोगोंकी पढ़नेकी नहीं है बल्कि पचासों हजारकी। जो भी शख्स देशका काम करता है, उसको इस मसलेपर गौर करना चाहिये और समझना चाहिये।

मुझे एक बातका खेद है। मेरी रायमें इस पुस्तककी भाषा ज्यादा कठिन है। आम जनता उसे आसानीसे नहीं समझ सकेगी। बहुत शब्द मेरे समझमें नहीं आये, लेकिन मैं दुर्भाग्यसे हिन्दीमें क़रीब क़रीब अनपढ़ हूँ। मेरी रायमें ऐसी पुस्तकें कुछ पढ़े-लिखे आदमियोंके लिये नहीं लिखनी चाहिये, बल्कि ऐसी होनी चाहिये जिनको कोई मामूलीसे मामूली पढ़ा आदमी—एक किसान या मजदूर तक—समझ सके। जबतक आम जनता नहीं समझेगी, सारी मेहनत फ़िजूल होगी और हवामें रह जायगी।

आनन्दभवन,
इलाहाबाद

जवाहरलाल नेहरू

प्रथम भाग

साम्राज्यवाद क्या है ?

निवेदन

काशी विद्यापीठके प्रधानाध्यापक आचार्य श्री नरेन्द्रदेव जीके कहने और उन्हींके प्रोत्साहनसे साम्राज्यवादके सम्बन्धमें यह पुस्तक लिखनेका कार्य मैंने अपने ऊपर लिया था। मुझे आशा थी कि मैं उनकी सलाहसे यथेष्ट लाभ उठाता हुआ और उन्होंने इस विषयका जो विशेष अध्ययन किया है, उसकी सहायतासे अनेक गुत्थियोंको हल करता हुआ अधिक आसानीसे यह काम पूरा कर सकूँगा, किन्तु दुर्भाग्यवश मेरी यह आशा पूरी न हो सकी। कार्यारम्भ करनेके कुछ ही समय बाद सत्याग्रह संग्राममें उनके जेल चले जानेके कारण मैं उनके पथ-प्रदर्शनसे वञ्चित होगया। इससे मेरी कठिनाइयाँ बढ़ गयीं। फिर भी मुझसे जहाँतक बन पड़ा, मैंने इस विषयकी यथेष्ट सामग्री इकट्ठी कर और उसका भलीभाँति अध्ययन कर थोड़ेमें किन्तु यथासम्भव स्पष्ट एवं रोचक भाषामें सभी आवश्यक बातोंपर प्रकाश डालनेकी चेष्टा की है। यदि पाठकोंको यह पुस्तक पसन्द आयी, तो मुझे यह जानकर प्रसन्नता ही होगी कि मेरा परिश्रम व्यर्थ नहीं गया।

एक बात और। इस भागका प्रथम अध्याय, कुछ संक्षिप्त रूपमें कलकत्तेके मासिक 'विश्वमित्र' में प्रकाशित हो चुका है। उसे इस पुस्तकमें सम्मिलित करनेकी अनुमति प्रदान करनेके कारण मैं श्री मूलचन्द जी अग्रवाल, सञ्चालक 'विश्वमित्र', के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ और उन्हें हृदयसे धन्यवाद देता हूँ।

—लेखक

साम्राज्यवाद क्या है ?

पहला अध्याय

साम्राज्यवादके सम्बन्धमें दार्शनिक मत

यद्यपि आजकल 'साम्राज्यवाद' शब्दका काफी अधिक प्रचार हो गया है, फिर भी यह अपेक्षाकृत एक नया शब्द है। शुरू शुरूमें इसका प्रयोग कदाचित् बोअर युद्धके समय किया गया था। जब १८९९ में इंग्लैण्डने दक्षिण आफ्रिकाके दो स्वतंत्र राज्यों—ट्रांसवाल और आरेञ्ज नदीके उपनिवेश—को हड़प लेनेके लिए युद्ध ठाना और दो ढाई वर्षतक विशेष क्षति उठाकर भी उसे जारी रखा, तब वह 'साम्राज्यवादसे प्रेरित युद्ध' (इम्पीरियलिस्ट वार) कहा जाने लगा। उसी समयसे पुस्तकों, लेखों और व्याख्यानोंमें पुनः पुनः इस शब्दका प्रयोग होने लगा। गत बीस पच्चीस वर्षोंसे तो इस विषय-पर एक खासा साहित्य ही तैयार हो रहा है, किन्तु एक बात है—भिन्न भिन्न लेखकोंने इस शब्दका प्रयोग प्रायः एक ही अर्थमें नहीं किया है। कोई 'साम्राज्यवाद'का अर्थ 'प्रभुतावाद' लगाता है, तो कोई उसे एक तरहका 'जीवन-संघर्ष' ही समझता है। कुछ लोग दूसरे देशोंको लूटने और उन्हें जीत लेनेकी नीतिको अथवा 'सैनिकवाद' को ही साम्राज्यवाद

कहते हैं और कुछ लोगोंके मतानुसार केवल कृषिप्रधान देशों-पर अपनी सत्ता स्थापित करनेका व्यावसायिक देशोंका प्रयत्न ही 'साम्राज्यवाद' है, अस्तु।

साम्राज्यवादके सम्बन्धमें अभीतक जितने मत प्रकट किये गये हैं, वे साधारणतया तीन भागोंमें विभक्त किये जा सकते हैं—दार्शनिकोंका मत, इतिहासवेत्ताओंका मत तथा साम्य-वादियों (अर्थात् कार्ल मार्क्स और उनके अनुयायियों) का मत। इनमेंसे केवल दार्शनिक मतका दिग्दर्शन इस अध्यायमें किया जायगा। अन्य मतोंका वर्णन हम इसके बादवाले अध्यायोंमें करेंगे।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, भिन्न भिन्न लेखकोंने समय समयपर 'साम्राज्यवाद' से पृथक् पृथक् आशय ग्रहण किया है। एक सुनिश्चित अर्थके अभावमें जो गड़बड़ी इस शब्दके मनमाने प्रयोगके कारण उत्पन्न हो गयी है, उससे लाभ उठाकर कुछ लोगोंने यह दिखलानेकी चेष्टा की है कि साम्रा-ज्यवादका अस्तित्व मनुष्य-समाजमें ही नहीं, पशु-पक्षियों, क्षुद्र जन्तुओं एवं पेड़-पौधोंतकमें पाया जाता है। उन्होंने जिस ढंगसे अपने मतका प्रतिपादन किया है, उससे यह ध्वनि निकलती है कि साम्राज्यवाद इस अखिल सृष्टिमें ही व्याप रहा है, वह इस नश्वर जगत्की एक स्वाभाविक घटना है, जिससे छुटकारा पानेकी चेष्टा करना एक तरहसे व्यर्थ ही है। तात्पर्य यह है कि इन लेखकोंने मानव-समाजके साथ साम्राज्यवादका अनिवार्य सम्बन्ध दिखलाकर एवं मनुष्येतर प्राणियोंके जीवनमें भी उसकी सत्ता प्रमाणित कर मानो अप्रत्यक्षतः उसका समर्थन करनेका प्रयत्न किया है। श्री

एडवर्ड राडके निम्नलिखित अवतरणमें तो यह बात बिलकुल स्पष्टतया मान ली गयी है—

"हम लोग साम्राज्यवादकी ज़्यादतियोंको रोकनेका प्रयत्न कर सकते हैं, उसके अस्तित्वके विरुद्ध लड़ाई नहीं ठान सकते। साम्राज्यवाद तो हमेशासे क़ायम रहा है और आगे भी बराबर बना रहेगा। यदि कोई चाहे तो इस प्रश्नपर विचार किया जा सकता है कि जहाज़ोंकी संख्या कितनी कम कर दी जाय अथवा सैनिक शक्ति कहांतक घटा दी जाय, किन्तु सेनाओं और रणपोतोंकी (कुछ न कुछ) आवश्यकता हमेशा बनी ही रहेगी, उनसे पूर्णतया छुटकारा पाना कदापि सम्भव नहीं।"

जिन लोगोंने 'साम्राज्यवाद' का प्रयोग इतने व्यापक अर्थमें किया है उनमें एक फ्रांसीसी लेखक अर्नेस्ट सेयीर भी हैं। उन्होंने 'फिलासफी आफ इम्पीरियलिज़्म' (साम्राज्यवादका दार्शनिक विवेचन) नामक एक पुस्तक लिखी है। इसमें उन्होंने साम्राज्यवादके भिन्न भिन्न रूपोंपर दार्शनिक ढंगसे विचार किया है। यह पुस्तक चार जिल्दोंमें समाप्त हुई है। प्रथम भागमें फ्रांसीसी लेखक गोबीनोद्वारा प्रतिपादित जातिगत साम्राज्यवाद (रेशियल इम्पीरियलिज़्म) की चर्चा की गयी है, दूसरे भागमें जर्मन विद्वान् नीट्शेके व्यक्तिगत साम्राज्यवाद (इनडिविजुअल इम्पीरियलिज़्म) का वर्णन किया गया है। इसके बाद तीसरे और चौथे भागोंमें मध्यवित्तवालों तथा श्रमियोंके साम्राज्यवाद (प्लीबियन इम्पीरियलिज़्म तथा प्रोलेटैरियन इम्पीरियलिज़्म) के सम्बन्धमें विचार किया गया है। अब हम क्रमशः इनमेंसे प्रत्येक-

का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराते हुए थोड़ेमें इनकी आलोचना भी करेंगे।

सेयीरने अपनी पुस्तकके प्रथम भागमें जिस गोबीनोके जातिगत साम्राज्यवाद्का उल्लेख किया है, वह अपने समयका एक प्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक था। उसका कहना था कि संसार-की सब जातियोंमें आर्य जाति (जिससे उसका अभिप्राय श्वेतांग जातिसे था) सर्व-श्रेष्ठ है और यह अपने अद्वितीय पराक्रमके कारण अन्य जातियोंपर शासन करनेके लिए ही बनायी गयी है। उसके कथनानुसार श्वेतांग जातिमें कुछ ऐसी जातीय विशेषताएँ हैं, दूसरोंपर अपना प्रभुत्व स्थापित करनेकी कुछ ऐसी विलक्षण योग्यता है, कि आफ्रिका, एशिया इत्यादिकी सभी अश्वेतांग जातियोंके लिए उनके सामने सिर झुकाना और उनकी अधीनता स्वीकार करना अनिवार्य है। यही कारण है कि आफ्रिकाके हब्शियों और भारत तथा चीनमें रहनेवाली जातियोंके सम्बन्धमें ही नहीं, बरन शुरू शुरूमें जापानियों तकके विषयमें यूरोपवालोंकी धारणा थी कि वे यूरोपकी सभ्य श्वेतांग जातियोंके सामने अपना मस्तक ऊँचा रखनेमें असमर्थ हैं। किन्तु जब रूस-जापान-युद्धमें नन्हेंसे जापानने अपने प्रबल श्वेतांग शत्रु रूसको पछाड़ डाला, तब उनकी आँखें खुलीं। जापानका दुर्दान्त साहस एवं अद्वि-तीय पराक्रम देखकर वे दंग रह गये। उन्हें विवश होकर यह स्वीकार करना पड़ा कि शारीरिक शक्ति एवं सैनिक वीरताकी दृष्टिसे जापान यूरोपीय देशोंकी तुलनामें किसी प्रकार कम नहीं है। इतना होते हुए भी बहुतोंका यह ख़्याल था कि जापानकी विजयका कारण उसका पश्चिमी देशोंके तरीक़ोंका

अनुकरण करना ही है। वे उसका श्रेय उसकी अपनी सभ्यता एवं जातीय विशेषताओंको देनेके लिए तैयार नहीं थे। किन्तु इसके बाद जब उन्होंने जापानके प्रति अपना उपेक्षाभाव छोड़कर उसके साहित्य तथा कलाका, उसकी मानसिक एवं वैज्ञानिक उन्नतिका, अध्ययन किया, तब उनका यह भ्रम भी दूर हो गया। अब उन्हें यह मानना पड़ा कि जापान भी एक मौलिक राष्ट्र है और वहाँके निवासी संसारकी अन्य किसी भी जातिसे किसी बातमें कम नहीं हैं। इस प्रकार रूस-जापान-युद्धके समय जापानके वीरोंने अपने श्वेतांग विपक्षीके दाँत खट्टे कर जातिगत साम्राज्यवादका खोखलापन निश्चित रूपसे प्रमाणित कर दिया।

इधर स्वयं श्वेतांग जातियोंमें भी एक जाति ऐसी थी जो अपनेको निसर्गतः विशेष-गुण-सम्पन्न समझती थी। यह जर्मन जाति थी। गत यूरोपीय युद्धके पूर्वतक एक मामूलीसे मामूली जर्मन भी अपने मनमें यह समझता था कि ईश्वरने जर्मनोंको अन्य सभी लोगोंसे अधिक क्षमताशाली बनाया है और संसारका कोई भी देश उन्हें नीचा नहीं दिखा सकता। सन् १९१४ में युद्धकी घोषणा होनेके बाद पहले ही वर्षमें जर्मनीको जो आशातीत सफलता प्राप्त हुई, उससे जर्मनोंकी यह धारणा और भी पक्की हो गयी। अब जर्मनीके अनेक लेखकों एवं वैज्ञानिकोंने साफ साफ कहना शुरू किया कि जर्मन जाति अपने नैसर्गिक गुणोंके कारण अन्ततः अश्वेतांग जातियोंपर ही नहीं, यूरोपकी श्वेतांग जातियोंपर भी अपना प्रभुत्व स्थापित करनेमें समर्थ होगी। वे इतना तो मानते थे कि फ्रांसीसी, रूसी तथा ब्रिटिश जातिके लोग भी काफी क्षमतावान् हैं, क्योंकि

(१) रूसो, वालटेयर तथा रोमाँ रोलाँ (२) काउण्ट टाल्स्टाय और (३) शेक्सपियरके सदृश विख्यात महापुरुषोंने उक्त जातियोंको समलंकृत किया है, किन्तु उनका कहना था कि इन जातियोंमें उस संघटन-शक्तिका अभाव है जो जर्मन जातिकी विशेषता है और जिसके कारण यह जाति अन्तमें सारे संसारपर अपनी प्रभुता स्थापित करनेमें समर्थ होगी। युद्धके अन्तिम परिणामने इन महत्त्वाकांक्षी लेखकों तथा राजनीतिज्ञोंकी बढ़ती हुई आशाओंपर पानी फेर दिया और एक बार फिर जातिगत साम्राज्यवादकी असत्यता प्रमाणित कर दी।

यहाँपर जर्मन जातिकी बहु-उद्घोषित नैसर्गिक विशेषता अर्थात् संघटन-क्षमताके सम्बन्धमें विशेष कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं है। इतना ही कहना पर्याप्त है कि उसे जन्मजात समझनेका जर्मनोंका दावा निराधार है। सन् १८४७ के पूर्वतक जर्मनीमें उसकी गन्ध भी नहीं पायी जाती थी। उस समय जर्मनी कई छोटे छोटे राज्योंमें विभक्त था, जो निरन्तर एक दूसरेसे लड़ा भिड़ा करते थे। संघटन करना तो उसने तब सीखा, जब वह एक संयुक्त राज्य हो गया और जब उद्योग-धन्धोंकी उन्नतिके कारण उसकी आर्थिक अवस्था सुधर गयी। यदि राजनीतिक एकताके परिणामस्वरूप जर्मनीमें इतनी शीघ्रतासे उत्पत्तिके साधनोंकी वृद्धि न हुई होती तो कौन कह सकता है कि वह गत यूरोपीय युद्धके पहले एक सुसंघटित एवं समुन्नत राष्ट्र कहलानेका अधिकारी बन सकता? क़रीब क़रीब १९ वीं शताब्दीके अन्ततक उसकी यह हालत थी कि हेनके कथनानुसार 'जितनी गड़बड़ी और जितनी अव्यवस्था

जर्मन जातिमें दृष्टिगोचर होती थी, उतनी शायद ही दुनियाकी और किसी जातिमें देख पड़ती हो।' उसने तो यहाँतक लिख मारा था कि इस जातिमें संघटन और व्यवस्था करनेकी क्षमता आ ही नहीं सकती !

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसका तात्पर्य यही है कि जर्मन या अन्य किसी भी जातिके लोगोंका यह दावा करना कि ईश्वरने जन्मसे ही हमें विशेष-गुण-सम्पन्न अथवा क्षमतावान् बनाया है, व्यर्थ है। यदि अनुकूल वातावरण एवं राजनीतिक एकता और स्वतन्त्रता प्राप्त हो तो प्रायः प्रत्येक जाति वैसी ही क्षमता, वैसी ही वीरता, एवं भिन्न भिन्न क्षेत्रोंमें वैसी ही दक्षता प्रदर्शित कर सकती है, जैसी कोई समुन्नत और सुसभ्य कही जानेवाली जाति प्रकट करती है। उदाहरणके लिए तुर्की और रूसको ही ले लीजिए। युद्ध-समाप्तिके बाद अनेक बड़ी बड़ी कठिनाइयोंका सामना करते हुए भी किस दृढ़तासे ये दोनों राष्ट्र अपने मार्गपर अग्रसर होते रहे हैं, यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं है। क्या सामाजिक, क्या राजनीतिक, क्या आर्थिक और क्या धार्मिक क्षेत्रमें, इतने थोड़े समयके भीतर ही इन देशोंका जो कायापलट हो गया है, उसे देखकर आश्चर्य होता है। यद्यपि समस्त संसारके पूँजीवादी राष्ट्रोंने रूसके प्रयत्नोंको विफल बनानेमें कोई बात उठा नहीं रखी, फिर भी उसके अदम्य उत्साह और अप्रतिहत दृढ़ताके सामने उनकी दाल नहीं गलने पायी। अब तो उसके विरोधियों तकको स्वीकार करना पड़ा है कि रूसवाले बिलकुल निकम्मे और शक्तिहीन नहीं हैं, अंग्रेजों, जर्मनों, अथवा फ्रांसीसियोंकी तरह महान् कार्य करनेकी क्षमता उनमें भी है।

अपनी जातिको संसार भरकी जातियोंमें सबसे अधिक विशेष-गुणसम्पन्न समझनेवाले अनेक जर्मनोंकी राय तो यहाँतक बदल गयी है कि वे अब रूसी जातिको ही सबसे अधिक क्षमतावान् समझने लगे हैं और अपने देशवासियोंको अनेक बातोंमें रूसवालोंका अनुकरण करनेकी सलाह दे रहे हैं। उसी तरह चीन तथा भारतमें इस समय जो घटनाएँ हो रही हैं, उन्हें देखकर कौन कह सकता है कि ये जातियाँ भी शीघ्र ही संसारको अपनी असाधारण क्षमताका परिचय न देंगी। तात्पर्य यह है कि पुनः पुनः होनेवाली संसारकी घटनाओंको देखते हुए जातिगत साम्राज्यवादका सिद्धान्त मान्य नहीं समझा जा सकता।

अब सेयीरकी पुस्तकके दूसरे भागको लीजिए। इसमें उसने नीट्शे द्वारा प्रतिपादित व्यक्तिगत साम्राज्यवादका वर्णन किया है। नीट्शेके मतानुसार समाजमें कभी कभी कोई ऐसा प्रतिभाशाली व्यक्ति पैदा हो जाता है जो अपनी विशेष क्षमताके कारण चारों ओर प्रभाव स्थापित कर लेता है। नीट्शेने व्यक्तिगत सत्ताको सबसे अधिक महत्त्व दिया है और यह भी स्वीकार किया है कि व्यक्तिविशेषको अपने आसपासके समाजपर ही नहीं, सारे संसारपर प्रभुत्व स्थापित करनेका अधिकार है। उसका कथन है कि जिस व्यक्तिमें समाजका या देशका संघटन करनेकी विशेष योग्यता हो, जिसमें स्थितिकी जटिलताओंको समझकर उनसे उद्धार पानेका उपाय शीघ्र ही सोच निकालनेकी विशेष प्रतिभा हो, जिसमें दुर्दान्त साहस एवं असाधारण उत्साह देख पड़ता हो, अथवा जिसमें राजनीतिक समस्याओंका समीकरण करनेकी अद्वितीय क्षमता विद्यमान

हो, उसे अधिकार है कि वह सारी जाति, सारे देश या सारी दुनियापर शासन करे। मतलब यह कि यदि कोई मनुष्य सिकन्दर, सीज़र, नैपोलियन, अकबर, या शिवाजीके सदृश असाधारण वीर एवं क्षमतावान् हो, तो वह एक विस्तृत भू-भागका अधीश्वर, अनेक देशोंका सम्राट् बननेका अधिकारी है। थोड़ेमें, यही 'व्यक्तिगत साम्राज्यवाद' का सिद्धान्त है जिसपर नीट्शेने ज़ोर दिया है।

उपर्युक्त सिद्धान्तके सम्बन्धमें इतना ही कहना काफी है कि आधुनिक जगत्में लोकतंत्रवादका इतना प्रसार हो गया है और बराबर होता जा रहा है कि अब समाजका कोई भी अंग, चाहे वह धनिकवर्ग हो या श्रमीवर्ग हो, किसी एक ही व्यक्तिकी सत्ता माननेको तैयार नहीं है। ऐसी अवस्थामें चाहे कोई व्यक्ति कितना ही असाधारण क्षमताशाली क्यों न हो, उसे सारे संसारपर अथवा उसके एक बड़े भागपर अपना प्रभुत्व स्थापित करनेका कोई अधिकार नहीं है। इतना अवश्य है कि जिस मनुष्यमें अलौकिक प्रतिभा या अदम्य शक्ति विद्यमान रहती है, वह प्रायः अधिकांश समाजको अपनी ओर मोड़ लेता है और यह मानो उसका वशवर्ती होकर उसके बताये हुए मार्गका अनुसरण करनेको तत्पर हो जाता है। हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि वर्तमान जगत्में भी यह प्रवृत्ति देख पड़ती है, किन्तु इसका यह आशय नहीं कि उक्त मनुष्य सारे समाजको जिस तरह चाहे उस तरह नचा सकता है अथवा उसे यह 'अधिकार' मिल जाता है कि वह समाजके प्रति मनमाना व्यवहार करे या उसपर स्वच्छन्दरूपसे शासन करे। कमसे कम राजनीतिक क्षेत्रमें तो लोग इतने सजग हो

गये हैं कि अब वे सिद्धान्ततः इस 'अधिकार' को माननेके लिए उद्यत नहीं हैं, यों व्यवहारमें भले ही किसी असाधारण परिस्थिति या संकटका सामना करनेकी दृष्टिसे कोई देश किसी विशेष क्षमतावान् व्यक्तिका अनुवर्ती बनना स्वीकार कर ले, जैसा कि इस समय इटली या तुर्कीने किया है। कहनेका तात्पर्य यह है कि 'व्यक्तिगत साम्राज्यवाद' का सिद्धान्त वर्तमान जगत्में ग्राह्य नहीं माना जा सकता।

अब मध्य श्रेणीवालोंके साम्राज्यवादको लीजिए। फ्रांसीसी राज्यक्रान्तिके पहले समाजमें प्रायः दो ही वर्गोंकी गिनती होती थी, कुलीनों (रईसों) और पादरियोंकी। व्यापार इत्यादि करनेवाले मामूली लोगों या मध्य श्रेणीवालोंको कोई महत्त्व नहीं दिया जाता था। फ्रांसकी राज्यक्रान्तिके समय इस वर्गके लोगोंने सिर उठाना शुरू किया और अन्य दोनों वर्गोंपर अपना प्रभुत्व स्थापित करनेकी चेष्टा की। सेयीरके कथनानुसार यही मध्य श्रेणीवालोंका 'साम्राज्यवाद' है। इसका मुख्य प्रतिनिधि, सेयीरके मतानुसार, रूसो नामक फ्रांसीसी विद्वान् था। वालटेयरभी मध्य श्रेणीके अधिकारोंका समर्थक था। इन विद्वानोंने अपनी अपनी रचनाओंमें मध्य श्रेणीके महत्त्वका प्रतिपादन किया और उसकी मांगोंपर ज़ोर दिया। मध्य श्रेणीवाले चाहते थे कि समाजमें केवल कुलीनवर्गकी ही तूती न बोले, हमें भी कुछ कहने सुननेका अधिकार हो। उन्होंने अपनी अभीष्ट-सिद्धिके लिए जो महान् प्रयास किया, उसमें वे सफल हुए; किन्तु अब वे कुलीनोंके स्थानमें अपना ही प्रभुत्व, अन्य-वर्गोंपर, स्थापित करनेकी चेष्टा करने लगे। उनके इस प्रयास-को सेयीरने 'मध्य श्रेणीवालोंका साम्राज्यवाद' कहा है।

ऊपर हम व्यक्तिगत साम्राज्यवादके सम्बन्धमें जो कुछ कह आये हैं, वही बात किसी अंशमें मध्यश्रेणीके साम्राज्यवाद-के सम्बन्धमें कही जा सकती है। आधुनिक जगत्में समाजका प्रत्येक अंग इतना जाग्रत हो गया है, अथवा होता जा रहा है, कि अब किसी एक वर्गके लिए समाजके अन्य वर्गोंपर केवल अपना ही प्रभुत्व स्थापित करना आसान काम नहीं है। साधारण मजदूर-श्रेणीके लोग भी अब अपने अधिकारोंके सम्बन्धमें इतने सजग हो रहे हैं कि वे क्या अमीरोंका और क्या मध्य श्रेणीवालोंका आधिपत्य कदापि नहीं स्वीकार कर सकते।

भारतवर्षमें ब्राह्मणोंने सारे हिन्दू समाजपर जो आधिपत्य स्थापित कर लिया था, वह भी अब दूर हो रहा है। तथाकथित निम्न श्रेणीवालोंमें पर्याप्त रूपसे जागृति फैल चुकी है और अब वे भी समाजमें अपना उचित स्थान ग्रहण करने तथा अपने अधिकार प्राप्त करनेकी चेष्टा कर रहे हैं। अनेक उच्चवर्णवाले हिन्दू स्वयं इस कार्यमें उन्हें विशेष रूपसे सहायता दे रहे हैं।

रूसो इत्यादिने जब साधारण जन-समुदाय अथवा मध्य श्रेणीकी ओरसे आवाज़ उठानी शुरू की थी, तब कुलीनोंका अत्याचार बहुत बढ़ गया था। उसीके विरोधमें मध्य श्रेणी-वालोंने उपर्युक्त प्रयत्न आरम्भ किया था। उनका उद्देश्य अन्य वर्गोंपर अपनी प्रभुता स्थापित करनेका नहीं था। वे तो केवल उनकी ज्यादतियोंको रोकना चाहते थे और समाजमें अपना उचित स्थान प्राप्त करनेके इच्छुक थे, यद्यपि यह सत्य है कि बादमें इस वर्गके लोगोंकी एक बड़ी संख्या जोशमें आकर आवश्यकतासे अधिक आगे बढ़ गयी।

इसके बाद सेयीरने कार्ल मार्क्सके मतका वर्णन किया है। उसने उसे निम्नश्रेणी अर्थात् श्रमियोंके सामाज्यवादका प्रतिनिधि माना है। उसके कथनानुसार, जिस प्रकार फ्रान्सकी राज्यक्रान्तिके समय मध्य श्रेणीवालोंने कुलीनोंके आधिपत्यको नष्ट कर स्वयं अपना आधिपत्य स्थापित करनेकी चेष्टा की थी, उसी प्रकार कार्ल मार्क्स तथा उसके अनुयायियोंने अन्य सभी वर्गोंपर श्रमियोंका प्रभुत्व स्थापित करनेका प्रयत्न किया।

सेयीरके इस कथनके सम्बन्धमें भी विशेष कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं है। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यद्यपि यह सत्य है कि श्रमीवर्ग समाजमें पूँजीपतियों या अन्य किसी वर्गका आधिपत्य रहने नहीं देना चाहता, किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि अब वह अन्य वर्गोंको बिलकुल दबाकर स्वयं उनपर शासन करना चाहता है। साम्यवादियोंका उद्देश्य तो एक प्रकारसे श्रेणी विभागको तोड़ ही देना है। वे समाजके प्रत्येक व्यक्तिको समान स्थितिमें रखना चाहते हैं अर्थात् वे एक ऐसे समाजका निर्माण करना चाहते हैं जिसमें प्रत्येक व्यक्तिको समान अधिकार प्राप्त हों। यह कहना कि पूँजीपतियों द्वारा होनेवाली आर्थिक लूटको नष्ट कर अब श्रमीवर्ग स्वयं दूसरोंको लूटना चाहता है, उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि प्रत्येक समाजमें श्रमियोंकी संख्या यों ही बहुत ज्यादा है और यदि उन्हें अपने उचित अधिकार मिल जावें तो फिर औरोंको लूटनेकी उन्हें आवश्यकता ही नहीं रह जाती। जो हो, कमसे कम सिद्धान्ततः तो साम्यवादियोंकी मंशा यही है कि समाजसे सारी विषमता दूर हो जाय, अतः अन्य वर्गोंपर श्रमियोंका आधिपत्य स्थापित करना भी उसी प्रकार समा-

नताके उद्देश्यके प्रतिकूल है, जिस प्रकार थोड़ेसे पूँजीपतियोंका एक बड़े जनसमूहको अपने आश्रित बना रखना है। यदि श्रमी-वर्ग पूँजीपतियोंसे कुछ छीन लेना चाहता है या उन्हें बहुत अधिक धन इकट्ठा करनेसे रोकना चाहता है, तो इसका यह आशय नहीं कि वह भी उनके साथ वैसा ही अत्याचार करना चाहता है, जैसा वे उसके साथ करते आ रहे थे। उसका तात्पर्य तो केवल इतना ही है कि पूँजीपतियोंने जो आवश्यकतासे अधिक धन ले लिया है, और जिसे लेनेका उन्हें कोई अधिकार नहीं था, वह उनसे छीन लिया जाय।

इस प्रकार सेयीरने दूसरोंको दबाकर एक जाति, एक व्यक्ति, या एक वर्गके आगे बढ़ने एवं अन्य लोगोंपर अपना प्रभुत्व स्थापित करनेके प्रयत्नको 'साम्राज्यवाद' ही कहा है। इन महाशयके कथनानुसार तो साम्यवादकी तहमें भी साम्राज्यवाद छिपा हुआ है। ये इससे आगे नहीं बढ़े, यही ग़नीमत है। किन्तु इनके अनुयायी कब चूकनेवाले थे। उन्होंने शीघ्र ही यह सुझाना शुरू किया कि यदि ध्यान-पूर्वक देखा जाय तो संसारमें 'मधुमक्खियोंका साम्राज्यवाद', 'चिउँटियोंका साम्राज्यवाद', तथा 'वृक्षोंका साम्राज्यवाद' भी देख पड़ेगा। जब एक मधुमक्खी दूसरी मधुमक्खीपर आक्रमण करती है, तब वह साम्राज्यवादात्मक प्रवृत्तिका ही परिचय देती है। उसी प्रकार जब एक चिउँटी दूसरीपर झपटती है, तब उसका यह कार्य भी प्रभुत्व स्थापित करनेकी उस चेष्टाका द्योतक है जो चिउँटियोंकी एक जातिमें दूसरी जातिके प्रति दृष्टिगोचर होती है। यही बात उद्भिजोंके सम्ब-न्धमें भी कही जा सकती है। जब एक बरगदका पेड़ या अन्य

कोई विशाल वृक्ष स्वयं काफी स्थान ले लेता है और अपने आसपास अन्य किसी पेड़-पौधेको उगने नहीं देता या उनके विकासमें रुकावट डालता है, तब उसे उद्भिज-क्षेत्रमें व्यक्तिगत साम्राज्यवादका ही प्रतिनिधि समझना चाहिये।

साम्राज्यवादके उपर्युक्त भेद करने और चिउँटियों, मधु-मक्खियों इत्यादि तकके क्षेत्रमें उसकी व्यापकता दिखलानेका यह प्रयत्न किञ्चित् हास्यास्पदसा हो गया है। इसका मूल कारण यही प्रतीत होता है कि सेयीर तथा उसके अनुयायियोंने साम्राज्यवादका अर्थ समझनेमें ही भूल की है। उन्होंने उसे 'जीवन-संघर्ष' का ही पर्यायवाची मान लिया है। यदि साम्राज्यवादका यही अर्थ किया जाय तो फिर कहना पड़ेगा कि ऐसा प्रत्येक व्यक्ति जो अपनी जीवन-रक्षाका प्रयत्न करता है या जो अपनी महत्त्वाकांक्षाकी पूर्तिके लिए अग्रसर होता है, इस दृष्टिसे पूरा साम्राज्यवादी ही है। यही बात जातियों अथवा मनुष्येतर प्राणियों एवं पेड़-पौधोंके सम्बन्धमें कही जा सकती है।

सेयीरके अतिरिक्त फ्रांसके विद्वान् लेखक श्री रोमाँरोलाँने भी काफी व्यापक अर्थमें इस शब्दका प्रयोग किया है। साम्राज्यवादसे उनका अभिप्राय साधारणतया हिंसा और डकैती इत्यादिकी नीतिसे है। 'ले बूईसन आरडेण्ट' नामक अपने एक उपन्यासमें वे लिखते हैं—"चारों ओर साम्राज्यवादका ही दौरदौरा है। कहीं कैथालिक सम्प्रदायका धार्मिक साम्राज्यवाद प्रचलित है जो प्रत्येक वस्तुको अपने प्रभावक्षेत्रके भीतर लाना चाहता है, तो कहीं व्यापारप्रिय रहस्यमय राजतंत्रोंका सैनिक साम्राज्य दिखाई देता है, कहीं फ्रीमेसनवालों

या लोभी प्रजातन्त्रोंके कर्मचारियोंका साम्राज्यवाद नज़र पड़ता है और कहीं क्रान्तिकारी संस्थाओंके अधिनायकोंके साम्राज्य-वादका दृश्य सामने आता है ! हे देवि स्वतंत्रते, मालूम होता है, तुम इस संसारके लिए नहीं बनायी गयीं ! वस्तुतः इस समय हमें साम्राज्यवाद और स्वाधीनताके बीच चुनाव नहीं करना है, प्रत्युत साम्राज्यवादके ही भिन्न भिन्न रूपोंमेंसे किसी एकको पसन्द करना है।" तात्पर्य यह कि रोमाँरोलाँके विचारानुसार साम्राज्यवाद सारे संसारमें ही व्याप्त है और उसके चंगुलसे बचना प्रायः असम्भव है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह अनुमान हो सकता है कि साम्राज्यवादके इन भिन्न भिन्न मतोंका कारण शाब्दिक हेरफेर ही है, किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं और जैसा कि रोमाँरोलाँके ऊपरवाले अवतरणके अन्तिम वाक्यसे स्पष्ट हो जाता है, इस शब्दजालकी तहमें एक मुख्य उद्देश्य छिपा हुआ है। साम्राज्यवादके सम्बन्धमें दार्शनिक मतका प्रतिपादन करनेवालोंकी मंशा यह दिखलानेकी है कि साम्राज्यवाद सारे मनुष्य समाजमें ही नहीं, समूची पृथ्वीपर फैला हुआ है; वह एक प्राकृतिक घटना है, अतः उससे छुटकारा पाना असम्भव है और जो लोग उसे दूर करनेका प्रयत्न करते हैं वे मानो पत्थरपर बीज बोनेकी चेष्टा कर रहे हैं। यही कारण है कि पूँजीपतियों और साम्राज्यवादके समर्थकों तथा अनुयायियोंमें सेयीरके मतका बहुत अधिक प्रचार हुआ है।

दूसरा अध्याय

साम्राज्यवादके सम्बन्धमें इतिहास-वेत्ताओंका मत

पिछले अध्यायमें हम देख चुके हैं कि सेयीर तथा उसके अनुयायियोंने साम्राज्यवादकी मीमांसा करते हुए यह मत प्रतिपादित किया है कि वह मानव-जगत्‌में ही नहीं, पशु-पक्षियों तथा पेड़पौधों तकमें पाया जाता है। विभिन्न क्षेत्रोंकी भिन्न भिन्न घटनाओंकी एकहीमें खिचड़ी कर देनेके कारण उनका मत अवैज्ञानिक हो गया है। इतिहासवेत्ताओंके मतमें यह दोष नहीं आने पाया है। इन्होंने मनुष्येतर प्राणियों अथवा उद्भिजों-को छोड़कर केवल मानव-जगत्‌के ही इतिहासमें साम्राज्यवाद-का अस्तित्व प्रतिपादित करनेकी चेष्टा की है। इन लोगोंके कथनानुसार मानव-समाजके विकासमें पद पदपर साम्राज्यवाद पाया जाता है। उसके इतिहासका आरंभ उसी समयसे होता है जबसे मनुष्योंने समाज बनाकर रहना शुरू किया।

साम्राज्यवादके सम्बन्धमें ऐतिहासिक मतका प्रतिपादन करनेवालोंका कहना है कि प्राचीन जूडियन (यहूदी) जातियों तथा ग्रीकों और रोमनोंमें भी साम्राज्यवाद पर्याप्तरूपसे प्रच-लित था। बाइबिलमें बारम्बार फिलिस्तीनकी जातियों या अमलेकाइट लोगोंके साथ जूडियनोंके युद्धका वर्णन मिलता है। यदि इसपर गम्भीरतापूर्वक मनन किया जाय तो विदित होगा कि इन युद्धोंका असली कारण साम्राज्यवाद ही था। यहूदी लोग बड़े लड़ाके थे और वे फिलिस्तीन तथा अरबको हड़प लेना चाहते थे। ऐसा करनेके लिए अन्य सब जातियोंको

जीत लेना आवश्यक था। इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिए यहूदियोंने एक सर्वशक्तिमान् ईश्वरका प्रतिपादन किया और अपने आपको उसकी प्रिय जाति बताना शुरू किया। अब वे कहने लगे कि अन्य सभी जातियोंको हमारी अधीनता स्वीकार कर लेनी चाहिये, क्योंकि हमारी जाति ही ईश्वरको सबसे अधिक प्रिय है, और यदि कोई जाति हमारी अधीनता स्वीकार न करेगी, जैसी ईश्वरकी इच्छा है, तो वह अवश्य नष्ट कर दी जायगी। इससे स्पष्ट है कि यहूदी लोग भी साम्राज्यवादी थे। वे धर्मकी आड़में अन्य सभी जातियोंपर अपना प्रभुत्व स्थापित करनेके इच्छुक थे।

इसी प्रकार ग्रीस और रोमके भी साम्राज्यवादकी बात कही जाती है। उदाहरणार्थ, गत महायुद्धके ठीक पहले हार्वर्ड विश्वविद्यालयके अध्यापक श्रीयुत फरगुसनने एक पुस्तक प्रकाशित की थी। इसका नाम है 'ग्रीक इम्पीरियलिज्म' (ग्रीसका साम्राज्यवाद)। इसमें अथेन्स, स्पार्टा, मकदूनिया इत्यादि ग्रीक राज्योंकी साम्राज्य स्थापित करनेकी नीतिका वर्णन किया गया है।

इसमें सन्देह नहीं कि इन प्राचीन जातियोंमें साम्राज्यवादकी प्रवृत्ति दिखलानेका जो प्रयत्न किया गया है, वह भी अवैज्ञानिक है और उसमें 'साम्राज्यवाद' शब्दका प्रयोग बहुत व्यापक अर्थमें किया गया है। हम यह मानते हैं कि समाजमें जबसे व्यक्तिगत सम्पत्तिकी प्रथा चली और वह समयके प्रभावसे विभिन्न वर्गोंमें बँटता गया, तभीसे प्रभावशाली वर्गोंको अपने स्वार्थलाभ तथा स्वार्थरक्षाके लिए अन्य लोगोंसे युद्ध करनेमें भाग लेना पड़ा। यह भी स्पष्ट है कि जूडिया, ग्रीस और रोम, इन तीनों राज्योंने अपने पड़ोसियोंके साथ

जो लड़ाइयाँ लड़ी थीं, उनके मूलमें आर्थिक कारण ही विद्यमान थे, वे समाजकी प्रभावशाली श्रेणियोंके हितार्थ ही लड़ी गयी थीं। किन्तु केवल इसी एक बातके कारण इसे हम 'साम्राज्यवाद' नहीं कह सकते। क्यों नहीं कह सकते, इसका उत्तर आगे दिया जायगा।

हम देखते हैं कि आजकल जितने पूँजीवादी देश हैं, सभीमें स्वदेशनीति तथा परराष्ट्रनीतिके मामलोंमें प्रायः पूँजीपतियोंका बोलबाला है। समाजमें इन्हींका प्रभाव है और इन्हींके स्वार्थोंकी रक्षा तथा वृद्धिके निमित्त अन्य देशोंसे युद्ध किये जाते हैं और बड़ी बड़ी सेनाएँ तथा युद्ध-सामग्री प्रस्तुत की जाती है। किन्तु इसका यह आशय नहीं है कि प्राचीन देशोंमें परस्पर जो युद्ध हुआ करते थे, उनके मूलमें भी ऐसे ही कारण विद्यमान न थे। इस विषयपर किञ्चित् विचार करनेके बाद हमें मानना पड़ता है कि उस समय भी प्रायः आर्थिक कारणोंसे प्रेरित होकर युद्ध घोषित किये जाते थे।

फारसके साम्राज्यके साथ अथेंज़वालोंके युद्धका कारण लघु एशिया तथा कृष्णसागरके तटस्थ उपनिवेशोंपर कब्जा करने, व्यापारिक प्रभुत्व स्थापित करने और ईजियन समुद्र, कृष्ण समुद्र इत्यादिपर अपना एकाधिपत्य जमानेकी उनकी इच्छा थी। फारसपर ग्रीस देशके विजयी होनेसे अथेंज़का आर्थिक महत्त्व बढ़ गया। युद्ध-सञ्चालनके कार्यमें अथेंज़वाले प्रधान रूपसे भाग लेते थे, अतः उक्त समुद्रोंकी राहसे जो व्यापार होता था, उसके मुनाफेका एक बड़ा भाग अथेंज़को ही मिलता था। उस समय पूरब और पच्छिमके बीच जो व्यापार होता था, वह ग्रीसकी मध्यस्थतासे ही होता था।

ऐसी अवस्थामें यह निश्चित था कि ग्रीसके व्यापारको हथिया लेनेसे अथेंज़को संसारके व्यापारमें एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो जाता। वहाँके उद्योग-व्यवसायने थोड़े ही समयमें अभूतपूर्व उन्नति कर ली और भिन्न भिन्न देशोंसे खिंचकर अपार सम्पत्ति वहाँ इकट्ठी होने लगी। इस सम्पत्तिसे वहाँके केवल धनिकवर्गको ही नहीं, बल्कि अन्य लोगोंको भी फायदा पहुँचा, क्योंकि अथेंज़ एक प्रजातंत्र राज्य था। वहाँके सभी स्वतंत्र नागरिकोंकी आर्थिक एवं मानसिक उन्नतिमें उससे सहायता मिली। किन्तु यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि अथेंज़में केवल स्वतंत्र नागरिक ही नहीं रहते थे। उनके अतिरिक्त वहाँ बहुसंख्यक गुलाम भी रहते थे। ये उनके घरका तथा बाहरका कुल काम करते थे। उनके घरकी सफाई इत्यादि करते, उनके कपड़े तैयार करते और उनके लिए जूते बनाते थे। युद्धमें प्रयुक्त होनेवाले तरह तरहके औज़ार भी प्रायः गुलाम लोग ही बनाते थे। उनके स्वामी घर-गृहस्थीका सारा काम उन्हींके मत्थे छोड़कर राजनीतिक सभाओंमें सम्मिलित होकर राज्यके महत्त्वपूर्ण विषयोंपर वाद-विवाद करते या रंगशालाओंमें जाकर तमाशा इत्यादि देखते थे। सैनिक जहाज़ों या व्यापारिक पोतोंपर भी कुल काम गुलामोंके ही जिम्मे रहता था। वे ईजियन तथा आयोनियन समुद्रोंको पार कर व्यापार द्वारा प्राप्त राशि राशि सम्पत्ति अथेंज़में लाकर एकत्र करते थे, किन्तु इतना सब करनेपर भी उनके स्वामी उन्हें अथेंज़की आर्थिक एवं बौद्धिक उन्नतिका लाभ उठानेसे वञ्चित रखते थे। सैनिक लूटमें जो चीज़ें प्राप्त होती थीं या जो धन मिलता था, उसका भी कुछ अंश उन अभागों-

को नहीं दिया जाता था। अतः यह स्पष्ट है कि अथेंज़ या ग्रीसके अन्य राज्योंकी परराज्योंको जीतनेकी नीतिका सम्बन्ध एक वर्गविशेषके ही लाभके साथ था अर्थात् उससे ग्रीसके केवल स्वतंत्र नागरिकोंका ही भला होता था।

रोम साम्राज्यकी दिग्विजयिनी नीति भी क़रीब क़रीब इसी तरहकी थी। फेरेरो नामक एक इटैलियन लेखकने दिखलाया है कि जब रोममें कृषिके छोटे छोटे क़स्बोंकी अवनति होने लगी और भूमध्यसागरके किनारे सैनिक आधिपत्य स्थापित हो गया, जब एक ओर रोमका वैभव बहुत बढ़ गया और पूँजीपतियोंको विशेष शक्ति प्राप्त होने लगी तथा दूसरी ओर गुलामोंकी संख्या भी उत्तरोत्तर बढ़ती गयी, तब रोमन समाजमें निष्ठुर हिंसा, लालच, विलासिता, धनेषणा तथा संसार भरमें अपना रोब जमानेका भाव फैलने लगा।

इस प्रकार रोमके आर्थिक ढांचेकी मूल आधार-शिलाके गिर जाने एवं पूर्वकालीन सीधे-सादे समाजके नैतिक अधःपतनके कारण अब रोमने हिंसा और डकैतीकी नीति अख्तियार कर ली। सबसे पहले कार्थेजके विरुद्ध युद्धकी घोषणा की गयी। फिर ग्रीस, मकदूनिया तथा लघु एशियापर भी विजय प्राप्त की गयी। रोम-निवासियोंके कर्त्तव्यका दिग्दर्शन कराते हुए वर्जिलने लिखा था "हे रोम-निवासियो, स्मरण रखो कि अन्य राष्ट्रोंपर दृढ़तापूर्वक अपना प्रभुत्व स्थापित करना ही तुम्हारे जीवनका पवित्र उद्देश्य है। ईश्वर करे, तुम्हें सर्वत्र शान्ति स्थापित करनेका श्रेय प्राप्त हो, तुम दीनोंके प्रति दया दिखला सको और उद्धतोंका विनाश कर सको।" किन्तु व्यवहारमें रोम साम्राज्यके इस पवित्र कर्त्तव्यका—राष्ट्रोंमें

'शान्ति स्थापित करने', 'दीनोंके प्रति दया दिखाने' एवं 'उद्धतोंका विनाश करने' का—बड़ा भीषण परिणाम हुआ। जीते गये देशोंके निवासियोंकी धनदौलत और माल-असबाब लूट लिया गया, लोगोंकी आज़ादी छीन ली गयी और विजेताओंके सामने सिर झुका देनेवाले भी निर्दयतापूर्वक गुलाम बना डाले गये। जिन लोगोंने उनका आधिपत्य मान लेनेसे इनकार किया, उनका कत्ले आम कर दिया गया और नगरके नगर जला डाले गये, उदाहरणार्थ कारिन्थ तथा ग्रीस और स्पेनके वे नगर भस्मसात् कर दिये गये, जिन्होंने इन अत्याचारी विजेताओंके विरुद्ध बग़ावतकी आवाज़ उठायी थी।

इससे स्पष्ट है कि रोमकी यह विजय-नीति भी एक विशिष्ट वर्गके लिए ही लाभदायक थी। विजित देशोंकी सबसे अच्छी ज़मीन, भूतपूर्व शासकोंकी बढ़ियासे बढ़िया जायदाद और बहुमूल्य खानें छीनकर सेनापतियों, कुलीन सभाके सदस्यों तथा विविध पदाधिकारियोंको दे दी जाती थीं। विजित राज्योंकी सुन्दर स्त्रियाँ तथा सभी अच्छे अच्छे स्वस्थ व्यक्ति—कारीगर, चित्रकार, संगीतज्ञ इत्यादि—पकड़ कर गुलाम बना लिये जाते थे। इस प्रकार गुलाम बनाये गये व्यक्तियोंको रोमके नागरिकोंकी सेवा करने तथा उनके आराम एवं मनोरंजनका प्रबन्ध करते रहनेमें अपना जीवन बिताना पड़ता था।

यद्यपि यह सत्य है कि आसपासके देशोंको जबरन जीतकर अपने अधीन करनेकी रोम साम्राज्यकी नीति एक तरहसे डकैतीकी नीति ही थी किन्तु केवल इसी कारण हम उसे 'साम्राज्यवाद' की नीति नहीं कह सकते। हिंसा और 'डकैती', दोनों साम्राज्यवादके आवश्यक अंग हैं, किन्तु केवल इन दोनों-

के संयोगका नाम ही साम्राज्यवाद नहीं है। साम्राज्यवाद तो वस्तुतः वह निश्चित आर्थिक अवस्था है जो पूँजीवादके चरम विकासके समय उत्पन्न होती है।

प्राचीन रोमका आर्थिक ढाँचा आधुनिक राष्ट्रोंके आर्थिक संघटनसे बिलकुल भिन्न था। प्राचीन रोम-निवासियोंके आर्थिक जीवनकी यह विशेषता थी कि वे स्वयं कोई वस्तु उत्पन्न नहीं करते थे और न कोई माल बाहर भेजते थे। जीते हुए देशोंसे जो चीज़ें आती थीं, उन्हींसे उनका काम चलता था। प्रत्येक विजित देशको कर देना पड़ता था और प्रति वर्ष एक निर्दिष्ट मात्रामें गेहूं तथा आवश्यक पशु, चमड़े इत्यादि चीज़ें रोमको भेजनी पड़ती थीं। रोममें मजदूरोंका भी अभाव था, अतः वहाँवालोंको अन्य देशोंसे गुलाम भी बुलाने पड़ते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि आज कलके पूँजीवादी देशोंके आर्थिक संघटनसे प्राचीन रोमका आर्थिक संघटन किसी बातमें मिलता जुलता न था। अतः उसकी नीतिको और आधुनिक साम्राज्यवादी देशोंकी नीतिको एक समझ लेना अवैज्ञानिक एवं अनुचित होगा। वस्तुतः प्राचीन जूडिया, प्राचीन ग्रीस अथवा प्राचीन रोमकी परराष्ट्रनीति और आधुनिक देशोंकी परराष्ट्रनीतिमें कोई समानता नहीं, अस्तु।

'साम्राज्यवाद' का अर्थ अधिक स्पष्ट करनेके लिए यह आवश्यक है कि 'राष्ट्रीय' युद्धों और 'साम्राज्यवादी' युद्धोंका अन्तर समझ लिया जाय। राष्ट्रीय युद्ध पूँजीवादके विकासकी प्रथमावस्थाके सूचक थे। उनका उद्देश्य बड़े बड़े राष्ट्रीय राज्यों-का निर्माण करना था, जिनमें उत्पत्तिके साधनोंके बढ़ाये जा सकनेके लिए काफी स्थान हो और पूँजीवादके अधिकाधिक

विकासकी गुंजाइश हो। सन् १८४८ से १८७१ तक यूरोपमें जो युद्ध हुए थे, वे राष्ट्रीय युद्ध ही थे, जिनके परिणाम स्वरूप इटली, हंगरी, और जर्मनीके प्रबल राष्ट्रोंका निर्माण हुआ। किन्तु इसके विपरीत सन् १९१४-१९१८ में जो महायुद्ध हुआ था, वह शुद्ध साम्राज्यवादात्मक युद्ध था। यह उन प्रथम श्रेणीके राष्ट्रोंके बीच हुआ था जो अपने अपने देशकी सीमाके बाहर संसारव्यापी साम्राज्यकी स्थापना करना चाहते थे। दोनों तरहके युद्धोंका अन्तर स्पष्ट करनेके लिए जर्मनीका उदाहरण देना काफी होगा।

यदि हम प्रिंस बिसमार्कके समय जर्मनीकी जो परराष्ट्रनीति थी, उसके साथ बीसवीं शताब्दीके जर्मनीकी परराष्ट्रनीतिकी तुलना करें, जिसका अनुसरण वह गत महायुद्धके समय कर रहा था, तो हम देखेंगे कि उक्त दोनों समयकी नीतिमें कितना भारी अन्तर है। बिसमार्क १९वीं शताब्दीके जर्मनीकी 'लुटेरी' नीतिका सबसे बड़ा और सबसे विचक्षण प्रतिनिधि था। वह अपने विचारोंका बड़ा पक्का था। अपने उद्देश्यकी पूर्त्तिके लिए वह किसी भी उपायका अवलम्बन लेना अनुचित नहीं समझता था। एक बार एक फ्रांसीसी राजदूतके साथ बेलजियम तथा इटलीके सम्बन्धमें बातचीत करते समय यह तै हुआ कि फ्रांस और जर्मनी दोनोंके लिए बेलजियमको आपसमें बाँट लेना और इटलीके भी एक एक टुकड़ेपर कब्जा कर लेना आवश्यक है। बिसमार्कने स्वयं ही सारा मसौदा तैयार किया और उसकी शर्तें लिखवायीं। फिर उसपर उसने फ्रांसीसी प्रतिनिधिके हस्ताक्षर करवाये और बिना अपने हस्ताक्षर किये उसे बेलजियम तथा इटलीके पास भेज दिया! इसी तरह

आवश्यकता पड़ने पर जाली पत्र तैयार कर लेनेमें उसे कोई हिचक नहीं होती थी। सन् १८७०-७१ में फ्रांस और प्रशाके बीच जो युद्ध छिड़ गया था, उसका तात्कालिक कारण एम्ज़-का वह तार था जिसकी इबारत बिस्मार्कने स्वयं अपने मनसे गढ़ ली थी। सारांश यह कि जर्मनीका यह प्रधान मंत्री अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिए उचित अनुचित, किसी भी उपायका सहारा लेनेसे चूकनेवाला न था। फिर भी, उसके उत्तराधिकारियोंकी तुलनामें उसकी नीति बहुत कुछ बुद्धिसंगत एवं अपेक्षाकृत सौम्य ही थी, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे।

सन् १८५६ में प्रशाकी सेनाने कूनीग्रेट्ज़की लड़ाईमें आस्ट्रियाको परास्त कर दिया। आस्ट्रियाकी सरकारने प्रशाकी सरकारसे सन्धिका प्रस्ताव किया और क्षतिपूर्त्तिके निमित्त कुछ हरजाना देनेकी इच्छा भी प्रकट की। राजाके सभापतित्वमें एकत्र हुए प्रशाके सभी सैनिक नेताओंने आस्ट्रियाकी शर्तें अस्वीकृत कर दीं और इस बातकी ओर ध्यान दिलाते हुए कि हमारी सेना आस्ट्रियाकी राजधानी विएनाके बिलकुल पास पहुँच चुकी है, यह आग्रह किया कि आस्ट्रियासे एक बड़ा भूभाग जर्मनीको समर्पित करनेके लिए अवश्य कहना चाहिये। बिसमार्कने कहा कि एक पराजित देशसे बहुत ज़्यादा ज़मीन छीन लेना समझदारीकी बात नहीं है, क्योंकि ऐसा करनेसे वह हमेशाके लिए जर्मनीका शत्रु बन जायगा। "हमने उसे परास्त कर ही दिया है और अब हमें उससे उतना ही लेना चाहिये, जितनेकी हमें विशेष आवश्यकता हो। यदि हम इस नीतिका अनुसरण करेंगे, तो पाँच ही छः वर्षमें आस्ट्रिया प्रशाका मित्र बन जायगा।"

प्रशाके सेनानायकोंने बिसमार्कके कथनपर ध्यान नहीं दिया और राजाने भी उनकी बातमें आकर आस्ट्रिया द्वारा पेश की गयी शर्तें अस्वीकृत कर दीं। यह देखकर बिसमार्क वहाँ खड़ा नहीं रह सका। वह बगलवाले कमरेमें चला गया और फूट फूटकर रोने लगा। इस घटनाका परिषद्के सदस्योंपर बड़ा प्रभाव पड़ा और उसकी बैठक तुरन्त स्थगित हो गयी।

दूसरे दिन बिसमार्कने एक ब्यौरेवार रिपोर्ट राजाके पास भेजी और प्रार्थना की कि "यदि आप प्रशाका भविष्य नहीं बिगाड़ना चाहते हों, तो आस्ट्रियाके साथ रियायत कीजिए और वह जो कुछ देनेको तैयार हो, उससे सन्तोष प्रकट कीजिए।" राजाके मनमें बात बैठ गयी और उसने ऐसा करना स्वीकार कर लिया। नतीजा यह हुआ कि कुछ ही वर्षोंके भीतर आस्ट्रियाने प्रशासे मैत्री-सम्बन्ध स्थापित कर लिया। बादमें इटलीके भी आ मिलनेसे जर्मनी, आस्ट्रिया तथा इटलीका त्रिगुट स्थापित हो गया, जो गत महायुद्धके शुरूतक बराबर क़ायम रहा।

ये थे सन् १८६६ में बिसमार्कके विचार। गत महासमरकी समाप्तिके पहले जब रूसने जर्मनीसे सन्धि करनेका प्रस्ताव किया था और जब दोनों देशोंके प्रतिनिधि ब्रेस्टमें इकट्ठे हुए थे, तब यदि इस नीतिपर ज़ोर दिया गया होता और यदि जर्मनीको विना किसी भूभागकी प्राप्तिके सन्धि करनेके लिए लाचार होना पड़ता, तो बिसमार्कके अनुयायी सम्भवतः मूर्च्छित होकर गिर पड़ते।

इस महान् परिवर्त्तनका कारण स्पष्ट ही है। यद्यपि साधारणतया बिसमार्कपर यह लाञ्छन लगाया जाता है कि वह

'लुटेरी नीति' का एक प्रमुख अनुयायी था, फिर भी उसके उत्तराधिकारियोंकी अपेक्षा उसकी नीति बहुत नरम थी। उसके समयमें जो युद्ध हुए थे वे सब राष्ट्रीय युद्ध ही थे, किंतु सन् १९१४-१८ का युद्ध साम्राज्यवादके भावोंकी प्रेरणासे हुआ था। बिसमार्कका उद्देश्य जर्मनीके भिन्न भिन्न भागोंको बटोर कर एकताके सुदृढ़ सूत्रमें बाँधना भर था। वह इससे आगे नहीं बढ़ना चाहता था। वह जर्मनीकी औपनिवेशिक नीतिका कट्टर विरोधी था। उसने जिन लड़ाइयोंका सञ्चालन किया था, उनके उद्देश्यमें हिंसा और दूसरोंकी भूमि हड़प लेनेका भाव तो अवश्य ही मौजूद था, किन्तु अभी साम्राज्य-वादका भाव उसमें नहीं घुसने पाया था। सारे संसारपर जर्मनीका आधिपत्य स्थापित करनेका विचार उस समय बिस-मार्कके मनमें उठा ही नहीं था। उसका तो ख्याल था कि यदि यूरोपीय महाद्वीपमें एक निश्चित परिधिके भीतर ही जर्मनीको अपनी सीमा बढ़ानेका मौक़ा मिल जाय, तो इतना उसके लिए काफी है। आफ्रिका और एशियाकी बात तो दूर रही, उसने कभी यूरोपके बालकन प्रायद्वीप तकके पास जर्मनीकी सत्ता स्थापित करनेका विचार नहीं किया।

जर्मनीमें उस समय पूँजीवादके विकासका आरम्भ ही हो रहा था। उस समय जो नये नये कारखाने स्थापित हो रहे थे और उद्योग-व्यवसायोंकी उन्नति की जा रही थी, उनके लिए सन् १८७१ के नवसंघटित जर्मनीमें काफी बड़ा क्षेत्र था। इसी-से आफ्रिका या एशियामें उपनिवेश स्थापित करना उसके लिए अनावश्यक था। बिसमार्क जो एक जबर्दस्त और हठी व्यक्ति था और जो बड़ा भारी राजनीतिक 'डाकू' समझा जाता था,

केवल इतना ही चाहता था कि जर्मनी यूरोपमें एक सुसंघटित शक्तिशाली राष्ट्र बन जाय। किन्तु ज्यों ज्यों वहाँ उद्योग-व्यवसायोंकी उन्नति होती गयी और कोयले तथा लोहेकी उत्पत्ति बढ़ती गयी, त्यों त्यों यह स्थिति भी बदलती गयी। जर्मनी शीघ्र ही प्रथम श्रेणीका औद्योगिक राष्ट्र बन गया और इस क्षेत्रमें अमेरिका तथा ब्रिटेन तकसे टक्कर लेने लगा। जर्मनी-के कारखानोंमें तैयार होनेवाले मालकी तादाद बहुत बढ़ गयी और अब वह जर्मनीके बाहर रूस, आस्ट्रिया, बालकनराज्य, फ्रांस, बेलजियम, इटली, स्पेन इत्यादिमें भी बहुतायतसे खपने लगा। किन्तु यूरोपीय देशोंका यह विस्तृत क्षेत्र भी जर्मनीके लिए बहुत संकुचित प्रतीत होने लगा। अब वह लघुएशिया एवं मध्य आफ्रिका, पूर्वी आफ्रिका इत्यादिकी ओर भी हाथ बढ़ानेकी चेष्टा करने लगा।

इस प्रकार जब जर्मनीके उद्योग-व्यवसायोंने इतनी उन्नति कर ली कि वह फ्रांस, अमेरिका, इंग्लैण्ड, रूस इत्यादिको मात करने लगा और जब जर्मनी या यूरोपके बाज़ार भी जर्मन कारखानोंमें तैयार की गयी वस्तुओंकी खपतके लिए अपर्याप्त प्रमाणित हुए, तब आर्थिक जीवनकी इन नूतन प्रवृत्तियोंके फल स्वरूप जर्मनीकी परराष्ट्रनीति भी बदल गयी। वहांके रंगमञ्च-पर नये नये राजनीतिज्ञ दृष्टिगोचर होने लगे जो सारे संसार-पर जर्मनीका आधिपत्य स्थापित करनेकी आवश्यकतापर ज़ोर देते थे। इस उद्देश्यको सामने रखकर ये लोग पागलपनसे भरी हुई ऐसी ऐसी योजनाएँ बनाने लगे और ऐसे ऐसे मूर्खता-पूर्ण कार्य करने लगे, जिनसे केवल एक ही बात प्रकट होती थी; वह यह कि पूँजीवाद अब एक ग़लत रास्तेकी तरफ़

भटकता जा रहा है, अपने परिमित क्षेत्रके भीतर जितनी उन्नति वह कर सकता था, उतनी कर चुका; अतः अब यदि जर्मनी अपने उद्योग-व्यवसायोंकी उन्नति करना चाहता हो, तो उसे यूरोप ही नहीं, एशिया और आफ्रिकाके भी अनेक स्थानोंपर अपना प्रभुत्व स्थापित करना पड़ेगा। यही परिस्थिति साम्राज्यवादकी प्रगतिका कारण है।

गत महा समरकी समाप्तिके कुछ पहले सन् १९१८ में जब रूसके प्रतिनिधि सुलहकी बातचीत करनेके लिए ब्रेस्ट लीटोव्स्क नामक स्थानमें जर्मन प्रतिनिधियोंसे मिले, तब वे इनकी बढ़ी हुई आकांक्षाओंको देखकर दंग रह गये। जर्मन प्रतिनिधियोंकी बातचीत और उनके व्यवहारसे रूसवालोंको यह समझनेमें देर नहीं लगी कि ये लोग सारे संसारपर जर्मनीका आधिपत्य स्थापित किये बिना और प्रत्येक देशको जर्मनीका उपनिवेश बनाये बिना सन्तुष्ट नहीं हो सकते। उन्होंने देख लिया कि अब जर्मनीके राष्ट्रसूत्रधार बिसमार्कके सिद्धान्तोंके क़ायल नहीं रह गये हैं, अब वे अखिल भूमण्डलपर जर्मनीका प्रभुत्व स्थापित करनेके लिए उतावले हो रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इन लोगोंका यह पागलपन ही जर्मनीकी पराजयका मुख्य कारण हुआ। यदि ये लोग ज़रासी समझदारीसे काम लेते और अपनी महत्त्वाकांक्षाओंको क़ाबूमें रख सकते, तो सम्भव है जर्मनीको इस तरह पराजित न होना पड़ता और न उसकी ऐसी दुर्दशा होती। रूसके साथ सन्धिकी बातचीत करते समय जर्मनोंने जिस मनोवृत्तिका परिचय दिया, रूसको सर्वथा निचोड़ डालने और अपंग बना देनेके उद्देश्यसे जैसी सख्त शर्तें रखीं, उनके कारण उसके शत्रुओंकी

क्रोधाग्नि और भी भभक उठी। उनका यह औद्धत्य देखकर फ्रांस, ब्रिटेन इत्यादिने ख्याल किया कि जर्मनीसे सम्मानपूर्ण समझौतेकी अथवा सन्धिका प्रस्ताव करने पर किञ्चिन्मात्र भी रियायतकी आशा करना व्यर्थ है। इसीसे उन्होंने लाखों नये सैनिकोंकी भरती जारी रखी, दुगुने उत्साहके साथ युद्ध करनेका प्रयत्न किया और अन्तमें उसे पूर्णतया पराजित करके ही छोड़ा।

यदि जर्मनी चाहता तो रूसके साथ ऐसी सन्धि कर सकता था, जिसमें उसके किसी भूभागपर अधिकार करने अथवा हरजानेके रूपमें एक बहुत बड़ी रक़म देनेकी शर्त न रखी गयी होती। यदि इतनेसे उसे सन्तोष न होता तो हरजानेके तौरपर वह एक माक़ूल रक़म भी माँग सकता था, किन्तु उसने ऐसा नहीं किया। इसका कारण और कुछ नहीं, जर्मनीकी नयी परिस्थिति ही है। पूँजीवादकी पराकाष्ठापर पहुंच जानेके बाद उसके लिए सिवाय इसके और कोई चारा नहीं रह गया था कि अब वह अन्य अन्य देशोंपर भी प्रभुत्व स्थापित करनेकी चेष्टा करता। इसीसे उसने रूसको अत्यन्त अपमानजनक शर्तें स्वीकार करनेके लिए विवश किया।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, बिसमार्ककी नीति इससे बिलकुल भिन्न थी। वह जिस समय जर्मनीका कर्णधार था, उस समय जर्मनीमें पूँजीवादका जन्म ही हुआ था। औद्योगिक क्षेत्रमें उसने अभी प्रवेश ही किया था। बिसमार्कका उद्देश्य केवल इतना ही था कि जर्मनी एक प्रबल राष्ट्र बन जाय, यूरोपके देशोंमें वह एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर ले और किसी शत्रुका आक्रमण होने पर अपनी राष्ट्रीय सीमाकी रक्षा

कर सके। सन् १८७१ में जर्मनीकी जो सीमा निर्धारित हो चुकी थी, वह आगे भी ज्योंकी त्यों बनी रहे, बस इतना ही वह चाहता था। इससे आगे बढ़नेकी उसकी मंशा नहीं थी, किन्तु बीसवीं शताब्दीके आरम्भमें जर्मन राजनीतिज्ञोंके विचार बदल गये। वे अब जर्मनीको अन्य भूभागोंपर भी शासन करते हुए देखना चाहते थे। बिसमार्कका लक्ष्य, नूतन परिस्थिति उत्पन्न हो जानेके कारण, उन्हें अत्यन्त संकुचित प्रतीत होने लगा था।

ऊपर हमने जो कुछ लिखा है, उससे स्पष्ट हो गया होगा कि सन् १८६६ और १८७१ के बीचमें जर्मनीको जिन युद्धोंमें भाग लेना पड़ा था, वे सब राष्ट्रीय युद्ध ही थे और उनका सम्बन्ध जर्मनीकी आत्मरक्षा एवं राष्ट्रीय संघटनके प्रश्नसे ही था। इसके विपरीत सन् १९१४ से १९१८ तक जो महासमर यूरोपमें होता रहा, वह बिलकुल दूसरी ही तरहका युद्ध था। उसमें जिन जिन राष्ट्रोंने भाग लिया था उन सबके सिरपर साम्राज्यवादका भूत सवार था। सबका एक ही उद्देश्य था—किसी न किसी तरह अपने राज्यकी सीमा बढ़ाना और उपनिवेशोंकी स्थापना कर अपने यहाँकी वस्तुओंके लिए नये नये बाज़ार प्राप्त करना। साम्राज्यवादके भावोंसे प्रेरित युद्धका मतलब ही यह होता है कि वह एक ऐसा युद्ध है जिसका उद्देश्य सारे संसारपर या उसके एक बड़े भागपर अपना प्रभुत्व स्थापित करना है। अतः थोड़ेमें यह कहा जा सकता है कि साम्राज्यवाद किसी राष्ट्रविशेषकी उस नीतिका नाम है जो पूँजीवादके चरम विकासके परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है तथा जिससे प्रेरित होकर वह अपने राज्यकी सीमाके

बाहर भी अपना प्रभाव फैलाना चाहता है और केवल एक महाद्वीपपर ही नहीं, सारे संसारपर अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहता है। तात्पर्य यह कि प्राचीन जूडिया, ग्रीस अथवा रोमकी विजय-नीतिमें हिंसा और डकैतीके लक्षण विद्यमान होते हुए भी उसे हम साम्राज्यवाद नहीं कह सकते। उनके आर्थिक ढाँचे और वर्त्तमान साम्राज्यवादी राष्ट्रोंके आर्थिक संघटनमें जो अन्तर है, वही इसका मूल कारण है।

तीसरा अध्याय

कॉट्स्कीका मत

अब हम साम्राज्यवादके सम्बन्धमें कार्ल मार्क्सके अनुयायियोंका क्या मत है, इसपर विचार करेंगे। मार्क्सके सिद्धान्तोंके आधारपर साम्राज्यवादकी विवेचना करनेवाले लेखकोंमेंसे ये तीन मुख्य हैं—कॉट्स्की, हिलफरडिंग और लेनिन। इस अध्यायमें हम केवल कॉट्स्कीके मतका वर्णन करेंगे।

कॉटस्कीके कथनानुसार "साम्राज्यवाद औद्योगिक पूँजीवादकी अत्यधिक उन्नतिका परिणाम है। औद्योगिक पूँजीवादका अनुसरण करनेवाला प्रत्येक राष्ट्र अधिकाधिक संख्यामें कृषिप्रधान प्रान्तोंपर कब्जा करना चाहता है और उन्हें अपने राज्यमें मिला लेनेका प्रयत्न करता है। उसके इस प्रयत्नका नाम ही 'साम्राज्यवाद' है।"

प्रत्येक औद्योगिक राष्ट्र कई चीजें—कपडे, चीनी, यंत्रादि—

इतनी अधिक मात्रामें तैयार करता है, जितनीमें वे उसकी सीमाके भीतर नहीं खप सकतीं। इनको खपानेके लिए उसे कृषिप्रधान देशोंपर प्रभुत्व स्थापित करनेकी चेष्टा करनी पड़ती है अर्थात् उद्योगव्यवसायोंकी विशेष उन्नतिके परिणाम स्वरूप आवश्यकतासे अधिक जो राशि राशि माल तैयार किया जाता है, उसके लिए उपयुक्त बाज़ार प्राप्त करनेके प्रयत्नमें ही उसे साम्राज्यवादका अवलम्बन करना पड़ता है।

अब एक औद्योगिक देश और कृषि-प्रधान देशमें क्या अन्तर है, यह समझ लेना चाहिये। औद्योगिक देश वे हैं जो अपने यहांके कारखानोंमें आवश्यकतासे बहुत अधिक चीज़ें तैयार करते हैं। इसके विपरीत कृषिप्रधान देश वे हैं जिनके यहाँ कारखानों द्वारा तैयार की गयी वस्तुओंका प्रायः अभाव रहता है, यद्यपि अन्न तथा कई तरहका कच्चा माल बहुतायत से पैदा होता है। इनको जिन यन्त्रों, औज़ारों, रेलकी पटरियों, वस्त्रों इत्यादिकी आवश्यकता होती है, उन्हें ये व्यावसायिक देशोंसे मँगाते हैं। सैनिक संघटनकी दृष्टिसे कृषि-प्रधान देश प्रायः उद्योगप्रधान देशोंसे कुछ कमज़ोर ही होते हैं, क्योंकि न तो वे लड़ाईके औज़ार या अन्य सामग्री तैयार कर सकते हैं और न वहाँ रेलोंका इतना काफी प्रचार होता है कि आक्रमण होने पर या सैनिक दबाव डाले जाने पर किसी औद्योगिक राष्ट्रका सामना कर सकें। कलाओंके ज्ञानमें भी वे पिछड़े रहते हैं। इसके सिवा व्यवसायप्रधान देशोंकी अपेक्षा उनमें सामान्य शिक्षाकी भी कमी रहती है। यही कारण है कि ऐसे देशोंका आर्थिक शोषण करनेमें छोटे छोटे पूंजीवादी राष्ट्रोंको भी विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता।

पोर्तगाल, बेलजियम तथा हालैण्डके उदाहरणसे यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है। इतने छोटे देश होते हुए भी ये आफ्रिका तथा एशियाके बड़े बड़े भूभागोंपर शासन करते हैं। फ्रांस और इग्लैंडकी तो बात ही दूसरी है। वे इनकी अपेक्षा बहुत बड़े औद्योगिक राष्ट्र हैं। उनकी सैनिक शक्ति बहुत बढ़ी हुई है। बड़ेसे बड़े साम्राज्यपर भी शासन करना उनके लिए कोई कठिन बात नहीं है। इंग्लैण्डकी जन-संख्या चार करोड़ ही है पर वह भारत जैसे बत्तीस करोड़की आबादीवाले विशाल कृषि-प्रधान देशपर शासन कर रहा है। कोई दो लाख गोरे तथा देशी सैनिकोंकी सहायतासे ही वह उसे अपने क़ब्ज़ेमें रखे हुए है।

इंग्लैण्ड प्रथम श्रेणीका औद्योगिक राष्ट्र है। वहाँ रेलोंका ऐसा जाल बिछा हुआ है और उसके पास इतना बड़ा जहाज़ी बेड़ा है कि वह कमसे कम समयमें अपने सैनिकोंको समुद्रके इस पारसे उस पार पहुंचा सकता है। गोला-बारूद तथा सैनिक आवश्यकताके उपयुक्त मोटर गाड़ियाँ या रेलके डब्बे तैयार करनेवाले अनेक कारखाने वहाँ हैं। इसी प्रकार गोता-ख़ोर जहाज़ तथा बड़े बड़े रणपोत तैयार करनेका प्रबन्ध भी वहाँ है। उसकी तुलनामें भारत कैसे ठहर सकता है? आबादी तथा क्षेत्रफलमें उससे बहुत बड़ा होने पर भी वह इन साधनोंकी दृष्टिसे बहुत पिछड़ा हुआ है।

भारतपर ही नहीं, संसारके अन्य अन्य भागोंपर भी ब्रिटेनका प्रभुत्व स्थापित है, जिनकी संयुक्त आबादी ५० करोड़के लगभग है। इसी तरह फ्रांस भी अलजीयर्स, ट्यूनिस, मोरक्को, इण्डोचाइना इत्यादिपर शासन करता है। उसने

जो आर्थिक उन्नति कर ली है, उसके कारण वह एक बड़ी सेना रखनेमें समर्थ है, किन्तु उसके अधीन जो कृषिप्रधान देश हैं वे इस सम्बन्धमें उसका मुक़ाबला करनेमें असमर्थ हैं। यही हाल चीनका है। यद्यपि वहाँकी आबादी चालीस करोड़से भी ज़्यादा है, फिर भी वह अभीतक ऐसी सुसंघटित सेना रखनेमें असमर्थ रहा है जो उसकी राष्ट्रीय स्वतंत्रताकी रक्षा कर सकती। तात्पर्य यह कि औद्योगिक देशोंकी तुलनामें कृषिप्रधान देशोंकी सैनिक शक्ति बहुत कमज़ोर होती है।

रूस एक बहुत बड़ा देश है और वहाँ हमेशासे काफी बड़ी सेना रहती आयी है, फिर भी अक्टूबर १९१७ तक अनेक लड़ाइयोंमें पुनः पुनः उसकी शक्तिहीनता दृष्टिगोचर हुई। इसका कारण और कुछ नहीं, केवल इतना ही था कि वह एक औद्योगिक देश न होकर कृषिप्रधान देश ही था। चीनकी हालत तो उससे भी बदतर थी और अबतक है। जब उन्नीसवी सदीके चौथे चरणमें इंग्लैण्ड तथा फ्रॉसने चीनके विरुद्ध लड़ाईकी घोषणा की, तब उन्हें चीनकी राजधानी पेकिंगपर अधिकार कर लेनेके लिए कुल ४० हजार सैनिकोंकी ही आवश्यकता पड़ी थी। बाक्सरके विद्रोहके समय भी क़रीब क़रीब ऐसा ही हुआ। विद्रोहका दमन करनेके लिए यूरोपीय शक्तियोंको केवल ५० हजार सैनिक ही युद्धार्थ प्रस्तुत करने पड़े थे। इसी प्रकार मिस्र, भारत, इण्डोचाइना इत्यादि कृषि-प्रधान देशोंपर अधिकार कर लेनेमें ब्रिटेन, फ्रांस आदि यूरोपीय देशोंको कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कॉट्स्कीके मतानुसार साम्राज्यवादका प्रधान लक्षण कृषि-प्रधान एवं आर्थिक दृष्टिसे

पिछड़े हुए देशोंपर कब्ज़ा करनेकी वह प्रवृत्ति है जो प्रायः औद्योगिक देशोंमें पायी जाती है। जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, यह मत अधूरा और सदोष है।

गत महासमरके ठीक पहलेकी स्थितिके सम्बन्धमें यह किसी तरह लागू हो सकता है, क्योंकि उस समयके राज्योंकी पर-राष्ट्रनीतिका प्रधान उद्देश्य, जहाँतक बन पड़े वहाँतक, उपनिवेशोंकी स्थापना करना था। पिछली शताब्दीके अन्तिम दस बीस वर्षोंमें तथा उसके बाद भी कुछ समय तक एशिया और आफ्रिकाके पिछड़े हुए भूभागोंपर कब्ज़ा करनेकी दौड़में प्रायः सभी औद्योगिक राज्योंने एक दूसरेसे आगे बढ़ जानेकी कोशिश की। कभी कभी इन भूभागोंके निमित्त दो या अधिक राज्योंमें मुठभेड़ तक हो गयी, जिसका परिणाम यह हुआ कि उनके कई टुकड़े हो गये और वे अलग अलग देशोंके कब्ज़ेमें चले गये। उपनिवेश स्थापित करनेकी इस प्रतिस्पर्द्धाके ज़मानेमें आफ्रिकाके कांगो, नाइगेरिया, सूडान, ट्यूनिस, तथा मडागास्कर इत्यादि भूभागोंपर यूरोपीय राज्योंका आधिपत्य हो गया और ऐसा प्रतीत होने लगा मानो किसी भी उन्नतिशील राज्यके अस्तित्व या उसकी परराष्ट्र-नीतिका प्रधान उद्देश्य कृषिप्रधान एवं पिछड़े हुए देशोंपर कब्ज़ा करना ही हो। किन्तु वास्तवमें बात ऐसी नहीं है। जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे, साम्राज्यवादको औद्योगिक पूँजीवादकी उन्नतिका नहीं, वरन् आर्थिक पूँजीवादकी उन्नति-का परिणाम समझना चाहिये। हम देखते हैं कि सन् १८८० के बाद जैसे जैसे फ्रांसमें औद्योगिक पूँजीवादकी शक्ति कम होने लगी और आर्थिक पूँजीवाद बढ़ने लगा, वैसे वैसे नूतन

भूभागोंको साम्राज्यमें मिला लेनेकी नीति भी वहाँ ज़ोर पकड़ती गयी। इससे स्पष्ट है कि आर्थिक पूँजीवादके चरम-विकासके साथ साम्राज्यवादका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

साम्राज्यवादी औद्योगिक राज्योंका उद्देश्य केवल उन भूभागोंको अपने अधीन कर लेना नहीं है, जहाँके निवासियों-का प्रधान उद्योग खेतीबारी ही है, बरन् समीपस्थ राज्यके ऐसे प्रान्तोंपर भी कब्ज़ा कर लेना उनका लक्ष्य है, जो उद्योग-व्यवसायकी दृष्टिसे बहुत आगे बढ़ गये हों। यदि यह कहा जाय कि राज्योंमें प्रायः कृषिप्रधान देशोंपर कब्ज़ा करनेकी प्रवृत्ति पहले देख पड़ती है, तो इसका कारण और कुछ नहीं सिर्फ इतना ही है कि कृषिप्रधान देशोंपर कब्जा करनेमें अपेक्षा-कृत कम कठिनाईका सामना करना पड़ता है, क्योंकि उनका सैनिक संघटन उतना सुदृढ़ नहीं होता जितना औद्योगिक देशोंका होता है।

पिछले महासमरके सम्बन्धमें थोड़ासा विचार करनेसे ही हमारे कथनकी सत्यता प्रमाणित हो जायगी। इस युद्धमें शरीक होनेवाले यूरोपीय राष्ट्रोंका मुख्य उद्देश्य पिछड़े हुए भूभागोंपर नहीं, बरन् आसपासके औद्योगिक प्रान्तोंपर ही अधिकार करना था। जर्मनी चाहता था कि रूस, बेलजियम, तथा फ्रांसके औद्योगिक भागोंपर उसका प्रभुत्व स्थापित हो जाय और फ्रांसकी मंशा थी कि जर्मनीके दो प्रान्त अर्थात् अलसेस-लोरेन तथा सार नदीका प्रदेश उसे मिल जायँ। इसी प्रकार रूसवालोंके हृदयमें भी गुप्त रूपसे यह महत्त्वाकांक्षा विद्यमान थी कि आस्ट्रिया हंगरीके गेलीशिया तथा सिली-शिया प्रान्त और पोलैण्डका वह भाग, जो जर्मनीके अधीन था,

रूसकी अधीनतामें आ जायँ। इसके सिवा वह कुस्तुन्तुनिया-पर भी कब्ज़ा करना चाहता था। युद्धमें भाग लेनेवाले राज्यों-की इन बड़ी बड़ी अभिलाषाओंके कारण ही यूरोपका उक्त महासमर एक दो वर्षके भीतर समाप्त न होकर इतने दिनों तक चलता रहा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साम्राज्यवादके सम्बन्धमें कॉट्स्कीने जिस मतका प्रतिपादन किया है, वह गत महायुद्ध-की घटनाओंसे अधूरा ही प्रमाणित होता है। फिर रूसको जर्मनीके साथ जो सन्धि करनी पड़ी थी, उससे और बादमें ब्रिटेन इत्यादिके साथ वर्सैल्ज़में जर्मनीकी जो सन्धि हुई, उससे भी स्पष्ट हो जाता है कि कॉट्स्कीका सिद्धान्त त्रुटिपूर्ण है।

ब्रेस्टमें जर्मनीके जो प्रतिनिधि सन्धिकी बातचीत करने के लिए इकट्ठे हुए थे, उनके व्यवहारसे यह साफ साफ जाहिर होता था कि जर्मनी रूसके उन औद्योगिक भूभागोंको हड़प लेना चाहता था, जो उसकी सीमा के समीप थे। औद्योगिक दृष्टिसे पोलैण्डका प्रान्त रूसके लिए विशेष महत्त्वका था। जर्मनी चाहता था कि यह प्रान्त उसके अधीन हो जाय। बाल्टिक समुद्रके किनारेवाले प्रान्तोंपर भी उसकी नज़र थी। रूसके प्रायः सभी मुख्य मुख्य बन्दरस्थान इसी भूभागमें हैं, अतः इसपर अन्य किसी देशका प्रभुत्व स्थापित हो जानेसे रूस-का आयात-निर्यात-व्यापार चौपट हो जानेकी सम्भावना थी। किन्तु जर्मनीको इसकी क्या चिन्ता? वह तो अपना स्वार्थ-साधन करना चाहता था। इसी तरह पश्चिममें भी वह बेल-जियम और फ्रांसके समुन्नत व्यावसायिक क्षेत्रोंपर कब्ज़ा करना चाहता था।

ब्रेस्टकी सन्धिके समय जर्मनीने रूसके प्रति जैसा व्यवहार किया था, वैसा ही वर्सैल्ज़की सन्धिके समय ब्रिटेन तथा फ्रांस ने जर्मनीके साथ किया। ब्रिटेनका उद्देश्य जर्मनीके उपनिवेशों-पर और फ्रांसका उद्देश्य अलसेस-लॉरेनपर कब्ज़ा कर लेना था। अलसेस-लारेन जर्मनीका वह भाग है जहां कोयलेकी बड़ी बड़ी खानें हैं और जो औद्योगिक दृष्टिसे विशेष महत्त्व-पूर्ण है।

पिछले महायुद्धके समय अनेक फ्रांसीसी तथा जर्मन साम्राज्यवादियोंने बारम्बार इस बातपर ज़ोर दिया था कि विज-यके परिणामस्वरूप एशिया या आफ्रिकामें उपनिवेश स्थापित करनेकी अपेक्षा यूरोपमें ही राज्यकी सीमा बढ़ाना अधिक आवश्यक है। इन सब बातोंसे स्पष्ट है कि साम्राज्यवादका उद्देश्य केवल कृषिप्रधान देशोंपर ही नहीं, बरन् समीपवर्त्ती राज्यके औद्योगिक भूभागोंपर भी प्रभुत्व स्थापित करना है। इसीसे यूरोपीय महायुद्धने इतना भीषण रूप धारण कर लिया था और उसकी समाप्तिमें इतना अधिक समय लग गया।

चौथा अध्याय

हिलफरडिंगका मत

हम पिछले अध्यायमें देख चुके हैं कि कॉट्स्कीके कथना-नुसार 'साम्राज्यवादकी नीति औद्योगिक पूँजीवादकी अत्य-धिक उन्नतिका परिणाम है।' इस मतमें जो एक प्रधान त्रुटि

थी, उसकी ओर भी हम पाठकोंका ध्यान आकर्षित कर चुके हैं। अब हम हिलफरडिंगके मतका उल्लेख करने जा रहे हैं, जिससे प्रभावित होकर बादमें कॉट्स्कीको भी अपने विचारोंमें परिवर्तन करना पड़ा।

हिलफरडिंगका कथन है कि उद्योग-व्यवसायोंमें लगी हुई बैंकोंकी पूँजी (फाइनेन्स कैपिटल) ही साम्राज्यवादकी प्रवर्त्तक है। शुरू शुरूमें बैंकोंका काम बहुत परिमित था। जिस किसी-को व्यवसाय इत्यादिमें लगानेके लिए रुपयेकी ज़रूरत पड़ती थी, उसे बैंक रुपया उधार देता था और उससे एक निश्चित रक़म व्याजके तौरपर वसूल करता था। व्यवसायसे या चीज़ें तैयार करनेके कामसे बैंकोंका कोई सम्बन्ध नहीं था। जो लोग यह चाहते थे कि हमारा रुपया बैंकमें सुरक्षित रूपसे जमा रहे, उनसे बैंक रुपया ले लेता था और उन्हें उसपर कुछ व्याज भी देना स्वीकार कर लेता था। फिर जिसे आवश्यकता होती थी, उसे वह उक्त रुपया कर्ज़के रूपमें कुछ अधिक व्याज लेकर दे देता था। इसी प्रकार जब किसी देशकी सर-कारको रुपयेकी आवश्यकता होती थी या वह अपनी आम-दनीका कुछ अंश सुरक्षित रूपसे कहीं जमा कराना चाहती थी, तो ऐसी अवस्थामें वह भी बैंकका सहारा लेती थी। इस प्रकारका काम करनेसे जब कोई बैंक अपनी प्रामाणिकताके लिए प्रसिद्ध हो जाता था, तब चारों ओरसे आकर रुपया जमा करनेवालोंकी संख्या बड़ी शीघ्रतासे बढ़ने लगती और बैंकके पास रखी गयी पूँजीकी तादाद भी बहुत बढ़ जाती। उदाहरणके लिए रॉथ्स चाइल्डके बैंकको लीजिए। जिस समय फ्रांसने जर्मनीपर आक्रमण किया था और सैक्सनीके राजाको

स्वदेश छोड़कर भागना पड़ा था, उस समय रूसके लिए प्रस्थान करनेके पूर्व वह अपना कुल रुपया-पैसा और बहुमूल्य वस्तुएँ सैक्सनीके रॉथ्सचाइल्ड बैंकमें जमा कर गया था। युद्ध-समाप्तिके बाद जब सैक्सनीका राजवंश पुनः अधिकारूढ़ हुआ, तब बैंकने सैक्सनीके राजाको पहले जमा किया हुआ कुल रुपया मय सूदके लौटा दिया। इस घटनासे राथ्स चाइल्ड बैंककी ख्याति चारो ओर फैल गयी। सब लोग कहने लगे कि यह बैंक बहुत सच्चा और विश्वसनीय है। परिणाम यह हुआ कि धनवान् लोग अपना वह कुल धन, जिसे वे अभीतक अन्यत्र रखा करते थे, लाकर इसी बैंकमें जमा करने लगे। कुछ ही समयके भीतर इस बैंकने काफी अच्छी उन्नति कर ली।

जिन बैंकोंका प्रबन्ध त्रुटिपूर्ण होता अथवा जिनके सञ्चालकोंका व्यवहार झूठा और अप्रमाणिक होता, उनका काम ज़्यादा दिन नहीं चल सकता था। जो रुपया उनके यहाँ जमा किया जाता, उसका ठीक ठीक प्रयोग वे नहीं कर सकते थे। किसी न किसी झमेलेमें पड़कर उन्हें शीघ्र ही अपना टाट उलट देना पड़ता और प्रायः अन्य स्थानको भाग जाना पड़ता था। जो हो, चाहे कोई बैंक ईमानदार होता, चाहे बेईमान, उस समय देशके आर्थिक जीवनसे उसका विशेष सम्बन्ध नहीं रहता था। उस समयके बैंक केवल एक तरहके मध्यस्थका काम करते थे अर्थात् कुछ लोगोंसे रुपया लेकर दूसरोंको कर्ज़ देते थे और उसपर ब्याज लेते थे। किन्तु धीरे धीरे उनका कार्य-क्षेत्र बढ़ने लगा। जैसे जैसे यूरोपीय देशोंमें सर्वसाधारणकी आर्थिक स्थिति सुधरने लगी और बड़े बड़े दूकानदारों या पूँजीपतियोंके सिवा सामान्य कृषकों या श्रमिकोंके पास भी

थोड़ा बहुत रुपया बचने लगा, जिसे वे बैंकोंकी हिफाजतमें रखनेकी इच्छा करने लगे, वैसे वैसे सूदपर रुपया उधार देनेके अतिरिक्त वे उद्योग-व्यवसायके नियंत्रणमें भी भाग लेने लगे।

अब बैंकोंके सञ्चालकोंने देखा कि किसी उद्योग-व्यवसायमें रुपया लगाने और उसका नियंत्रण करनेमें, व्याजपर रुपया देनेकी अपेक्षा, बहुत ज्यादा फायदा होनेकी सम्भावना है। प्रत्येक उद्योग-व्यवसायमें, प्रत्येक कारखानेमें, इतना मुनाफा होता है कि जिसके सामने सूदसे होनेवाली आमदनी कुछ भी नहीं है। अतः रुपया उधार देकर उसपर व्याज लेनेके कामकी अपेक्षा खुद अपने कारखाने चलानेका काम बैंकोंके लिए अधिक लाभजनक है।

गत यूरोपीय युद्धका प्रारम्भ होनेके पहले जर्मनी और फ्रांसमें हजारों मजदूर ऐसे थे, जिनमेंसे प्रत्येकने इस उद्देश्यसे कई हजार मार्क या फ्रैंक बचा रखे थे कि वर्षा इत्यादिके कारण कामपर न जा सकनेकी हालतमें इनकी आवश्यकता पड़ेगी। फ्रांसमें कोई मजदूर या छोटा मोटा दूकानदार भी अपनी बचतका रुपया घरमें नहीं रखता। वह तुरन्त उसे ले जाकर बैंकमें जमा कर देता है। ग़रीबसे ग़रीब आदमी भी सौ दो सौ फ्रैंक बचाकर किसी न किसी कम्पनीके हिस्सोंके कागज़ ख़रीद लेते हैं और आशा करते हैं कि उनका दाम बढ़ जायगा तो हमें थोड़ा बहुत मुनाफा हो सकेगा।

बैंकोंमें लाकर रुपया जमा करनेकी यह प्रवृत्ति ज्यों ज्यों सब तरहके लोगोंमें फैलने लगी, त्यों त्यों उनके पास रखी गयी पूँजीकी तादाद भी बढ़ने लगी। जब बैंकोंने देखा कि जमा की हुई कुल रक़मकी तादाद करोड़ोंपर जा पहुँची है, तब उन्होंने

केवल सूदखोरीसे सन्तुष्ट न होकर आगे पाँव बढ़ाना शुरू किया।

अब बैंकोंके पास जितनी पूँज़ी इकट्ठी होने लगी, उससे नये कारखानोंकी स्थापना ही नहीं, समूचे उद्योगोंके सञ्चालनका काम भी, जैसे हजारों मील लम्बी रेलकी सड़क खोलना या नया नगर बसाना, आसानीसे किया जा सकता था। इसीसे अब बैंकोंके सञ्चालकोंने केवल सूदखोरीतक ही अपने कार्यको सीमित न कर स्वयं माल तैयार कराना और कारखानों या दूकानोंपर अपना नियंत्रण स्थापित करना आरम्भ कर दिया। धीरे धीरे उन्होंने जमा की गयी पूँजीका एक बड़ा भाग चीनीके कारखाने खोलने और रासायनिक वस्तुएँ तथा सैनिक सामग्री तैयार करानेका प्रबन्ध करनेमें लगाना शुरू कर दिया।

बैंकोंकी इस प्रवृत्तिका परिणाम यह हुआ है कि प्रायः प्रत्येक देशके उद्योग-व्यवसायका एक बड़ा भाग उनके अधीन हो गया है। बैंकोंके मालिक ही अब उद्योगोंका सञ्चालन करनेवाले पूँजीपतियोंका स्थान ग्रहण कर रहे हैं। कारखानोंके मालिक मानो उनके प्रतिनिधि या उनके नायब ही रह गये हैं। क्रप, मोरोसव्ह, आर्मस्ट्रांग या अन्य धनिकोंके नामसे इस समय जो कारखाने चल रहे हैं, उनके सम्बन्धमें यह ख़याल करना ठीक नहीं है कि ये सज्जन ही उनके मालिक हैं। वस्तुतः जिन सब लोगोंने इन कारखानोंके हिस्से खरीदे हैं, उनमेंसे ये भी हैं; फ़र्क़ सिर्फ इतना ही है कि औरोंकी अपेक्षा इनके हिस्सोंकी संख्या ज़्यादा है।

जब किसी बैंकके साथ कारखानेके सञ्चालकोंका घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, जब वह कारखानेकी ओरसे बड़ी

बड़ी रकमें अपने हाथमें इकट्ठी करने लगता है और जब नित्य लेन-देनका व्यवहार करते करते उसे कारखानेकी अँदरूनी हालतकी पूर्ण जानकारी हासिल हो जाती है, तब उक्त कारखानेकी नकेल अनायास ही उसके हाथमें आ जाती है। कभी कभी तो बैंकोंका अत्याचार यहाँतक बढ़ जाता है कि उनकी नीतिके कारण कारखानेवालोंको कोई स्वतंत्रता ही नहीं रह जाती, उदाहरणार्थ जर्मनीकी एक सीमेंट कम्पनीने जब अपनी नीतिमें कुछ आवश्यक परिवर्तन करना चाहा, तब उसके इस कार्यसे सहमत न होकर वहांके एक बड़े बैंकने उसे पहलेकी तरह साखपर रुपया उधार देनेसे इनकार कर दिया। तात्पर्य यह है कि जब कारखानेवाले कोई ऐसा काम करने लगते हैं जिससे बैंकके स्वार्थको हानि पहुँचनेकी सम्भावना रहती है, तब वह रुपया उधार देना रोककर या अन्य कठिनाइयाँ उपस्थित कर उन्हें अपनी नीति बदलनेके लिए बाध्य करता है, अतः जिन्हें हम कारखानोंके मालिक समझते हैं, वे केवल नामके लिए उनके मालिक होते हैं, असली मालिक तो कोई बैंक या बैंकोंका समूह होता है।

कोई उद्योग ठीक तरहसे चल रहा है या नहीं, इसका अनुमान आजकल प्रायः उसके हिस्सोंकी विनिमय दरसे किया जा सकता है। अगर किसी औद्योगिक संस्थाके हिस्सोंका भाव गिरने लगे तो समझना चाहिये कि उसे काफी सफलता नहीं मिल रही है और उसका भविष्य अनिश्चित है। कम्पनीके 'हिस्से' का मतलब उस क़ीमती काग़ज़से है जिसके खरीदारको उसमें लगायी गयी पूँजीके अनुसार फी सैकड़ा कुछ न कुछ मुनाफा पानेका हक़ हासिल हो जाता है। पिछले महा-

युद्धके समय क्रप, पुटीलव्ह, और आर्मस्ट्रांगके कारखाने ज़ोरों से चल रहे थे। सैनिक सामग्री तैयार करनेवाले इन कारखानों को अपनी पूँजीपर बहुत अच्छा लाभ होता था, इसीसे इनके हिस्सोंका भाव बहुत चढ़ गया था। आजकल प्रायः सभी कारखानोंकी पूँजी इसी तरहके हिस्सोंमें बाँट दी जाती है जिनमेंसे कुछ ही हिस्से क्रप, मोरोसव्ह इत्यादिके होते हैं, शेष—प्रायः अधिकतर—हिस्से किसी बैंकके ही रहते हैं।

अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि 'उद्योग-व्यवसायमें लगी हुई बैंकोंकी पूँजी' (या आर्थिक पूँजी) से हमारा अभिप्राय उस पूँजीसे है जो बैंकों द्वारा किसी औद्योगिक संस्थाके हिस्से ख़रीदने और उसका नियन्त्रण करनेमें लगायी जाती है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, अब बैंकोंको केवल 'सूदखोरी' से सन्तोष नहीं होता। वे अपने पास जमा की गयी पूँजीसे विभिन्न उद्योगोंका सञ्चालन करना चाहते हैं। वे इस बातका नियंत्रण करना चाहते हैं कि अमुक कारखाना केवल अमुक अमुक वस्तुएँ ही तैयार करे और सिर्फ उतनी ही तादादमें तैयार करे जितनी वे चाहते हों अथवा वह उन्हीं मशीनोंका प्रयोग करे जिनका प्रयोग करनेको उससे कहा जाय। जब किसी बैंकको कोई कारखाना चलाना लाभ-जनक प्रतीत होता है, तब वह उसे चलाता है और जब उसे अपना स्वार्थ उसके बन्द कर देनेमें ही देख पड़ता है, तो वह बिना किसी पशोपेशके उसे बन्द कर देता है, चाहे उसका मालिक कोई भी क्यों न हो। इस प्रकार अब प्रायः प्रत्येक देशके कारखाने एवं औद्योगिक संस्थाएँ किसी न किसी बैंकके अधीन हैं। वस्तुतः बैंक ही उनके असली मालिक हैं।

गत यूरोपीय युद्धके समय जब सैनिक कार्योंके लिए फ्रांसमें रासायनिक वस्तुएँ तैयार करनेवाले कारखाने खोलनेकी आवश्यकता पड़ी, तब किसी एक आदमी या भिन्न भिन्न आदमियोंने इसका जिम्मा अपने ऊपर नहीं लिया। केवल पेरिस-बैंकने यह घोषणा प्रकाशित कर दी कि बैंक समस्त फ्रांसमें रासायनिक वस्तुएं तैयार करनेवाले डेढ़ सौ कारखाने खोलनेका विचार कर यहा है और इसके लिए वह हिस्से निकालनेकी सूचना प्रकाशित कर रहा है। बहुतसे लोगोंने आनन-फानन ये हिस्से खरीद लिये। इस प्रकार पेरिस बैंककी ओरसे सारे देशमें रासायनिक कारखाने स्थापित हो गये। बैंककी तरफसे अनेक इञ्जीनियर तथा अन्य विशेषज्ञ नौकर रखे जाते हैं जो कारखानोंके लिए उपयुक्त स्थान चुनते, इमारतोंका नक्शा तैयार कराते तथा अन्य आवश्यक बातोंकी ओर ध्यान देते हैं। तात्पर्य यह है कि बैंकोंके पास एक तो पर्याप्त पूँजी होती है, दूसरे वे अनेक विशेषज्ञोंके सहयोगसे लाभ उठा सकते हैं, इससे जिस तरह वे चाहते हैं उस तरह उद्योग-व्यवसायका नियंत्रण करते हैं।

अब हम फ्रांसका उदाहरण लेकर यह दिखलानेका प्रयत्न करेंगे कि बैंक किस तरह इन सब कामोंकी व्यवस्था करते हैं। फ्रांसमें कई बड़े बड़े बैंक हैं। इनमें 'क्रेडिट लायोनेइ' नामका भी एक बैंक है। फ्रांसके प्रायः प्रत्येक शहरमें इस बैंककी कोई न कोई शाखा अवश्य है। किसी किसी शहरमें तो दो-तीन, बीस-तीस या सौ शाखाएँ तक हैं। पेरिसके प्रायः प्रत्येक बडे मुहल्लेमें इसकी एक शाखा है। अधिक शाखाएँ खोलनेका अभिप्राय केवल इतना ही है कि जिससे छोटे मोटे दूकान-

दारों तथा श्रमिकोंको भी, जिन्हें बहुत कम फुर्सत मिलती है, अपनी बचतका रुपया ज़मा करनेके लिए ज़्यादा दूर न जाना पड़े। जब कोई मजदूर अपने कामपर जाने लगता है तो वह पहले मार्गमें ही स्थित बैंककी शाखामें जाकर रुपया जमाकर और एक मिनटमें बैंकसे रसीद लेकर उचित समयके भीतर अपने कामपर पहुँच सकता है। इस तरह क्रेडिट लायोनेइ बैंकके पास बहुत सा रुपया इकट्ठा हो जाता है।

अन्य बैंकोंकी शाखाएँ भी इसी तरह फैली हुई हैं। अनेक शहरोंमें तो प्रायः एक ही सड़कपर दो दो तीन तीन बैंकोंकी शाखाएँ स्थापित हैं। इसके सिवा देहातोंमें भी अनेक बैंकोंने अपनी शाखाएँ खोल रखी हैं। पहले वहाँके किसान अपनी बचतका रुपया प्रायः ज़मीनमें गाड़कर रखा करते थे, किन्तु अब एक भी किसान ऐसा नहीं करता।

यहाँपर एक बात स्मरण रखनी चाहिये। फ्रांसके किसान स्वभावसे ही बड़े भीरु और प्रायः पुराने ख़यालके होते हैं। उन्हें सहसा बैंकोंका विश्वास नहीं होता। जब कोई किसान बैंककी बड़ी और मजबूत इमारत देखकर पहले पहल उसमें प्रवेश करनेका साहस करता है, तब बैंकवाले कृषकोंके स्वभावकी विशेषताका ख़याल कर उसे लोहेके किवाड़ोंवाला वह मजबूत कमरा दिखलाते हैं जिनमें बड़े बड़े तालोंवाली लोहेकी मजबूत तिजोरियाँ रखी रहती हैं। फिर वे उसे इस प्रकार समझानेका प्रयत्न करते हैं, "यदि आप चाहें तो हमारे पास अपना रुपया जमा कर दें, हम उसपर आपको व्याज देंगे। यदि आप रुपया हमारे हाथमें नहीं देना चाहते, तो उसे खुद अपने हाथसे लोहेके इस सन्दूकमें जिसपर आगका भी कोई

असर नहीं होता, रख दे सकते हैं। इस पर आपका ही कब्ज़ा रहेगा और इसका ताला बन्द कर कुंजी भी आप अपने साथ ले जा सकते हैं। आप चाहें तो इसमें नक़द रुपयेके सिवा अन्य बहुमूल्य वस्तुएँ भी रख सकते हैं। इसे सुरक्षित रूपसे रखनेके लिए आपसे हम केवल नाम मात्रका चार्ज करेंगे।" किसानके मनमें यह बात जँच जाती है। वह एक सन्दूक किरायेपर ले लेता है और उसमें अपना रुपया-पैसा इत्यादि रखकर कुंजी साथ लेकर घर चला जाता है।

एकाध महीनेके बाद जब वह आकर देखता है तो सब चीजें उसे सुरक्षित अवस्थामें मिलती हैं। इस प्रकार धीरे धीरे उसके मनमें बैंकका विश्वास होने लगता है। अब वह अपना रुपया लाकर सामने रख देता है और बैंकके मैनेजरसे कहता है कि मैं यह रुपया ले आया हूं। आप इसका जो उपयोग करना चाहें, कीजिए। जिस काममें लगानेकी सलाह आप दें, उसीमें मैं इसे लगा दूँ। यह कहकर वह कुल रुपया मैनेजरके हाथमें थँभा देता है और उसका कहना मानकर रूसी ऋणपत्र या अन्य कोई कागज़ ख़रीदना स्वीकार कर लेता है।

इस प्रकार रुपयेकी आवश्यकता पूरी करनेके लिए रूसके ज़ारने जो ऋणपत्र जारी किये थे, उनमेंसे बहुतोंको फ्रांसीसी किसानोंने ही खरीदा था। इसका मतलब यह हुआ कि रूसके किसानोंने नहीं, बरन् फ्रांसके किसानोंने अपने रुपयेसे ज़ारकी सहायता की। बैंकोंका विश्वास कर उन्होंने अपनी बचतका रुपया रूसको ऋण देनेमें लगा दिया। यही कारण है कि फ्रांसकी कृषक जनता रूसमें होनेवाली घटनाओंके सम्बन्धमें

खास दिलचस्पी लेती है और वहाँके शासनकी प्रत्येक बातको बड़ी बारीकीसे देखती है।

ऊपर हमने फ्रांसके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा है, वही बात ब्रिटेन, जर्मनी तथा अमेरिकाके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है। इन देशोंमें भी प्रायः सब शहरों और मुख्य मुख्य गाँवोंमें बैंकोंकी शाखाएँ फैली हुई हैं तथा फ्रांसकी ही तरह वहां भी मजदूरों, छोटे मोटे दूकानदारों एवं कृषकोंकी बचतकी पूँजी धीरे धीरे बैंकोंके हाथमें जा पहुँची है। अब प्रश्न यह होता है कि इतनी अधिक पूँजी बटोरनेका काम बैंक किस तरह करते हैं ?

यदि हम फ्रांसके ही बैंकोंकी बात लें तो हम देखेंगे कि केवल फ्रांस ही नहीं, संसारके अन्य अन्य देशोंमें भी इन बैंकोंकी शाखाएँ पायी जाती हैं। प्रायः दो तीन बड़े बड़े बैंक आपसमें यह तै कर लेते हैं कि कौन बैंक किस क्षेत्रमें अपनी शाखाएँ खोले, किसमें न खोले। फ्रांसके तीन सुप्रसिद्ध बैंकोंने इसी ढंगपर अपने अपने लिए भिन्न भिन्न क्षेत्र बाँट लिये। बालकन प्रायद्वीप तथा उत्तर अमेरिका "सोसाइएटे जेनेरैली" के हिस्सेमें पड़े और दक्षिण अमेरिका 'डिसकाउण्ट बैंक' के जिम्मे हुआ। इसी प्रकार क्रेडिट लायोनेइने अपना विस्तार रूसकी ओर करनेका निश्चय किया। इसने रूसके प्रत्येक शहर-में अपनी शाखाएँ खोल दीं। रूसमें बहुतसे लोग ऐसे थे जिन्हें रूसी बैंकोंका विश्वास नहीं था। वे अपना रुपया क्रेडिट लायो-नेइ बैंककी शाखाओंमें जमा करते थे। जब रूसके ज़ारको कर्ज़ दिलानेकी आवश्यकता होती थी, तब इस बैंककी शाखाओं द्वारा ही यह काम पूरा किया जाता था, क्योंकि

पूरब-पच्छिम, उत्तर-दक्खिन, सारे रूसी साम्राज्यमें क्रेडिट लायोनेइ बैंककी ही शाखाएँ स्थापित थीं। फ्रांसके अन्य बैंकोंकी शाखाएँ, पूर्व समझौतेके अनुसार, यहां खोली ही नहीं गयीं।

इस प्रकार एक एक बैंकको वस्तुतः सैकड़ों हजारों छोटे छोटे बैंकोंका समूह समझना चाहिये। फ्रांसमें यूरोपीय युद्धके पूर्व प्रथम श्रेणीके कोई चार पाँच बैंक थे। वे केवल फ्रांसके ही नहीं, बल्कि और और देशोंके भी आर्थिक एवं औद्योगिक जीवनका नियंत्रण करते थे। बालकन प्रायद्वीप, तुर्की, अमेरिका, एशिया, आस्ट्रेलिया आदि संसारके दूर दूरके भागोंमें भी उनकी शाखाएँ फैली हुई थीं। इसी तरह जर्मनीमें भी दो चार बड़े बड़े बैंक थे जिनकी शाखाओंका जाल जर्मनीमें ही नहीं, अन्य देशोंमें भी बिछा हुआ था। ब्रिटेन तथा अमेरिकाके बैंकोंके सम्बन्धमें भी यही समझ लेना चाहिये।

हम ऊपर कह चुके हैं कि फ्रांसके बड़े बड़े बैंकोंने आपसमें तै कर लिया था कि कौन बैंक किस क्षेत्रमें काम करेगा, किसमें नहीं करेगा। इसी प्रकार फ्रांस, जर्मनी और ब्रिटेनके बैंकोंने भी आपसकी प्रतिद्वन्द्विता से बचनेके लिए किसी न किसी तरहका समझौता कर लिया था। बालकन प्रायद्वीपमें फ्रांस तथा जर्मनीके जिन बैंकोंकी शाखाएँ थीं, उन्होंने परस्पर तै कर लिया था कि आधेमें फ्रांसीसी बैंककी शाखाएँ हों, तो शेष भागमें जर्मन बैंक अपनी शाखाएँ खोले, एकको बलगेरिया मिले तो दूसरेको सर्बिया। कभी कभी दो भिन्न भिन्न देशोंके बैंक इस तरहका भी समझौता कर लिया करते थे कि एक बैंक तो रासायनिक उद्योगोंका नियंत्रण अपने हाथमें ले लेता और दूसरा सैनिक उद्योगोंकी ओर ध्यान देता।

इतना सब होते हुए भी पूँजीवादका अनुसरण करनेवाले समाजका यह एक बड़ा दोष है कि इसमें कोई भी समझौता स्थायी नहीं कहा जा सकता। आपसमें सब कुछ तै कर लेने पर भी प्रायः बैंकोंमें इस बातको लेकर झगड़े खड़े हो जाया करते थे कि कौन बैंक किस देश या प्रान्तको अपना कार्यक्षेत्र बनावे। कभी कभी ये झगड़े यहाँतक बढ़ जाते थे कि इनके कारण संसारव्यापी युद्धतककी सम्भावना उपस्थित हो जाती थी। उदाहरणार्थ बगदाद रेलवे कम्पनीको लीजिए। कहनेके लिए तो कहा जाता था कि यह संस्था बिलकुल जर्मनोंकी है, किन्तु इसके प्रधान सञ्चालकोंमें १५ जर्मन, ६ फ्रांसीसी तथा ३ बेलजियन थे अर्थात् वास्तवमें यह एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था थी। अब फ्रांसीसी लोगोंने यह इच्छा की कि बगदाद रेलवेमें दूसरोंकी अपेक्षा हमारा हिस्सा अधिक बड़ा हो। उधर जर्मन कहते थे कि सबसे बड़ा हिस्सा हमें मिलना चाहिये। पूँजीवादका अनुसरण करनेवाले समाजमें जब ऐसे झगड़े उठ खड़े होते हैं, तब कभी कभी उनका निपटारा करना कठिन हो जाता है। ऐसा ही इन बैंकोंके सम्बन्धमें हुआ। यद्यपि इन्होंने पहले ही आपसमें समझौता करके संसारके सारे देशोंको इच्छानुसार बाँट लिया था, किन्तु बादमें परस्पर झगड़ा किये बिना इन लोगोंका काम नहीं चला।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उसका सारांश यही है कि यद्यपि शुरू शुरूमें बैंक भिन्न भिन्न लोगोंकी बचतका रुपया अपने पास जमा करने तथा उसपर कुछ व्याज देने और जिन्हें ज़रूरत हो उन्हें उसकी अपेक्षा कुछ अधिक सूदपर कर्ज़ देनेका काम ही किया करते थे, किन्तु जब उनके पास बहुत

अधिक रुपया इकट्ठा होने लगा, तब वे अपने इस परिमित कार्यसे सन्तुष्ट न होकर देशके उद्योग-व्यवसायोंके नियंत्रणका काम भी अपने हाथमें लेने लगे, यहाँतक कि गत यूरोपीय युद्धके पहले प्रायः सभी बड़े बड़े उद्योग-धन्धोंकी नकेल उनके हाथमें चली गयी। क्रप्स, डेमीडव्हूज, मोरोसव्हूज इत्यादि बड़े बड़े व्यवसायी एवं पूँजीपति, चाहे वे कितने ही धनी क्यों न हों, केवल नामके लिए ही कारखानोंके मालिक रह गये और उनके असली मालिक हो गये ये बैंक जिन्होंने चारो ओर अपनी शाखाओंका जाल बिछा कर समस्त उद्योग-व्यवसायोंके सञ्चालनका कार्य अपने हाथमें ले लिया।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, हिलफरडिंगके मतसे "उद्योग-व्यवसायमें लगी हुई बैंकोंकी पूँजी ही साम्राज्यवादकी प्रवर्तक है।" इस तरहकी पूँजीका उद्देश्य हमेशा नये नये भूभागोंपर प्रभुत्व स्थापित करना रहता है। देश जीतनेकी नीतिमें औद्योगिक पूँजीकी अपेक्षा बैंकोंकी पूँजी (या आर्थिक पूँजी, फाइनैन्स कैपिटल) बहुत आगे बढ़ जाती है। उद्योग-प्रधान पूँजीवादी राष्ट्रोंको साधारणतया उन देशोंपर क़ब्ज़ा करनेकी कोई इच्छा नहीं रहती, जहाँ उनके यहाँके कारखानों द्वारा तैयार की गयी वस्तुओंके खप जानेकी संभावना न हो।

हिलफरडिंगके कथनानुसार युद्धके पूर्व उद्योग-व्यवसायमें लगी हुई बैंकोंकी पूँजीकी आवश्यकताएँ इतनी बढ़ गयी थीं कि उनसे प्रेरित होकर पूँजीवादी राष्ट्रोंको संसारके उन उन भूभागोंपर प्रभुत्व स्थापित करनेकी नीति ग्रहण करनी पड़ी, जिनपर उस समयतक अन्य किसी देशका क़ब्ज़ा नहीं हो पाया था। पहले तो यूरोपीय राष्ट्र प्रायः तैयार माल ही अन्य देशोंको

भेजा करते थे, किन्तु अब वे केवल कपड़े, मशीनें और तरह तरहके औज़ार ही नहीं, बरन् मुख्यतया पूँजी ही आफ्रिका, एशिया तथा यूरोपके समीपवर्ती देशोंको भेजा करते हैं। युद्धके ठीक पहले अकेले ब्रिटेनकी ही कोई चार अरब पौंड (लगभग साठ अरब रुपये) की पूँजी अन्य देशोंको भेजी गयी थी। फ्रांसकी भी क़रीब दो अरब पौण्डकी पूँजी उस समय विदेशोंमें लगी हुई थी। फ्रांस अन्य देशोंको तैयार मालकी अपेक्षा पूँजी ही अधिक तादादमें भेजता था।

अन्य देशोंको जो माल भेजा जाता है, उसकी एक सीमा होती है, किन्तु पूँजीके निर्यातकी यह एक विशेषता है कि उसकी कोई सीमा नहीं होती। सहाराके सदृश मरुभूमिमें भी बैंकोंकी करोड़ों रुपयेकी पूँजी बड़े मुनाफेके साथ लगायी जा सकती है। यद्यपि साधारण तौरसे यह कहा जा सकता है कि सहारा तो एक निर्जन स्थान है, वहाँ भला कोई चीज़ कैसे खप सकती है, फिर भी बैंकोंकी पूँजीके लिए ऐसे स्थानमें भी कोई न कोई काम निकल ही आता है, उदाहरणार्थ वहाँ दुर्गोंका निर्माण किया जा सकता है या अनावश्यक होते हुए भी रेल-की सड़क बनायी जा सकती है। इससे स्पष्ट है कि जिन भू-भागोंको निरे औद्योगिक राष्ट्र अपने लिए निरर्थक समझ कर छोड़ देंगे, वे भी ऐसे राष्ट्रोंकी दृष्टिमें महत्त्वपूर्ण समझे जा सकते हैं जिनके पास अन्य देशोंमें लगानेके लिए बहुतसी पूँजी बेकार पड़ी हुई है। तात्पर्य यह है कि बैंकोंमें पड़ी हुई यह बेकार पूँजी आँख बन्द कर अन्य देशोंको जीतनेकी नीति अर्थात् साम्राज्यवादकी बड़ी भारी प्रेरक है।

पाँचवाँ अध्याय

औद्योगिक और आर्थिक पूँजी

कॉट्स्कीके मतका उल्लेख करते हुए हम तीसरे अध्यायमें लिख आये हैं कि कॉट्स्कीके कथनानुसार "औद्योगिक पूँजीवादी राष्ट्रोंका कृषिप्रधान राज्योंपर क़ब्ज़ा करनेका प्रयत्न करना ही साम्राज्यवाद है।" हिलफरडिंगके मतसे प्रभावित होकर कॉट्स्कीने शीघ्र ही अपने विचार बदल दिये।

हिलफरडिंगके मतकी चर्चा करते समय हम पहले देख चुके हैं कि बैंकोंमें जमा की गयी पूँजीके लिए संसारमें अपरिमित क्षेत्र पड़ा हुआ है। बिलकुल वीरान और जनशून्य स्थानोंमें भी उसके उपयोगके लिए कोई न कोई काम निकाला जा सकता है और उससे लाभ उठाया जा सकता है। उपनिवेशोंमें जो पूँजी लगायी जाती है, उसमें बैंकको किसी तरहका जोखिम उठानेकी भी सम्भावना नहीं रहती। मान लीजिए, किसी बैंकने आफ्रिकाके एक भागमें रेल निकालनेकी योजना तैयार की। वह तुरन्त उक्त रेलवेके हिस्सोंके लिए रुपया संग्रह करनेकी घोषणा कर देता है। इसपर फौरन हज़ारों आदमी समाचार-पत्रोंमें प्रकाशित लम्बे चौड़े लेखोंके प्रभावमें आकर और यह समझ कर कि इस काममें रुपया लगानेसे विशेष लाभ होनेकी सम्भावना है, उसके हिस्से खरीदनेके लिए दौड़ पड़ते हैं। उपनिवेशों या अधीन देशोंको इस तरह जो रुपया भेजा जाता है, प्रायः उसकी कोई सीमा नहीं होती, क्योंकि वह विजित देशोंकी जनतासे नहीं, विजेता

राष्ट्रकी जनतासे ही इकट्ठा किया जाता है। अधिक लाभ उठा सकनेके प्रलोभनमें पड़कर ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनीके लाखों दूकानदारों, श्रमिकों तथा व्यापारियोंने, गत यूरोपीय युद्धके पूर्व, अपनी अपनी बचतका रुपया बैंकोंकी नयी नयी योजनाओंके अनुसार निकाले गये हिस्सोंके खरीदनेमें लगा दिया।

जब कोई नया उपनिवेश स्थापित होता है या जब किसी नये भूभागपर अधिकार हो जाता है, तब वहाँ मालकी खपतके लिए जितना सुयोग मिलता है, उससे भी अधिक सुयोग बेकार पूँजीको काममें लगाकर मुनाफा उठानेके निमित्त प्राप्त होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उद्योग-व्यवसायमें लगायी जानेवाली बैंकोंकी पूँजीका साम्राज्यवादकी वृद्धिमें बड़ा भारी हाथ है और वही पूँजीवादी राष्ट्रोंकी वर्त्तमान विजय-नीतिकी प्रेरक है।

हिलफरडिंग द्वारा प्रतिपादित इस मतके प्रभावमें आकर बादमें कॉट्स्कीने भी साम्राज्यवादके सम्बन्धमें अपने विचार बदल दिये। पहले कॉट्स्कीका ख़याल था कि औद्योगिक पूँजीवादी राष्ट्रोंका कृषिप्रधान राज्योंपर क़ब्ज़ा करनेका प्रयत्न ही साम्राज्यवाद है, किन्तु अब हिलफरडिंगके विचारोंसे प्रभावित होकर उसने अपना मत विशेषरूपसे परिवर्तित कर दिया। अब वह यह दिखलानेकी चेष्टा करने लगा कि आन्तरिक और परराष्ट्रनीतिके सम्बन्धमें औद्योगिक पूँजी तथा बैंकोंकी पूँजीमें बड़ा अन्तर है। औद्योगिक पूँजी अपेक्षाकृत अधिक शान्तिपूर्ण एवं अधिक उदार नीतिका अनुसरण करती है, किन्तु बैंकोंकी पूँजी विशेष रूपसे आक्रामक नीतिका अवलम्बन करती है। नये नये भूभागोंपर क़ब्ज़ा करते रहना ही उसका उद्देश्य होता है।

औद्योगिक पूँजीवादकी प्रबलताके ज़मानेमें कारखानोंके मालिक प्रायः पृथक् पृथक् व्यक्ति हुआ करते थे। आपसमें कितना ही मतभेद होते हुए भी ये सब लोग चाहते थे कि देश-में शान्ति और व्यवस्थाका राज्य हो, कोई एक निश्चित शासन-प्रणाली प्रचलित हो और लिखने-पढ़ने या भाषण करने-की सामान्य स्वतन्त्रता हो। प्रत्येक कारखानेका मालिक केवल अपने मजदूरोंका नियंत्रण कर सकता था, वह किसी प्रान्तीय शासक या अन्य कर्मचारीको मनमानी करनेसे नहीं रोक सकता था। इसीसे वह ऐसे निश्चित शासनके पक्षमें था जो देशमें शान्ति और क़ानूनकी रक्षा करता रहे।

उस समय कारखानोंके मालिक नहीं चाहते थे कि कोई हमारे काम-काजमें अनुचित हस्तक्षेप करे और हमें अपने कार-खानेकी उन्नति करनेसे रोके। इसीसे वे लोग अराजकताके विरोधी थे। देशमें शान्ति और क़ानूनका राज्य होने पर ही उद्योग-व्यवसायकी उन्नति हो सकती है। स्वेच्छाचरिताके ज़मानेमें राजा लोग प्रायः कुलीनों और सरदारोंका ही पक्ष ग्रहण किया करते थे। मध्यवित्तवाले व्यापारियोंने देखा कि उद्योग-व्यवसायमें लगे हुए लोगोंकी अपेक्षा राजाओंकी प्रवृत्ति अमीरों और बड़े बड़े जमीन्दारोंका ही समर्थन करनेकी ओर है। इसीसे कारखानोंके चलानेवाले चाहते थे कि यदि किसी तरह राजाओंकी स्वेच्छाचारिता कम की जा सके और उनकी शक्तिका नियंत्रण हो सके, तो बहुत अच्छा हो।

हम देखते हैं कि औद्योगिक पूँजीवादका यह ज़माना राजाकी निरंकुश सत्ताके साथ मध्य श्रेणीवालोंके संघर्षका ज़माना था। यह इन लोगोंके अनवरत प्रयत्नका ही फल था

कि धीरे धीरे अनेक देशोंमें राज्यकी अनियंत्रित शक्तिका विनाश हो गया। मध्य श्रेणीवालोंने राजाओंकी स्वेच्छा-चारिताके खिलाफ़ लड़ाई छेड़ दी। अठारहवीं शताब्दीके बहुतसे बड़े बड़े क्रान्तिकारियोंने इसी श्रेणीमें जन्मग्रहण किया था। रूसो, वालटेयर तथा डिडेराट और इनके बाद डैण्टन, मैरट इत्यादि भी इसी श्रेणीमें पैदा हुए थे। इनके अनुयायी एवं समर्थक भी मध्य वर्गवाले ही थे।

सन् १८४८ की फ्रांसीसी राज्यक्रान्तिके ज़मानेमें, विशेष करके मध्य श्रेणीवालोंने ही स्वदेश-भक्तिकी धूम मचाकर राजा-की शक्ति कम करानेका प्रयत्न किया था। किन्तु अब इन लोगोंकी नीति बदल गयी है। ये अपनी पार्लिमेण्टका कार्यक्षेत्र अधिक सीमित करते जा रहे हैं और समाचार-पत्रोंकी स्वतं-त्रतामें भी बाधाएँ उपस्थित कर रहे हैं। इनकी वर्तमान नीति-को देखकर सहसा यह प्रश्न उठता है कि आख़िर इनके विचारोंमें इतना बड़ा परिवर्त्तन कैसे हो गया? फ्रांसके मध्य-वर्गवालोंके वे उदार विचार कहाँ गये; रूस और जर्मनीके मध्यवित्तवाले इतने उन्नति-विरोधी कैसे हो गये?

जर्मनीमें मध्य श्रेणीके लोग मानो राजवंशके अनुचर ही हो गये थे। वे प्रत्येक बातमें कैसरकी हाँमें हाँ मिलाते थे और जर्मन पार्लिमेण्टका राजनीतिक महत्त्व बिलकुल कम कर देनेका प्रयत्न करते थे। रूसका भी यही हाल था। वहाँके भी मध्य वर्गके नेताओंने ज़ारशाहीका विरोध करनेकी कोई कोशिश नहीं की। वहाँकी प्रतिनिधि-सभा ड्यूमाने ज़ारकी आज्ञामें चलना मानो अपना धर्म समझ लिया था। दो एक छोटी मोटी बातोंमें ही, डरते डरते, वह अपना स्वतंत्र मत प्रकट करती थी।

कॉट्स्कीके कथनानुसार वर्त्तमान मध्य श्रेणीवालोंकी इस परिवर्त्तित नीतिका कारण यह है कि आजकल बैंकोंकी पूँजीके विस्तारका ज़ोर है और इसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति पीछे जानेकी ओर है। औद्योगिक पूँजीके ज़मानेमें मध्य श्रेणीवाले वैध शासन तथा मुक्त-वाणिज्य-नीतिके समर्थक थे, किन्तु अब उद्योग-व्यवसायमें लगायी जानेवाली बैंकोंकी पूँजीका ज़ोर बढ़ जाने पर वह स्थिति नहीं रह गयी। इस पूँजीका उद्देश्य देशकी स्थितिका सुधार करना न होकर नित्य नये नये देशोंको जीतना ही है। यह न तो मुक्त वाणिज्य-नीतिकी समर्थक है और न समाचार-पत्रोंकी स्वतंत्रता या उन्नत राज-नीतिक विचारोंकी ही पृष्ठपोषक है।

इस प्रकार कॉट्स्कीका यह नया मत उसके पुराने मतसे बिलकुल भिन्न है। अब उसका ख़याल यह हो गया कि औद्योगिक पूँजी साधारणतया उन्नत विचारोंका अनुसरण करती है, साथ ही वह वैध शासन एवं पार्लिमेण्टकी सत्ताका समर्थन करती है। इसके सिवा वह प्रायः अन्य देशोंसे झगड़ा करनेके पक्षमें नहीं है। इसके विपरीत बैंकोंकी पूँजी बराबर अन्य देशोंपर क़ब्ज़ा करनेकी नीतिका समर्थन करती है। गत महायुद्धके पूर्व यूरोपीय राष्ट्रोंकी नीतिमें जो महान् परिवर्त्तन देख पड़ता था, आँख बन्द कर सेना बढ़ानेकी जो प्रतिद्वन्द्विता उनमें चल रही थी, उसका कारण आर्थिक पूँजीका बढ़ा हुआ प्रभाव ही था।

अब हम कॉट्स्कीके इस मतकी समीक्षा करनेका प्रयत्न करेंगे। यदि हम कॉट्स्कीके कथनपर ज़रा गौरसे विचार करें तो यह तुरन्त स्पष्ट हो जायगा कि सभी औद्योगिक पूँजी

शान्तिप्रिय और उदार नीतिका अनुसरण करनेवाली नहीं कही जा सकती और न सभी तरहकी बैंकोंकी पूँजीको डकैती-की नीतिका समर्थन करनेवाली ही समझना चाहिये। अतः प्रश्न यह है कि कॉट्स्कीने जो कुछ कहा है वह किस औद्योगिक पूँजी या किस तरहकी बैंकोंकी पूँजीपर लागू होता है ?

यदि हम फ्रांसका उदाहरण लें, तो हम देखेंगे कि वहाँ ऐसे अनेक राष्ट्रसूत्रधार हुए हैं जो बैंकोंसे घनिष्ठ सम्बंध रखते हुए भी हमेशा शान्तिके ही समर्थक रहे हैं। फ्रांसका अर्थसचिव केलो शान्तिमय नीतिका ही पक्षपाती था। मध्य श्रेणीवालोंके प्रतिक्रियाशील समाचार-पत्रोंमें उसकी नीतिकी बड़ी कड़ी आलोचना निकला करती थी, जिसके परिणाम स्वरूप उसे अन्तमें जेलकी सजा भी भोगनी पड़ी। केलोका कथन था कि फ्रांसके लिए जर्मनीके साथ झगड़ा मोल लेना ठीक नहीं, उससे फ्रांसकी ही हानि होगी। स्मरण रहे कि केलो फ्रांसके कई बैंकोंका प्रतिनिधि था और वहाँके सुप्रसिद्ध बैंक सोसा-इएटी जेनेरैलीसे उसका घनिष्ठ सम्बन्ध था। अतः यह कहना ठीक नहीं होगा कि सभी बैंकर प्रत्येक अवस्थामें युद्ध-नीतिके समर्थक हैं।

एक और उदाहरण लीजिए। द्वितीय निकोलसके शासन-कालमें रूसने सब राज्योंसे सेना घटानेका प्रस्ताव किया। हालैण्डके हेग नगरमें जो शान्ति-सम्मेलन हुआ, उसमें रूसने नूतन रणसामग्री बढ़ानेकी सीमा निर्धारित कर देनेका प्रश्न उठाया। यह प्रस्ताव वारसाके एक बड़े बैंकर ब्लाचकी सूझका फल था। उसने "अगला युद्ध" नामक एक पुस्तक लिखी थी और शान्तिका समर्थन करनेवाले विचारोंका प्रचार करनेके

लिए बहुत रुपया ख़र्च किया था। उसने ल्यूसर्नमें एक संग्रहालय खोल रखा था जो "शान्ति-संग्रहालय" कहलाता था।

ब्लाचने अपनी पुस्तकमें यह दिखलाया था कि अगला युद्ध सब राष्ट्रोंके लिए हानिकारक होगा और वह समाजमें क्रान्ति उत्पन्न कर देगा। निःशस्त्रीकरणके उक्त प्रस्तावकी कल्पना पहले पहल इसी बैंकरके दिमाग़में उत्पन्न हुई थी। इससे भी स्पष्ट है कि सभी बैंकर सर्वदा और सब अवस्थाओंमें युद्धनीतिके समर्थक नहीं कहे जा सकते।

इसका क्या कारण है कि कुछ बैंकर और महाजन तो शान्तिके समर्थक हैं और कुछ युद्धनीतिके पक्षमें हैं? बात यह है कि प्रायः प्रत्येक औद्योगिक देशमें दो तरहके उद्योग-व्यवसाय होते हैं। यदि हम इंग्लैण्डके उद्योग-व्यवसायोंकी ओर देखें तो इसका कारण जल्द समझमें आ जायगा। वहाँके दो मुख्य उद्योग रुई और लोहेके उद्योग हैं, जिनके केन्द्र क्रमशः मैनचेस्टर और बरमिंघम नामक नगर हैं। ये दोनों इंग्लैण्डकी परराष्ट्रनीतिकी दो धाराओं एवं दो युगोंके सूचक हैं। मैनचेस्टर, जो रुईके व्यवसायका केन्द्र है, उस युगका सूचक है जब इंग्लैण्डकी औद्योगिक शक्तिका प्रधान आधार सूती वस्त्रोंका व्यवसाय था। जिस ज़मानेमें मैनचेस्टरका ज़ोर था, उस समय इंग्लैण्ड स्वतंत्र-वाणिज्य और शान्तिपूर्ण प्रतिस्पर्द्धाका अनुयायी था।

दूसरा नगर बरमिंघम लोहे और कोयलेके व्यवसायोंका केन्द्र है। यहांके कारखानोंमें छोटी बड़ी तोपें, गोला-बारूद, सैनिक मोटरगाड़ियाँ, रणपोत तथा अन्य युद्ध-सामग्री तैयार होती है। यह नगर ब्रिटिश साम्राज्यवादका तथा वाणिज्य-

प्रतिबन्धों एवं सैनिक सामग्रीकी प्रतिद्वन्द्विताका प्रधान अड्डा है। इंग्लैण्डके सर्वप्रथम साम्राज्यवादी—सेसिल रोड्स और चेम्बरलेन—इसी नगरके प्रतिनिधि थे।

अब हम साम्राज्यवाद या युद्ध-नीतिकी दृष्टिसे इन दोनों तरहके उद्योग-व्यवसायोंमें क्या अन्तर है, इसपर विचार करेंगे। सूती वस्त्रोंका व्यवसाय, चाहे वह इंग्लैण्डका हो या जर्मनी-फ्रांसका, जिस कच्चे मालपर अवलम्बित है, वह अमेरिका, भारत, मिस्रि इत्यादि बाहरके देशोंसे आता है। इंग्लैण्डके सूती वस्त्रोंके कारखानोंकी उन्नतिके लिए यह आवश्यक था कि अमेरिका, मिस्र इत्यादिसे नियमित और निर्विघ्न रूपसे रुई इंग्लैण्डको आती रहे। किन्तु जब युद्ध छिड़ जाता है और व्यापारिक सम्बन्ध टूट जाता है, तब शत्रुके जहाजोंकी छेड़छाड़के कारण व्यापारी जहाज़ोंका आना जाना रुक जाता है और आवश्यक कच्चा माल न पहुँच सकनेसे कारखाने बन्द होने लगते हैं, जैसा कि इंग्लैण्डमें उस समय हुआ था जब नैपोलियनसे युद्ध हो रहा था।

ज्यों ज्यों इंग्लैण्डके आर्थिक क्षेत्रमें वस्त्र-व्यवसायकी अपेक्षा लोहेकी चीज़ें तैयार करनेवाले कारखानोंका महत्त्व बढ़ता गया, त्यों त्यों बरमिंघम नगरको भी विशेष महत्त्व प्राप्त होता गया। इसी समयसे वहाँ नये युगका आरंभ हुआ। अब उपनिवेश बसाने और नये नये देशोंपर क़ब्ज़ा करनेकी नीतिका इंग्लैण्डमें इतने ज़ोरोंसे अनुसरण किया जाने लगा कि सन् १८९५ से १९०० तक कुल पाँच ही वर्षके भीतर फ्रांससे कोई बीस गुनी भूमिपर उसका अधिकार हो गया, जिसकी जनसंख्या छः करोड़ थी।

इंग्लैण्डमें जिस तरह बरमिंघम लौहव्यवसायका केन्द्र बन गया, उसी तरह जर्मनीमें एसन (जहाँ तोपके गोले बनानेवाला क्रपका सुप्रसिद्ध कारखाना था) और फ्रांसमें क्रूसोट रण-सामग्री तैयार करनेके कारण प्रसिद्ध हुए। जिस प्रकार बरमिंघम ब्रिटिश साम्राज्यवादका समर्थक हुआ, उसी प्रकार एसन और क्रूसोट भी क्रमशः जर्मन तथा फ्रेञ्च साम्राज्यवादके पृष्ठपोषक हुए।

इस तरह हम देखते हैं कि गत महायुद्धके पूर्व उद्योग-व्यवसायवालों तथा बैंकरोंके दो समुदाय थे। एक समुदाय तो अपने अपने राष्ट्रोंको संसारव्यापी युद्धके लिए प्रेरित कर रहा था और अपनी सारी शक्ति लगाकर उन्हें समीपवर्त्ती राज्योंसे झगड़ा करनेके लिए उसका रहा था। किन्तु दूसरा ठीक इसके विपरीत मार्गका अनुसरण कर रहा था। यह शान्तिका समर्थक था। इस समुदायमें प्रायः सूती वस्त्रोंके बड़े बड़े कारखानोंके मालिक ही शामिल थे। इनका खयाल था कि संसारव्यापी युद्धके छिड़ जानेसे उन्हें बड़ी भारी आर्थिक विपत्तिका सामना करना पड़ेगा, क्योंकि कच्चा माल बाहरसे न आ सकनेके कारण कारखानोंके बन्द हो जानेकी सम्भावना थी। सूती कपड़ोंके व्यवसायसे जिन बैंकोंका सम्बन्ध था, वे भी स्वभावतः शान्तिके पक्षपाती थे। तात्पर्य यह है कि बहुतसे औद्योगिक पूँजीपति तथा बैंकवाले युद्धनीतिके विरोधी थे। किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि वे उपनिवेश-स्थापनाकी नीतिको भी पसन्द नहीं करते थे। साधारणतया तो वे उपनिवेश स्थापित करनेके पक्षमें थे, किन्तु वे नहीं चाहते थे कि इस नीतिपर इतना अधिक ज़ोर दिया जाय कि जिससे

एक संसारव्यापी युद्ध छिड़ जानेकी सम्भावना हो । इसी प्रकार ब्रिटेन और फ्रांसके अनेक समाचारपत्र भी शान्तिमय नीतिके समर्थक थे। किन्तु दुर्भाग्यवश युद्धनीतिके अनुयायी समुदायके सामने इन लोगोंकी एक न चली। बरमिंघम, एसेन, और क्रूसोटवालोंने मैनचेस्टर, हैम्बर्ग तथा लिआञ् वालोंको दबा दिया और अन्तमें युद्ध छिड़ ही गया।

जब सन् १९१४ में यूरोपका युद्ध शुरू हुआ, तब शीघ्र ही वहाँका आर्थिक ढाँचा मानो दो भागोंमें बँट गया। शुरूके चार वर्षोंमें जर्मनी बराबर एकके बाद दूसरी विजय प्राप्त करता गया, किन्तु इससे जर्मनीके सभी पूँजीपतियोंको लाभ हुआ हो, ऐसी बात नहीं है। यद्यपि तोपें, बन्दूकें, तोपके गोले, बारूद तथा लोहेका और सामान तैयार करनेवाले कारखानोंने युद्धसे खूब लाभ उठाया, किन्तु कपड़े तैयार करनेवाले कारखाने शीघ्र ही दुर्दशाग्रस्त हो गये और उनमेंसे अधिकतर बन्द हो गये। इसका कारण और कुछ नहीं, सिर्फ यही था कि ब्रिटिश पनडुब्बोंके भयसे अमेरिका इत्यादि देशोंसे कोई कच्चा माल जर्मनीको नहीं भेजा जा सका। अतः रुईके अभावके कारण वहाँके कपड़े तैयार करनेवाले कारखानोंको अपना काम-काज बन्द कर देना पड़ा।

जर्मनीकी जहाज़-कम्पनियोंको भी युद्धके कारण विशेष हानि उठानी पड़ी। युद्धके पहले वहाँके बहुसंख्यक व्यापारिक जहाज़ एक देशसे दूसरेको माल लाने ले जानेका काम किया करते थे। जर्मनी ही नहीं, रूस, बेलजियम और आस्ट्रेलिया इत्यादिका माल भी ये जहाज़ आफ्रिका तथा एशियाके भिन्न भिन्न देशोंको पहुंचाया करते थे। किन्तु लड़ाई छिड़ जानेके

बाद इन जहाजोंके लिए समुद्रपर यात्रा करना प्रायः असम्भव ही हो गया। परिणाम यह हुआ कि थोड़े ही समयके भीतर बड़ी बड़ी हानियाँ उठाकर अनेक जहाज़ कम्पनियाँ टूट गयीं। इसके सिवा तरह तरहके बीमा करानेवाली कम्पनियों तथा ऐसे उद्योग-व्यवसायोंको भी बड़ा नुक्सान हुआ, जिनका सम्बन्ध सेना या जहाज़ी बेडेसे नहीं था।

तात्पर्य यह है कि युद्धके समय समस्त उद्योग-व्यवसाय मानो दो भागोंमें बँट गया था। प्रत्येक देशमें युद्ध और शांति-को लेकर पूँजीपतियोंके ही नहीं, मध्य श्रेणीवालोंके भी दो वर्ग हो गये थे। जर्मनी और रूसके बीच ब्रेस्टकी सन्धिपर हस्ता-क्षर हो जानेके बाद जर्मनीके अनेक पूँजीपतियों और कार-खानोंके मालिकोंने रूसके प्रतिनिधियोंसे स्पष्ट शब्दोंमें कहा था कि हम लोग रूसके साथ शान्तिमय समझौता चाहते हैं। इन लोगोंको भय था कि ब्रेस्टकी सन्धिके कारण कहीं रूस और जर्मनीमें मनोमालिन्य न बढ़ जाय, जिसका परिणाम नूतन युद्धके रूपमें प्रकट होकर पुनः हमारी विपत्तिका कारण बन सकता है। किन्तु दुर्भाग्यवश जर्मनीके भाग्य-विधाताओं-पर इन लोगोंके प्रयत्नका कोई प्रभाव नहीं पड़ा और वह साम्राज्यवादके नशेमें मतवाला होकर बराबर अपने विनाशकी ओर अग्रसर होता गया। अन्तमें लाचार होकर उसे वर्सेल्ज़की अपमानजनक सन्धिपर हस्ताक्षर करने पड़े।

छठाँ अध्याय

लेनिनका मत

लेनिनके मतानुसार साम्राज्यवाद वह निश्चित आर्थिक अवस्था है जो पूँजीवादके चरम विकासके समय उत्पन्न होती है। उसकी पाँच मुख्य विशेषताएँ ये हैं—(१) पूर्णाधिकारोंकी स्थापना, (२) चन्द महाजनोंका आधिपत्य, (३) पूँजीका निर्यात (४) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक गुटोंका निर्माण, और (५) पूँजीवादी राष्ट्रों द्वारा संसारके देशोंका बँटवारा। नीचे हम इनपर क्रमशः विचार करेंगे।

पूँजीवादके विकासकी प्रारम्भिक अवस्थामें खुली प्रतिद्वन्द्विताका ज़ोर था अर्थात् उस समय जितने कारखाने चलते थे, उनमें परस्पर खूब चढ़ा-ऊपरी हुआ करती थी। दूसरोंके मालकी अपेक्षा हमारे कारखानेकी बनी चीज़ें ही बाज़ारमें अधिक खप सकें, इस उद्देश्यसे प्रेरित होकर प्रत्येक कारखानेका मालिक हमेशा इस बातकी चेष्टा किया करता था कि औरोंकी तुलनामें उसकी चीज़ें लोगोंको अधिक अच्छी जँचें और वे अपेक्षाकृत सस्ती भी पड़ें। इस गरज़से वह प्रायः बिलकुल आधुनिक यंत्रों तथा बढ़िया सामग्रीका प्रयोग करनेका प्रयत्न करता और इस बातका बराबर ध्यान रखता कि कारखाने द्वारा प्रस्तुत की गयी वस्तुएँ बढ़ियासे बढ़िया और साथ ही चित्ताकर्षक हों। इस स्वच्छन्द प्रतिद्वन्द्विताका परिणाम यह हुआ कि उद्योग-व्यवसायोंकी उन्नति बड़ी शीघ्रतासे होने लगी। कारखानोंमें जो चीज़ें तैयार होती थीं, वे अधिक

अच्छी और सस्ती बनने लगीं। किन्तु अब औद्योगिक पूँजीवाद इतना आगे बढ़ गया है कि स्वच्छन्द प्रतियोगिताका स्थान पूर्णाधिकारकी प्रवृत्ति ग्रहण कर रही है। अब बड़े और छोटे अथवा समुन्नत और पिछड़े हुए कारखानोंमें परस्पर कोई प्रतिद्वन्द्विता दृष्टिगोचर नहीं होती। बड़े बड़े कारखानोंके मालिक आपसमें एका कर अपना गुट बना लेते हैं और शीघ्र ही समूचे उद्योगपर पूर्णाधिकार स्थापित करनेके प्रयत्नमें सफल हो जाते हैं।

मान लीजिए, जर्मनीमें लोहेके जितने बड़े बड़े कारखाने-वाले हैं, उन्होंने आपसमें सलाह कर एक व्यावसायिक गुट स्थापित किया। अब ये लोग छोटे छोटे कारखानेवालोंसे कहते हैं—आप हमारे गुटमें शामिल हो जाइये और हम जितनी वस्तुएँ तैयार करनेको आपसे कहें, उतनी ही आप तैयार कीजिए तथा जो दाम हम निश्चित कर दें, उसीपर उन्हें बेचिये। उनके प्रभावमें आकर और अपने बचावका कोई उपाय न देखकर इनमेंसे अधिकतर कारखानेवाले गुटमें शामिल होना स्वीकार कर लेते हैं। जो लोग ऐसा करनेसे इनकार करते हैं, उनके विरुद्ध फौरन ही आर्थिक लड़ाई छेड़ दी जाती है। अब ये बड़े बड़े कारखानेवाले कुछ समयतक स्वयं हानि उठा-कर लागत व्ययसे भी कम मूल्यमें अपनी चीज़ें बेचना शुरू कर देते हैं। ये लोग जानते हैं कि थोड़ासा नुक़सान उठा लेनेसे हमारा कुछ बनता बिगड़ता नहीं, किन्तु हमारी इस कारवाईसे छोटे कारखानेवालोंका व्यवसाय चौपट हो जायगा और वे या तो बिलकुल नष्ट हो जायँगे या विवश होकर हमारे गुटमें चले आयँगे। मतलब यह कि जिन लोगोंने

५

शुरूमें विरोध करनेका प्रयत्न किया था, वे भी अब उक्त बड़े कारखानेदारोंके समुदायमें आ मिलते हैं।

इस प्रकार प्रायः समस्त विरोधियोंके सिर झुका देने पर व्यवसाय-क्षेत्रमें उक्त गुटका पूर्णाधिकार स्थापित हो जाता है। जब भिन्न भिन्न देशोंके अलग अलग व्यावसायिक गुट बन जाते हैं, तब वे भी संसारके अन्य अन्य भागोंमें प्रतिद्वन्द्विता से बचनेके लिए आपसमें समझौता कर लेते हैं। संसार भरके बाज़ार आपसमें बाँट लिये जाते हैं और यह तै कर लिया जाता है कि किस देशमें कितनी वस्तुएँ तैयार की जायँगी तथा किस मूल्यपर वे बेची जायँगी।

प्रत्येक उद्योग-व्यवसायमें इस तरहके गुट स्थापित हो जाने पर संसारके प्रायः सभी मुख्य मुख्य उद्योगोंपर थोड़ेसे बड़े बड़े पूँजीपतियोंका पूर्णाधिकार स्थापित हो जाता है। औद्योगिक दृष्टिसे जब सारा संसार इन व्यावसायिक मण्डलोंमें, जिन्हें ट्रस्ट, सिण्डिकेट, या कार्टेल कहते हैं, बँट जाता है और जब उद्योग-व्यवसायकी प्रत्येक शाखापर उनका इजारा क़ायम हो जाता है, तब उनमें आपसकी वह स्वच्छन्द प्रतियोगिता नहीं रह जाती, जो प्रारम्भिक कालमें दृष्टिगोचर होती थी। इसका परिणाम यह होता है कि औद्योगिक उन्नतिकी गति पहलेकी अपेक्षा कुछ धीमी पड़ जाती है और वस्तुओंके मूल्यका कम होते जाना भी रुक जाता है।

जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, लेनिनने साम्राज्यवादको पूँजीवादके चरम विकासकी अवस्था माना है और उसकी पाँच विशेषताएँ बतलायी हैं। लेनिनके शब्दोंमें पहली विशेषता यह है—"बड़े बड़े कारखानोंमें अधिक वस्तुओंका एक

साथ उत्पादन और पूँजीका एकत्रीकरण अब यहाँतक बढ़ गया है कि इजारेकी स्थिति उत्पन्न हो गयी है, जिसका आर्थिक जीवनपर विशेष प्रभाव पड़ रहा है।"

अब यह देखना चाहिये कि उत्पादन और पूँजीका एकत्रीकरण कैसे होता है। हम जानते हैं कि वर्त्तमान औद्योगिक युगका प्रारम्भ होनेके पहले छोटे मोटे कारीगर प्रायः अपने ही घरपर तरह तरहकी चीज़ें तैयार करते थे। बादमें यंत्रोंका आविष्कार होने पर बड़े बड़े कारखानोंकी स्थापना होने लगी। सैकड़ों, हजारों कारीगर अलग अलग अपने घरपर एक दिनमें जितना माल तैयार करते थे, उतना अब एक बड़े कारखानेमें कुछ ही घण्टोंमें प्रस्तुत किया जाने लगा। एक साथ बहुतसी चीज़ें तैयार करनेके कारण उनका लागतव्यय अपेक्षाकृत कम पड़ने लगा और वे कम दामपर बेची जाने लगीं। परिणाम यह हुआ कि इन बड़े कारखानोंके सामने छोटे छोटे कारीगरोंका व्यवसाय चौपट होने लगा। अन्तमें उन्हें विवश होकर अपने औज़ार इत्यादि बेचकर इन्हीं कारखानोंकी शरण लेनी पड़ी।

इस प्रकार जो चीज़ें पहले बहुसंख्यक भिन्न भिन्न कारीगरों द्वारा पृथक् पृथक् स्थानोंमें तैयार की जाती थीं, वे अब थोड़ेसे बड़े बड़े कारखानोंमें ही बनने लगीं। इसी तरह जहाँ पहले थोड़ी थोड़ी पूँजी उक्त छोटे कारीगरोंके निजी उद्योगोंमें लगी हुई थी, वहाँ अब वह इन बड़े बड़े कारखानोंका संचालन करनेवाले इनेगिने पूँजीपतियोंके ही हाथमें इकट्ठी होने लगी। यही वह "उत्पादन और पूँजीका एकत्रीकरण" है, जिसका उल्लेख लेनिनके अवतरणमें किया गया है।

जर्मनीका उदाहरण लेनेसे यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जायगी। वहाँ एक हज़ार उद्योग-कारखानोंके पीछे सन् १८८२ में तीन, १८९५ में पाँच, और १९०७ में ९ कारखाने ही बहुत बड़े थे। इन्हीं वर्षोंमें उक्त कारखानोंमें काम करनेवालोंकी संख्या एक हजार पीछे क्रमशः २२०, ३०० और ३७० थी अर्थात् सन् १८८२ में जहाँ हजारमेंसे तीन बड़े कारखानोंमें २२० मजदूर काम करते थे, वहाँ ९९७ छोटे कारखानोंमें काम करनेवालोंकी संख्या ७८० ही थी। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक बड़े कारखानेके श्रमियोंका औसत ७३ और छोटे कारखानेका लगभग ¾ ही था। थोड़ेसे कारखानोंतक सीमित होनेकी यह प्रवृत्ति उत्पादित वस्तुओंके सम्बन्धमें तो और भी विशेष रूपसे दृष्टिगोचर होती थी। जहाँ तीस हज़ार बड़े बड़े कारखानोंमें कोई ६६ लाख घोड़ोंकी शक्तिके इञ्जन काम कर रहे थे, वहाँ ३२ लाख छोटे कारखानोंमें कुल २२ लाख घोड़ोंकी शक्तिवाले इञ्जन ही लगे हुए थे अर्थात् जर्मनीके समस्त उद्योग-धन्धोंमें लगी हुई बाष्प यंत्रोंकी शक्तिका ७५ फी सदी भाग केवल ९ प्रतिशत कारखानोंमें लगा हुआ था। यही बात बिजलीकी शक्तिके अनुपातके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है।

अब यदि हम अमेरिकाकी ओर दृष्टिपात करते हैं तो उसे और भी आगे बढ़ा हुआ पाते हैं। सन् १९०९ में वहाँ तीन हज़ार बड़े बड़े कारखानोंमें लगभग उतना ही माल तैयार हुआ, जितना सारे देशके और सब कारखानोंमें हुआ था, जिनकी संख्या लगभग तीन लाख थी। मतलब यह है कि अमेरिकाके कुल कारखानोंमें जितना माल तैयार हुआ था,

उसका लगभग आधा केवल १ प्रति शत कारखानोंने ही प्रस्तुत किया था। प्रायः यही दशा ब्रिटेनकी भी थी।

राष्ट्रके उद्योग-व्यवसायोंके एक बड़े भागका इस तरह थोड़ेसे बड़े बड़े कारखानेदारोंके हाथमें चले जानेका एक स्वाभाविक परिणाम पूर्णाधिकारकी प्रवृत्तिके रूपमें प्रकट होता है। हजारों लाखों व्यक्तियोंकी अपेक्षा बीस-तीस या सौ-दो सौ कारखानेवालोंमें अधिक आसानीसे एवं शीघ्र ही समझौता हो सकनेकी विशेष संभावना रहती है। बड़े कारखानोंमें जो राशि राशि माल तैयार होता है, उसपर काफ़ी लाभ तभी हो सकता है, जब उसकी माँग भी बराबर बढ़ती जाय। यदि माँगमें काफी वृद्धि न हो और चीज़ें उसी तरह तैयार होती रहें, तो उनका मूल्य इतना गिर जायगा कि उनकी बिक्रीसे कारखानेवालोंको लाभके बदले हानि ही होने लगेगी। ऐसी हालतमें बड़े बड़े कारखानेदारोंको परस्पर समझौता कर एक व्यावसायिक गुट क़ायम करनेकी आवश्यकता प्रतीत होने लगती है, क्योंकि तभी वे वस्तुओंकी उत्पत्ति तथा मूल्यका इच्छानुसार नियंत्रण कर सकते हैं। इस प्रकार शीघ्र ही थोड़ेसे पूँजीपतियोंके हाथमें सारे उद्योग-व्यवसायकी नकेल चली जाती है और वे वस्तुओंके उत्पादन-व्ययमें कमी होने पर भी आवश्यकतानुसार उनका मूल्य बढ़ा देनेमें समर्थ होते हैं।

ऊपर हम कह चुके हैं कि पूँजीवादका विकास होने पर स्वच्छन्द प्रतिद्वन्द्विताका स्थान पूर्णाधिकारकी प्रवृत्ति ग्रहण कर लेती है। इसका यह आशय नहीं है कि अब प्रतिद्वन्द्विताका नामोनिशान भी नहीं रह जाता। हाँ, पहले जिस तरह हज़ारों

लाखों छोटे छोटे व्यवसायियोंमें स्वच्छन्दरूपसे होड़ाहोड़ी चला करती थी, वैसी अब नहीं रह जाती और बड़े बड़े कारखानेदारोंमें भी, व्यवसायमण्डल स्थापित हो जानेके कारण प्रायः इसकी नौबत नहीं आने पाती। फिर भी, इसमें सन्देह नहीं कि कुछ अंशमें वह इस समय भी दृष्टिगोचर होती है। पहलेकी तरह अब भिन्न भिन्न व्यक्तियोंमें भले ही प्रतियोगिता न होती हो किन्तु कभी कभी इन व्यावसायिक गुटोंमें ही जो प्रतिद्वन्द्विता शुरू हो जाती है, वह शीघ्र ही बड़ा भीषण रूप धारण कर लेती है। बात यह है कि बड़े व्यवसायियोंके इन समुदायोंमें हजारों कारखाने और प्रमुख बैंकोकी सैकड़ों शाखाएँ शामिल रहती हैं। इसीसे परिस्थिति भयावह होनेमें देर नहीं लगती, यहाँ तक कि कभी कभी इनके कारण दो पृथक् पृथक् राष्ट्रोंमें युद्ध तक छिड़ जाता है।

अब हम साम्राज्यवादकी दूसरी विशेषताका वर्णन करेंगे। लेनिनके शब्दोंमें उसका स्वरूप यह है—"बैंकोंकी पूँजी उद्योग-व्यवसायमें भी घुस गयी है और इसीके आधारपर आर्थिक जगत्में एक तरहका धनिक-तंत्र स्थापित हो गया है।" हम चौथे अध्यायमें देख चुके हैं कि जब बैंकोंके पास बहुत ज़्यादा रुपया इकट्ठा होने लगा, तब केवल सूदखोरीसे सन्तुष्ट न हो कर उन्होंने देशके उद्योग-व्यवसायोंका नियंत्रण करना शुरू किया। इसका परिणाम यह हुआ है कि प्रायः सभी उद्योग-व्यवसाय बैंकोंका सञ्चालन करनेवाले इने गिने पूँजीपतियोंके ही अधीन हो गये हैं।

आजकल देशके प्रमुख उद्योग-व्यवसायोंके साथ बैंकोंका कितना घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया है, यह जर्मन अर्थ-

शास्त्रज्ञ जीडल्ज़कके शब्दोंसे स्पष्ट है। उसका कहना है कि बर्लिनके छः बड़े बड़े बैंकोंके सञ्चालक ३४४ औद्योगिक कम्पनियोंके भी कर्त्ताधर्त्ता थे और उनके व्यवस्थापकोंका भी ४०७ कम्पनियोंसे विशेष सम्बन्ध था। इस प्रकार वे लोग कुल ७५१ कम्पनियोंका नियन्त्रण करते थे। औद्योगिक जगत्में बड़े बड़े पूँजीपतियोंके पूर्णाधिकारकी यह प्रवृत्ति बराबर बढ़ती जा रही है। युद्धके पूर्व सारे जर्मनीकी आर्थिक बागडोर कुल तीन सौ धनकुबेरोंके हाथमें थी और तबसे यह संख्या बराबर घटती रही है। छोटे छोटे बैंक बड़े बैंकोंमें सम्मिलित हो जाते हैं और ये बड़े बैंक उनसे भी बड़े बैंकोंके साथ मिल जाते हैं। अमेरिकामें पहले नौ बड़े बैंक थे, किन्तु बादमें केवल दो ही रह गये अर्थात् राकफेलर और मारगनके बैंकोंने ही सर्वोच्चस्थान प्राप्त कर लिया। उसी प्रकार फ्रांसमें भी प्रथम श्रेणीके बैंकोंकी संख्या छः सातसे घटकर केवल चार रह गयी। तात्पर्य यह है कि अब प्रायः प्रत्येक समुन्नत देशमें एक तरहका धनिकतंत्रसा स्थापित हो गया है अर्थात् वहाँका उद्योगव्यवसाय केवल बीस-तीस या अधिकसे अधिक सौ करोड़ पतियोंके अधीन हो गया है।

यह धनिकतंत्र वर्त्तमान आर्थिक जगत्की सबसे बड़ी विशेषता है। लोग समझते हैं कि पार्लिमेण्ट हमारा शासन करती है, जो वस्तुतः हमारे ही प्रतिनिधियोंकी संस्था है। किन्तु यह उनका भ्रम है। वे नहीं जानते कि कहनेके लिए देशमें प्रतिनिधि-शासन-प्रणालीके जारी रहने पर भी दर असलमें ये मुट्ठीभर बैंक-सञ्चालक ही सारी आर्थिक नीतिका नियंत्रण करते हैं और सैनिक मामलों तथा परराष्ट्र-नीतिपर

भी काफी प्रभाव डालते हैं। यद्यपि साधारणतया जनताको इन धनपतियोंका नाम मालूम नहीं होने पाता, फिर भी देशकी प्रायः सारी पूँजी तथा उत्पत्तिके अधिकांश साधनों और कच्चे मालके उद्गम-स्थानोंका नियंत्रण प्रधानतया उन्हींके हाथमें रहता है।

साम्राज्यवादकी तीसरी विशेषताका उल्लेख लेनिनने इन शब्दोंमें किया है—"अब व्यावसायिक वस्तुओंके निर्यातकी अपेक्षा पूँजीके निर्यातको विशेष महत्त्व प्राप्त हो गया है।"

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, पूँजीवादकी प्रारंभिक अवस्थामें स्वच्छन्द प्रतिद्वन्द्विताका ज़ोर था। उस समय प्रायः व्यापारकी वस्तुएँ ही बाहर भेजी जाती थीं, किन्तु बादमें जब पूँजीवादके अधिक विकास होने पर व्यावसायिक क्षेत्रमें पूर्णाधिकारकी प्रवृत्ति बढ़ने लगी, तब उद्योग-प्रधान राष्ट्रोंने तैयार मालके बाहर भेजनेकी उतनी चेष्टा न कर पूँजीके निर्यातकी ओर ही विशेष ध्यान देना शुरू किया। औद्योगिक उन्नतिमें ब्रिटेन ही सबसे आगे हुआ, क्योंकि यंत्रादिका प्रयोग और पुतलीघरों या लोहेके बड़े बड़े आधुनिक कारखानोंकी स्थापना सबसे पहले वहीं हुई थी। उन्नीसवीं शताब्दीमें तो उसका व्यापार इतना बढ़ गया था कि संसारके प्रायः सभी देशोंमें उसके कारखानों द्वारा तैयार की गयी वस्तुएँ धड़ाधड़ बिकती थीं। सन् १८७० तक यही अवस्था रही, किन्तु अब शीघ्र ही फ्रांस, जर्मनी, अमेरिका इत्यादि देशोंने भी औद्योगिक क्षेत्रमें प्रवेश किया। बीसवीं शताब्दीका आरंभ होते होते समस्त व्यावसायिक जगत्पर इन्हीं दो चार देशोंका पूर्णाधिपत्य स्थापित हो गया। इनकी इस अभूतपूर्व औद्योगिक उन्नति-

का एक परिणाम यह हुआ कि इनके पास आवश्यकतासे अधिक पूँजी इकट्ठी हो गयी।

हम देखते हैं कि कारखाने स्थापित करने, रेलकी सड़क या नहर बनवाने और खानोंसे लोहा कोयला इत्यादि निकलवानेमें जो रुपया लगाया जाता है, उससे प्रायः पूँजीपतियोंको इतना अधिक लाभ होता है कि समस्त आवश्यकताओंकी पूर्त्ति हो जानेके बाद भी काफी रक़म बच जाती है, जो पुनः इन्हीं उत्पादक कामोंमें लगा दी जाती है। इस तरह मुनाफेकी जो रक़म बार बार किसी उद्योग-व्यवसायमें लगायी जाती है, उसकी एक सीमा होती है। इस सीमाको पार करनेके बाद उक्त रक़म लगानेसे फिर उसपर विशेष लाभ नहीं होता। ऐसी अवस्थामें उन देशोंने अपनी बची हुई पूँजीको पिछड़े हुए देशोंको भेजना शुरू किया, क्योंकि वहाँ इसका प्रयोग करनेसे विशेष लाभ होनेकी संभावना थी। ऐसे देशोंमें एक तो मजदूरी सस्ती रहती है, दूसरे ज़मीनके लिए भी ज़्यादा दाम नहीं देना पड़ता और कच्चा माल भी सुलभ रहता है। सन् १९१४ तक ब्रिटेन, फ्रांस, और जर्मनीकी कितनी पूँजी विदेशोंमें लगी हुई थी, यह नीचेकी तालिकासे स्पष्ट है—

विदेशोंमें लगी हुई पूँजी (अरब फ्रांकोंमें)

	ब्रिटेन	फ्रांस	जर्मनी
१८६२	३-६	...	...
१८७२	१५	१०	...
१८९३	४२	२०	?

	ब्रिटेन	फ्रांस	जर्मनी
१९०२	६२	२७-३७	१२-५
१९१४	७५-१००	६०	४४

इन अंकोंको देखनेसे पता चलता है कि शुरू शुरूमें पूँजीके निर्यातकी गति उतनी तीव्र नहीं थी, जितनी बीसवीं शताब्दी-का आरंभ होते होते हो गयी। सन् १८६२ में ब्रिटेनकी कुल ३.६ अरब फ्रांककी पूँजी ही विदेशोंमें लगी हुई थी, किन्तु सन् १९१४ में उसकी तादाद १०० अरबके लगभग हो गयी अर्थात् ५२ वर्षके भीतर ही वह क़रीब तीस गुनी हो गयी। उसी प्रकार विदेशोंमें लगी हुई फ्रांस और जर्मनीकी पूँजी भी सन् १९१४ तक क्रमशः ४२ और १२ वर्षोंमें पँचगुनी तथा चौगुनी हो गयी।

जब कोई देश बहुत अधिक औद्योगिक उन्नति कर लेता है, तब वहाँ नये नये उद्योग-व्यवसायोंके खोलनेमें रुपया लगाना उतना लाभजनक नहीं होता, जितना पिछड़े हुए देशोंमें लगानेसे होता है। इसी तरह जो रुपया विदेशोंको ऋणके रूपमें दिया जाता है, उससे भी विशेष लाभ होता है, जैसा कि "डाइ बैंक" नामक बर्लिनके मासिकपत्रकी अक्टूबर १९१३ की संख्यासे लिये गये इस अवतरणसे स्पष्ट है—

"... स्पेनसे बालकन देशतक, रूससे अर्जेण्टाइनतक, ब्रेज़िलसे चीनतक बहुतसे देश॰ ऋणके तौरपर रुपया माँग रहे हैं। लेन-देनके बाज़ारकी अवस्था इस समय सन्तोषजनक नहीं है और राजनीतिक भविष्य भी तिमिराच्छन्न है, किन्तु फिर भी कोई देश, जिसके पास रुपया है, ऋण देना अस्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि उसे इस बातका डर लगा हुआ है

कि यदि मैं नहीं देता तो और कोई देश दे देगा और उसके बदलेमें बहुत सी सुविधाएँ प्राप्त कर लेगा। इस तरहके लेनदेनमें ऋण-दाता राष्ट्रको कोई न कोई विशेष लाभ अवश्य होता है—या तो उसके साथ कोई विशेष सुविधा-जनक व्यापारिक सन्धि कर ली जाती है या कोयलेकी खानसे कोयला निकालने अथवा एकाध बन्दरगाह बनानेका ठेका दे दिया जाता है या फिर उसे कोई खास रियायत देने अथवा सैनिक सामग्री खरीदनेकी शर्त कर ली जाती है।"

इस प्रकार जो पूँजी विदेशोंको भेजी जाती है, चाहे ऋणके तौरपर या अन्य किसी काममें लगानेके लिए, उससे भेजनेवाले देशको बड़ा लाभ होता है। सन् १८८६ में एक फ्रांसीसी अर्थशास्त्रज्ञने कहा था कि "जिस पूँजीपर फ्रांसमें कृषिसुधारके काममें लगानेसे ४ या ५ प्रतिशत लाभ होगा, उसीपर संयुक्त राज्य अमेरिका, कनैडा, लाप्लेटा, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्डमें १५ या २० प्रतिशततक लाभ हो सकता है।" यही कारण है कि वर्तमान युगके औद्योगिक राष्ट्रोंमें बाहर पूँजी भेजनेकी प्रवृत्ति बराबर बढ़ती जा रही है। संसारमें ऐसे कई देश हैं जहाँके निवासी अत्यन्त ही दरिद्र हैं। "सभ्यता"की दृष्टिसे वे इतने पिछड़े हुए हैं, उनकी आवश्यकताएँ इतनी कम हैं, कि उनमें उद्योगप्रधान देशों द्वारा तैयार की गयी वस्तुएँ बहुत ही कम खप सकती हैं; किन्तु इन दरिद्र देशोंमें भी पूँजी भेजने और उसे किसी लाभजनक काममें लगानेकी गुंजाइश बराबर रहती है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, ऐसे देशोंमें भी रेलें निकाली जा सकती हैं, किले बनाये जा सकते हैं या सैनिक महत्त्वके अन्य कार्य किये जा सकते हैं। पूँजीके निर्यात-

का एक मुख्य परिणाम यह होता है कि भिन्न भिन्न राष्ट्रोंमें सैनिकवादका ज़ोर बढ़ने लगता है, जिससे साम्राज्यवादके प्रसारमें विशेष सहायता मिलती है।

अब साम्राज्यवादकी चौथी विशेषताको लीजिए। लेनिनके कथनानुसार यह वह अवस्था है जब "पूँजीपतियोंकी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ चारो ओर अपना पूर्णाधिकार स्थापित कर सारे संसारको आपसमें बाँट लेती हैं।"

व्यावसायिक क्षेत्रमें पूर्णाधिकारकी प्रवृत्तिका वर्णन करते हुए हम लिख चुके हैं कि पहले भिन्न भिन्न देशोंमें अलग अलग व्यावसायिक गुटोंकी स्थापना की जाती है, जो देशके भीतर होनेवाले समस्त वाणिज्य-व्यवसायको आपसमें बाँट लेते हैं। इसके बाद इसी तरीक़ेपर अन्तर्राष्ट्रीय गुट क़ायम किये जाते हैं और परस्पर सलाह करके व्यावसायिक दृष्टिसे सारे संसारका विभाजन कर लिया जाता है। इस प्रकार एकदेशीय पूर्णाधिकारके स्थानमें अब सर्वदेशीय वृहत् पूर्णाधिकार स्थापित करनेका प्रयत्न किया जाता है।

लेनिनने बिजलीके कारखानोंका उदाहरण लेकर दिखलाया है कि किस प्रकार जर्मनी और अमेरिकाकी दो बड़ी कम्पनियोंने सन् १९०७ तक सारे संसारके बिजलीके व्यवसायपर अपना इजारा क़ायम कर लिया था। पहले जर्मनीमें बिजलीके छोटे मोटे अनेक कारखाने थे, किन्तु सन् १९०० के आर्थिक संकटके बाद जब बड़ी बड़ी कम्पनियोंके गुट कायम होने लगे, तब बैंकोंने छोटी कम्पनियोंको इस विपन्नावस्थामें मदद देनेसे इनकार कर दिया। परिणाम यह हुआ कि उनमेंसे बहुतोंका दिवाला निकल गया। जो बाकी बचीं, वे भी बड़ी

कम्पनियोंमें संभुक्त हो गयीं। सन् १९०८ के लगते लगते जर्मनीके कुल विद्युत् कारखाने एक या दो गुटोंमें बँट गये। सुप्रसिद्ध जनरल इलेक्ट्रिक कम्पनीके गुटमें लगभग २०० कारखाने शामिल थे। इसी प्रकार अमेरिकामें भी बिजलीके कारखानोंके गुट बन गये। १९०७-०८ तक अमेरिका और जर्मनीके इन गुटोंने प्रायः सारे संसारको आपसमें बाँट लिया। बिजलीके व्यावसायिक गुटोंकी तरह तैल, चीनी, लोहा, व्यापारी जहाजों इत्यादिके व्यवसायमें भी अन्तर्राष्ट्रीय गुट स्थापित हो गये।

व्यावसायिक गुट स्थापित करनेकी आवश्यकता क्यों पड़ती है, इसकी ओर हम पहले ही संकेत कर चुके हैं। गुट स्थापित हो जाने पर खुली प्रतिद्वन्द्विता दूर हो जाती है, तब वस्तुओंका मनमाना मूल्य निर्धारित कर यथेष्ट लाभ उठाया जा सकता है। जब भिन्न भिन्न देशोंके व्यवसायमण्डलोंमें भी परस्पर प्रतियोगिता होने लगती है, तब पुनः लाभकी मात्रा घट जाती है। ऐसी अवस्थामें अधिक लाभ उठा सकनेके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय-संघ स्थापित कर सारा संसार आपसमें बाँट लिया जाय और यह तै कर लिया जाय कि एक संघ दूसरे संघके क्षेत्रमें हस्तक्षेप न करे और न उसके साथ किसी तरहकी प्रतिद्वन्द्विता प्रारम्भ करे।

आपसमें इन सब बातोंके सम्बन्धमें सलाह करने और भिन्न भिन्न क्षेत्रोंका उचित रूपसे बँटवारा करनेके लिए अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन आमंत्रित किये जाते हैं। इनकी कारग्वाई कभी कभी बिलकुल गुप्तरूपसे की जाती है, क्योंकि इनमें

जिन बातोंपर विवाद होता है उनके प्रकट हो जानेसे सर्व-साधारणके मनमें सम्मेलनके सदस्योंके प्रति असन्तोष या घृणाका भाव उत्पन्न हो जानेकी सम्भावना रहती है। सन् १९१३ में फौलाद और लोहेके व्यवसायियोंका जो सम्मेलन ब्रूसेल्ज़में हुआ था, उसमें कोई चार सौ प्रतिनिधि उपस्थित थे, किन्तु उसमें एक भी संवाददाताको प्रवेश करनेकी अनुमति नहीं दी गयी थी।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, व्यावसायिक गुटोंकी स्थापनाके बाद भिन्न भिन्न व्यवसायियोंकी प्रतिद्वन्द्विता तो दूर हो जाती है, किन्तु कभी कभी इन गुटोंमें ही आपसमें मुठभेड़ होने लगती है। इसीसे एक दूसरेकी बातें सुनकर और पारस्परिक हितका खयाल रखते हुए समझौतेका मार्ग ढूँढ़ निकालनेके लिए अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन करनेकी आवश्यकता होती है। इन सम्मेलनोंमें बहुत वादविवादके पश्चात् इस बातका निश्चय किया जाता है कि संसारका कौनसा भाग किस गुटके प्रभाव-क्षेत्रमें रखा जाय अथवा संसारके उद्योग-व्यवसायोंका कितना अंश किस देशके व्यवसाय-मण्डलोंको सौंपा जाय। देशोंके बँटवारेके साथ साथ इन सम्मेलनोंमें वस्तुओंके मूल्यकी सीमा भी निर्धारित कर दी जाती है। प्रत्येक गुटको इस सीमाका पालन करना पड़ता है। कोई उससे कम मूल्यपर अपनी चीज़ें नहीं बेच सकता।"

सन् १९०४ में रेलके अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसायसंघके सदस्योंका जो सम्मेलन हुआ था, उसमें संसारके व्यवसायका प्रत्येक देशका अंश निश्चित कर दिया गया था। रेलकी सामग्री सम्बन्धी विदेशी व्यापारमें ब्रिटेनका भाग ५३.५ प्रति शत,

ज़र्मनीका २८.८ तथा बेलजियमका १७.७ प्रति शत स्वीकृत किया गया था। छः वर्ष बाद यह अनुपात बदल कर ब्रिटेनके लिए ३७ प्रति शत और जर्मनीके लिए २० प्रति शत कर दिया गया, क्योंकि अब फ्रांस इत्यादि देश भी इस संघमें शामिल हो गये थे। सन् १९१२ में इस निर्णयमें पुनः परिवर्त्तन हुआ और प्रत्येक देशका अंश नूतन रूपसे निर्धारित किया गया। इसी प्रकार सन् १९०९ में जस्तेके व्यवसायका जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसायसंघ स्थापित हुआ था, उसने भी सारे संसारको इन पाँच देशोंमें बाँट दिया था, ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस, बेलजियम, और स्पेन।

कुछ लेखकोंने यह दिखलानेकी चेष्टा की है कि इस तरहके अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय-संघोंकी स्थापनासे संसारमें स्थायी शान्तिकी जड़ पक्की होती है। उनका कहना है कि इन्हीं संघोंके कारण संसारके बाज़ारोंमें उस भीषण प्रतियोगिताकी सम्भावना दूर हो जाती है, जिसकी प्रेरणासे दो या दोसे अधिक देशोंमें प्रायः युद्ध छिड़ जानेकी नौबत पहुँचती है। इस सम्बन्धमें थोड़ासा विचार करनेसे ही मालूम हो जायगा कि इस कथनमें कोई तथ्य नहीं है। व्यावसायिक गुटों या अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय-संघोंकी स्थापना केवल इसीलिए की जाती है, जिसमें उद्योग-व्यवसाय द्वारा अधिकसे अधिक लाभ उठाया जा सके। संसारके बाज़ारोंको आपसमें बांटनेका अभिप्राय केवल इतना ही है कि प्रतियोगिताके कारण व्यर्थ ही किसीको घाटा न उठाना पड़े और न बहुत कम मुनाफा उठाते हुए कठिनाइयोंका सामना करना पड़े। इससे स्पष्ट है कि जबतक व्यवसायियोंमें अत्यधिक लाभ उठानेकी प्रवृत्ति विद्यमान है और जबतक

पूँजीवादका झुकाव पूर्णाधिकार प्राप्त करनेकी ओर बना हुआ है, तबतक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय-संघोंकी स्थापनासे भी स्थायी शान्तिकी आशा नहीं की जा सकती। प्रत्येक देशका व्यावसायिक गुट मन ही मन यह मनाया करता है कि यदि सारे संसारका व्यवसाय मेरे ही अधीन हो जाय तो अच्छा हो। ऐसी अवस्थामें चिरकाल-व्यापी शान्तिकी आशा करना व्यर्थ है।

सन् १९१० में जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ था, उसमें रेलोंके निर्यातका ४.५ प्रति शत हिस्सा फ्रांसके व्यावसायिक गुटके लिए निर्धारित किया गया था। १९१२ में फ्रांसके आग्रह करने पर उसका हिस्सा दुगुना कर दिया गया, किन्तु इतनेसे भी उसके लौह-व्यवसायियोंको सन्तोष नहीं हुआ। वे जर्मनीके अलसेस लोरेन प्रान्तपर क़ब्ज़ा करने की इच्छा करने लगे। लोहेके व्यवसायकी दृष्टिसे यह प्रान्त विशेष महत्त्वका है, क्योंकि यहाँपर लोहेकी कई बड़ी बड़ी खानें हैं। निदान गत महायुद्धकी समाप्तिके बाद वर्सैल्ज़की सन्धि द्वारा फ्रांसने इसे अपने अधिकारमें कर ही लिया।

बग़दाद रेलवेके सम्बन्धमें जो साझेकी कम्पनी थी, उसमें यद्यपि जर्मनोंकी ही प्रधानता थी, पर बेलजियन और फ्रेञ्च लोग भी उसमें शामिल थे। इस कम्पनीका सारा इतिहास ही इस बातका साक्षी है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय-संघ संसारकी शान्तिके रक्षक न होकर और उलटे शान्ति भंग करानेवाले ही होते हैं। कभी कभी तो इनके कारण प्रत्यक्षतः बड़े बड़े युद्धोंकी संभावना उपस्थित हो जाती है। मोरक्कोमें रेलोंका निर्माण करने, खानोंसे धातुएँ निकालने तथा अन्य सार्वजनिक

काम करनेके लिए फ्रांस और जर्मनीका जो व्यावसायिक गुट बना था, उससे यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है। इसमें फ्रांसके पूँजीपतियोंका भाग ६२ प्रति शत तथा जर्मन पूँजीपतियोंका २० प्रति शत रखा गया था। फ्रांसवाले चाहते थे कि मोरक्कोके आर्थिक शोषणका पूर्णाधिकार हमें ही मिल जाय और जर्मनीवाले भी चाहते थे कि हमारा हिस्सा बढ़ा दिया जाय। इस प्रश्नको लेकर सन् १९०५ तथा १९११ में युद्ध होते होते बचा और १९१४ के युद्धका भी एक कारण फ्रांस तथा जर्मनीका वह वैमनस्य था जो मोरक्कोके आर्थिक बँटवारेके सम्बन्धमें दोनों राष्ट्रोंमें उत्पन्न हो गया था।

लेनिनके कथनानुसार वर्तमान साम्राज्यवादकी अन्तिम विशेषता यह है—"बड़े बड़े पूँजीवादी राष्ट्रोंमें सारे संसारकी भूमिका बँटवारा पूर्ण रूपसे हो गया है।"

उन्नीसवीं शताब्दीके अन्ततक केवल पच्चीस वर्षके भीतर संसारके भिन्न भिन्न भागोंकी कितनी भूमि यूरोपके पूँजीवादी राष्ट्रोंमें बँट चुकी थी, इसका ब्यौरा सूपनकी पुस्तकके आधारपर नीचे दिया जाता है—

	१८७६ में	१९०० में
आफ्रिका	१०.८ प्रतिशत	९०.४ प्रतिशत
पोलीनेशिया	५६.८ ,,	९८.९ ,,
आस्ट्रेलिया	१०० ,,	१०० ,,
एशिया	५१.५ ,,	५६.६ ,,
अमेरिका	२७.५ ,,	२७.२ ,,

ऊपरके अंकोंसे स्पष्ट है कि १९ वीं शताब्दीका अन्तिम चरण समाप्त होते होते संसारके सभी भागोंपर अधिकार

किया जा चुका था। एशिया और अमेरिकामें जो बहुत सी भूमि अनधिकृत सी मालूम होती है, वह वस्तुतः ऐसी भूमि है जो पहलेसे ही किसी न किसी स्वतंत्र देशके अधीन रही हैं। ख़ाली ज़मीन तो १९ वीं सदीकी समाप्ति पर कहीं बची ही नहीं, जिसका बँटवारा किया जा सके। अब तो केवल यही हो सकता है कि एक देशके अधीन जो भूमि है, उसे दूसरा छीन ले और दूसरेकी ज़मीनपर कोई तीसरा ही देश अधिकार कर ले। जहाँतक ज़मीनके बँटवारेका प्रश्न था, वह सन् १९०० तक ही पूरा हो चुका था।

पचास वर्ष पहले ब्रिटेन, फ्रांस, और रूसको छोड़ कर अन्य किसी देशने उपनिवेशोंकी स्थापनाका कार्य शुरू भी नहीं किया था। उस समय और उसके बाद भी कुछ वर्षों तक आफ्रिका तथा एशियाके बड़े बड़े भूभागोंपर किसी अन्य राज्यसे युद्ध ठाने विना ही क़ब्ज़ा किया जा सकता था। बड़े राष्ट्रोंकी बात जाने दीजिए, इटली और बेलजियमके सदृश शक्तिहीन या छोटे देशोंने भी क्रमशः उत्तरी आफ्रिकाके एक भाग तथा कांगोपर अधिकार कर लिया, किन्तु बीसवीं शताब्दीका आरंभ होते होते यह स्थिति बदल गयी। अब बिना युद्धके किसी भूभागपर अधिकार करना कठिन हो गया, क्योंकि इस समयतक प्रायः प्रत्येक अनधिकृत भूभागपर किसी न किसी साम्राज्यवादी राष्ट्रका प्रभुत्व स्थापित हो चुका था अथवा वह उसके प्रभाव-क्षेत्रके भीतर आ चुका था। ऐसी अवस्थामें यदि फ्रांस या जर्मनी किसी भूभागपर अधिकार करनेकी चेष्टा करते, तो उनके लिए एक दूसरेकी या ब्रिटेन आदि अन्य राष्ट्रोंकी भूमिपर पैर रखना

अनिवार्य हो जाता, जिससे युद्धकी संभावना उपस्थित हो जाती। बेलजियम या हालैण्डके सदृश लघु राष्ट्रोंके उपनिवेशों-की सीमाका उल्लंघन करना भी खतरेसे खाली नहीं था, क्योंकि इनका समर्थन करनेके लिए अन्य बड़े राष्ट्र अपने अपने स्वार्थ-की भावनासे प्रेरित होकर हमेशा तैयार रहते थे। यदि जर्मनी बेलजियमके अधीन भूमिका कोई अंश दबा लेनेका प्रयत्न करता, तो फ्रांस उसका विरोध करनेमें बेलजियमका साथ देता, क्योंकि जर्मनीके प्रभावकी वृद्धिको वह अपने हितके लिए खतरनाक समझता था। इसी तरह यदि फ्रांस पोर्तगालके उप-निवेशोंको हड़प लेनेकी चेष्टा करता, तो ब्रिटेन पोर्तगालकी तरफसे लड़नेके लिए तैयार हो जाता।

इस प्रकार लेनिनके मतानुसार साम्राज्यवाद पूँजीवादके चरम विकासकी वह वर्त्तमान अवस्था है (१) जब बड़े बड़े कार-खानों द्वारा अधिक वस्तुओंका एक साथ उत्पादन और पूँजीका एकत्रीकरण यहाँतक बढ़ गया है कि इजारेको स्थिति उत्पन्न हो गयी है, (२) जब उद्योग-व्यवसायमें भी बैंकोंकी पूँजीके घुस जानेके कारण आर्थिक जगत्में एक तरहका धनिकतंत्र स्थापित हो गया है, (३) जब पूँजीके निर्यातको विशेष महत्त्व प्राप्त हो गया है, (४) जब पूँजीपतियोंकी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था-ओंने चारों ओर अपना पूर्णाधिकार स्थापित कर सारे संसा-रको आपसमें बाँटना शुरू कर दिया है और (५) जब बड़े बड़े पूँजीवादी राष्ट्रोंमें समस्त संसारकी भूमि बाँटी जा चुकी है।

वर्त्तमान साम्राज्यवादके सम्बन्धमें लेनिनने अपनी पुस्त-कमें एक बातका उल्लेख और किया है। वह है पूँजीवादका

परोपजीवन। हम देखते हैं कि साम्राज्यवादका प्रसार होनेपर इनेगिने उद्योग-प्रधान राष्ट्रोंमें ही अधिकांश पूँजी इकट्ठी हो जाती है। इन देशोंमें शीघ्र ही ऐसे धनिक-वर्गकी सृष्टि होने लगती है जो केवल व्याजपर या कम्पनियोंके हिस्सोंपर मिलनेवाले मुफ्तके मुनाफेपर जीवन बसर करता है। इस वर्गके लोग मेहनत-मजदूरी नहीं करते और न स्वयं कोई व्यापार ही करते हैं। पूँजीके निर्यातसे, जो साम्राज्यवादका एक विशेष लक्षण है, इन लोगोंका परोपजीवन और भी ज्यादा बढ़ जाता है। देशकी उत्पादनशक्ति बढ़ानेमें इनसे कोई सहायता नहीं मिलती। इनके कारण सारे देशपर यह कलङ्क लग जाता है कि वह बाहरके थोड़ेसे देशों या उपनिवेशोंके परिश्रमपर आश्रित होकर जीवन बिताता है।

हाब्सनके कथनानुसार सन् १८९३ में ब्रिटिश संयुक्त-राज्यकी समस्त पूँजीका १५ प्रतिशत भाग विदेशोंमें लगा हुआ था। बीसवीं शताब्दीके आरम्भमें बैंकोंमें जमा की गयी अथवा कम्पनियोंके कागज खरीदने या ऐसे ही अन्य कामोंमें लगायी गयी पूँजीसे इंग्लैण्डको ९–१० करोड़ पौण्डकी आमदनी हुई थी, जब कि समस्त आयात-निर्यात-व्यापारसे उसे कोई १८० लाख पौण्डकी ही आय हुई। *अर्थात् केवल व्याज या मुफ्तके मुनाफेपर जीवन बितानेवालोंकी आमदनी इंग्लैंडके विदेशी वाणिज्यसे होनेवाली आयसे पँचगुनी थी! सन् १८६५ से

---

* सन् १९२९ में ब्रिटिश बीमा कम्पनियों, बैंकों इत्यादिका जो कारबार चलता था, उससे १९॥ करोड़ पौण्डकी और विदेशोंमें लगी हुई पूँजीसे २७ करोड़ पौण्डकी आमदनी हुई (देखिये, ट्रिब्यून १६–९–१९३२)—लेखक।

१८९८ तक ब्रिटेनकी राष्ट्रीय आय लगभग दुगुनी हो गयी, किन्तु उसी समयके भीतर विदेशोंमें लगी हुई पूँजी इत्यादिसे होनेवाली आय नौगुनी बढ़ गयी। इंग्लैण्डके सिवा अमेरिका, फ्रांस और बेलजियम भी ऐसे देश हैं जहाँ पूँजीके निर्यातकी मात्रा बहुत बढ़ गयी है। युद्धके ठीक पहलेतक जर्मनीमें भी यह प्रवृत्ति बराबर बढ़ती जा रही थी। पूँजी बाहर भेजनेकी इच्छाका एक परिणाम यह होता है कि जिन जिन देशोंको पूँजी भेजी जा सकती है, उनके सम्बन्धमें उद्योग-प्रधान पूँजीवादी राष्ट्रोंमें प्रतिद्वन्द्विता होने लगती है, जिसके कारण कभी कभी शान्ति-भंग होनेकी सम्भावना भी उपस्थित हो जाती है।

बीसवीं सदीके आरम्भतक औद्योगिक राष्ट्रोंमें ब्रिटेनको सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। इधर कई वर्षोंसे उसके मालका निर्यात अपेक्षाकृत कम होता जा रहा है। अब वह प्रमुख औद्योगिक राष्ट्रके बजाय प्रमुख ऋणदाता राष्ट्र बनता जा रहा है। इस प्रवृत्तिके कारण उसकी साम्राज्यलिप्सा और भी बढ़ रही है। बेकार पूँजी प्रायः ऐसे देशोंको ही भेजी जाती है जो ऋण देनेवाले राष्ट्रके अधीन हों या जिनपर उसका प्रभाव हो। वह इन देशोंको हमेशा मजबूत जंजीरोंसे जकड़े रहना चाहता है, क्योंकि एक तो उसे यह भय बना रहता है कि इनके स्वतंत्र हो जाने पर कहीं रुपया मारा न जाय, दूसरे उसे इस बातकी भी फिक्र रहती है कि यदि ये देश हाथसे निकल जायँगे, तो बेकार पड़ी हुई पूँजी लगाकर पर्याप्त लाभ उठा सकनेका ऐसा अच्छा क्षेत्र और कहाँ मिलेगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्त्तमान साम्राज्यवादके कारण

परोपजीवियों अर्थात् उन लोगोंकी संख्या बढ़ रही है जो बैंकमें रुपया जमा कर या किसी कम्पनीके हिस्से खरीद कर मौज उड़ाते हैं। न वे खेती करते हैं, न व्यापार और न कहीं नौकरी करते हैं। जब किसी देशमें ऐसे लोगोंकी संख्या बहुत बढ़ जाती है, तब सारे समाजपर उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। पूँजीपतियोंके सिवा अन्य वर्गोंके लोग भी कम्पनी-कागज़ ख़रीदनेमें अपनी बचतका रुपया लगाने लगते हैं और अप्रत्यक्षरूपसे साम्राज्यवादके समर्थक बन जाते हैं। फ्रांसके जिन श्रमजीवियों तथा कृषकोंने मोरक्कोको दिये गये ऋणके बाण्ड (ऋणपत्र) खरीदे थे, उन्हें इस बातकी चिन्ता बराबर बनी रहती थी कि मोरक्को कहीं फ्रांसके प्रभाव-क्षेत्रसे बाहर न हो जाय, इसीसे वे सब भी हृदयसे फ्रांसीसी नीतिकी सफलता चाहते थे। तात्पर्य यह है कि साम्राज्यवादकी यह प्रवृत्ति समाजके उच्चवर्गोंको ही नहीं, मध्य और निम्नवर्गोंको भी नैतिक अधःपातकी ओर ले जाती है। ब्रेस्ट और वर्सैल्ज़की सन्धिमें जैसी शर्त्तें रखी गयी थीं, उनपर दृष्टिपात करनेसे ही हमारे कथनकी सत्यता प्रमाणित हो जायगी। यदि साम्राज्यवादी शासकों और पूँजीपतियोंके अतिरिक्त मध्यश्रेणीवालोंमें भी साम्राज्यवादका विष फैल न चुका होता, तो ऐसी अपमानजनक अमानवोचित एवं निष्ठुरतापूर्ण शर्त्तें कदापि न रखी जातीं।

सातवाँ अध्याय

उपनिवेशोंकी आवश्यकता

जब सत्रहवीं और अठारहवीं सदी ईसवीमें बड़े बड़े जहाज समुद्रोंपर चलने लगे और स्थल-मार्गोंमें भी पहलेकी अपेक्षा बहुत कुछ सुधार हो गया, तब प्रचुर मात्रामें माल एक देशसे दूसरे देशोंको पहुँचानेमें अधिक सुभीता होने लगा। इधर कारखानोंमें भी इतना अधिक माल तैयार होने लगा कि उससे देशके बाज़ार पट गये और विदेशी बाज़ारोंकी आवश्यकता प्रतीत होने लगी। अपने अपने उद्योग-धन्धोंको प्रोत्साहन देनेकी गरज़से यूरोपके प्रायः प्रत्येक देशने बाहरसे आनेवाली चीज़ोंपर आयात-कर लगा दिये। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक उद्योग-प्रधान देशको यूरोपके बाज़ारोंसे निराश होकर उपनिवेशोंकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करना पड़ा।

औद्योगिक दृष्टिसे उपनिवेशोंकी आवश्यकता उत्पन्न होनेके प्रधानतया दो कारण थे। एक तो औद्योगिक राष्ट्रोंमें जो राशि राशि माल तैयार होता था, उसे खपानेके लिए तथा कारखानोंके निमित्त पर्याप्त मात्रामें कच्चा माल प्राप्त करनेके लिए उपनिवेशोंपर प्रभुत्व स्थापित करना आवश्यक था। इसके सिवा जिन लोगोंको अपने ही देशमें रोज़गार करने या सन्तोषजनक रूपसे अपनी रोटी कमानेमें दिक़्क़त होती थी, उन्हें बसानेके लिए भी उपनिवेशोंकी आवश्यकता प्रतीत होने लगी। सन् १८४० तक स्वदेश छोड़ कर बाहर जा बसने-

वालोंकी संख्या काफी बढ़ गयी। अगले दस वर्षोंमें आयर-लैंण्ड, ग्रेट ब्रिटेन और जर्मनीसे हजारों-लाखों मनुष्य विशेष-कर संयुक्त राज्य अमेरिकामें जाकर बस गये। १८४० से १८७० तक वहाँ आबाद होनेवालोंकी संख्या ६० लाख तक जा पहुँची। कुछ लोग कनैडा, दक्षिण अमेरिका और आस्ट्रे-लियाकी ओर भी गये। ये देश विशेष रूपसे कृषिकी ओर ही ध्यान देते थे और अपने उपयोगके बाद जो कच्चा माल या खाद्य सामग्री बच जाती थी उसे यूरोप भेज देते थे। इसके बदलेमें यूरोपके देश अपने यहाँका तैयार माल इन देशोंको भेज दिया करते थे। उष्णता-प्रधान जिन देशोंमें, उदाहर-णार्थ 'डच ईस्ट इण्डीज़' तथा भारतमें, गोरे लोगोंके लिए सामूहिक रूपसे आबाद होना संभव न था, वहाँ भिन्न भिन्न स्थानोंमें व्यापारिक कोठियाँ स्थापित कर दी गयीं। इसके बाद धीरे धीरे आस पासके देशी राज्योंकी भूमिपर भी क़ब्ज़ा कर लिया गया।

किसी भूभागमें जाकर आबाद होना या उसे जीत लेना उतना कठिन नहीं था, जितना उसपर ठीक तरहसे शासन करना या उससे पर्याप्त आर्थिक लाभ उठाना। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, यूरोपके देशोंने एक दूसरेके वाणिज्यके प्रति आयातकर या अन्य प्रतिबन्ध लगा रखे थे। यही नीति अब उप-निवेशों तथा व्यापार-क्षेत्रोंके सम्बन्धमें बर्त्ती जाने लगी। प्रत्येक देश उपनिवेशोंके वाणिज्यको हथिया लेनेका प्रयत्न करता था और इस बातकी चेष्टा करता था कि उपनिवेशोंमें ऐसे ही उद्योगोंकी उन्नति हो जिनसे उसका लाभ होनेकी विशेष संभावना हो। विजित देशोंके वाणिज्य-व्यवसायका नियंत्रण

करने और उनका शासनकार्य चलानेका दोहरा काम शासकोंके लिए अत्यन्त दुष्कर प्रतीत होने लगा। एक तो विजित देश प्रायः प्रधान देशसे बहुत दूर पड़ते थे, दूसरे वहाँका शासन करनेवाले कर्मचारियोंमें जो घूसखोरी या नीतिभ्रष्टता फैलती जा रही थी, उसे रोकना कठिन था, इसीसे उनमें गड़बड़ीका उत्पन्न होना अनिवार्य हो गया। १७६० से १८२५ तक जो बलवे हुए और जो लड़ाइयाँ लड़ी गयीं, उनसे यह स्पष्ट प्रतीत होने लगा कि उपनिवेशोंसे लाभकी अपेक्षा हानि ही अधिक है। सन् १७५६ से १७६३ के सप्तवर्षीय युद्धके परिणाम स्वरूप फ्रान्सका औपनिवेशिक साम्राज्य प्रायः नष्ट हो गया या ब्रिटेनके हाथमें चला गया। १७७६ में ब्रिटेनके अमेरिकन उपनिवेश स्वतंत्र हो गये और सन् १८२२ में ब्रेज़िल पोर्तगालकी अधीनतासे निकल गया। उन्नीसवीं शताब्दीके प्रथम चरणमें दक्षिण अमेरिकावाले स्पेनके उपनिवेश भी उससे अलग होगये।

अब संयुक्त राज्य अमेरिकाकी देखादेखी सन् १८३७ में कनैडावालोंने भी विद्रोह कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप लार्ड डरहमकी रिपोर्टके बाद उसे स्वायत्त शासनका अधिकार दे दिया गया। धीरे धीरे आस्ट्रेलिया, केपकॉलोनी, न्यूज़ीलैण्ड आदि उपनिवेशोंकी भी स्वायत्त शासनकी माँग स्वीकृत करनी पड़ी। ब्रिटेनके उपनिवेशोंकी यह हालत देखकर फ्रांस, जर्मनी आदि देशोंकी यह धारणा हो गयी कि औपनिवेशिक साम्राज्यके कारण व्यर्थका कष्ट उठाना पड़ता है और उससे कोई विशेष लाभ नहीं होता। इस धारणाका परिणाम यह हुआ कि उपनिवेश स्थापित करनेकी नीति शिथिल पड़ गयी। ब्रिटेनने

बड़ी अनिच्छा प्रकट करनेके बाद ही १८४० में न्यूजीलैण्ड पर आधिपत्य स्थापित करना स्वीकार किया, जब उसे इस बातका विश्वास हो गया कि फ्रांस इसे हड़प लेना चाहता है। इसी प्रकार नेटाल भी बहुत कुछ आगापीछा करनेके बाद साम्राज्यमें मिलाया गया और फिज़ी द्वीपोंपर क़ब्ज़ा करनेसे दो बार इनकार कर दिया गया। जब पोर्तगालने मोज़ाम्बिक बेचनेकी इच्छा ज़ाहिर की, तब जर्मनीके प्रधानमंत्री बिसमार्क ने उसे ख़रीदना अस्वीकार कर दिया। सन् १८६८ में उसने वान रूनको जो पत्र भेजा था, उसमें साफ़ साफ़ लिखा था कि "उपनिवेशोंसे मातृभूमिको प्राप्त होनेवाले लाभोंकी बात बिलकुल भ्रमपूर्ण है। इंग्लैण्ड अपनी उपनिवेश-नीतिका परित्याग कर रहा है, क्योंकि उसके कारण उसे बहुत ख़र्च उठाना पड़ रहा है।" यही कारण है कि प्रशान्त सागरके सूलू टापूके सुलतानके अनुरोध करने पर भी उसने उसे जर्मनीके संरक्षणमें लेनेसे इनकार कर दिया था।

किन्तु उपनिवेश स्थापित करनेकी नीतिका विरोध अधिक दिनोंतक नहीं चला। पचास ही वर्षके बाद राजनीतिज्ञोंके विचार बदल गये। सन् १८७२ में इंग्लैण्डके प्रधान मंत्री डिज़राइलने अपने साम्राज्यवादी विचारोंकी घोषणा की। यह वही डिज़राइल था जिसने १८५२ में कहा था कि "उपनिवेश हमारी गर्दनसे लटकते हुए चक्कीके पत्थर हैं।"

इस विचार-परिवर्त्तनका कारण नूतन आर्थिक परिस्थिति थी। रुईके कपड़ों तथा लोहेकी चीज़ोंके कारखानोंने जो उन्नति कर ली थी, उसके साथ साथ रेलगाड़ियों तथा भाफकी सहायतासे चलनेवाले जहाज़ोंका प्रचार हो जाने-

के कारण औद्योगिक जगत्‌में आश्चर्यजनक परिवर्त्तन हो गया। ब्रिटेनके अतिरिक्त अब फ्रांस, जर्मनी, अमेरिका इत्यादि देशोंने भी औद्योगिक क्षेत्रमें विशेष उन्नति कर ली। सन् १८७० से १९०३ तक जहाँ ब्रिटिश संयुक्त राज्यमें लोहेकी उत्पत्ति ५९ लाख टनसे बढ़कर ८९ लाख ही हुई अर्थात् केवल डेढ़ गुनी बढ़ी, वहाँ जर्मनी और अमेरिकामें वह क्रमशः सातगुनी तथा १०॥ गुनी हो गयी (अर्थात् जर्मनीकी उत्पत्ति १४ लाख टनसे ९९ लाख और अमेरिकाकी १७ लाखसे १८० लाख टनतक पहुँच गयी)। अब यूरोपके बाज़ारोंको हथिया लेनेके लिए परस्पर प्रतियोगिता होने लगी, किन्तु प्रायः प्रत्येक राष्ट्र द्वारा संरक्षण-नीतिका अवलम्बन ग्रहण कर लिये जानेके कारण औद्योगिक राष्ट्रोंका ध्यान पुनः उपनिवेशोंकी ओर जाने लगा। फ्रांसीसी अर्थशास्त्रज्ञ लीराय-बोलियोने अपनी एक पुस्तकमें लिखा कि उपनिवेश स्थापित करना "फ्रांसके लिए जीवन-मरणका प्रश्न है। या तो आफ्रिकामें अपना राज्य बढ़ाकर फ्रांस एक महाशक्ति बन जायगा या फिर एक दो शताब्दियोंके भीतर ही उसकी गणना यूरोपके छोटे राज्योंमें की जाने लगेगी।" इसी प्रकार सन् १८९५ में सेसिल रोड्ज़ने अपने एक मित्रसे जो शब्द कहे थे, वे ध्यान देने योग्य हैं। उनके कथनका एक अंश यह है—

"कल मैं लन्दनके पूर्वी भागमें हुई बेकारोंकी सभामें गया था। वहाँ मैंने अनेक उत्तेजक भाषण सुने, किन्तु उन सबकी प्रधान पुकार यही थी—'हमें रोटी चाहिये, हम भूखे हैं।' घर लौटते समय मार्गमें मैंने जैसे जैसे इसपर विचार किया, वैसे वैसे साम्राज्यके महत्त्वके सम्बन्धमें मेरा विश्वास बढ़ता

गया। मैं जिस विचारका समर्थक हूँ, उससे इस सामाजिक प्रश्नका निपटारा भलीभांति हो सकता है। ब्रिटिश संयुक्त राज्यके चार करोड़ निवासियोंको गृह-युद्धसे बचानेके लिए हम लोगोंको, जो उपनिवेश-स्थापनाके पक्षमें हैं, चाहिये कि हम उन नये नये भूभागोंपर क़ब्ज़ा कर लें, जहाँ इस देशकी बढ़ती हुई आबादीका एक भाग जाकर बस सके और जहाँ हमारे कारखानों द्वारा तैयार किये गये मालकी खपत हो सके। जैसा कि मैं हमेशासे कहता आ रहा हूँ, साम्राज्य हमारे लिए पेटका सवाल है। यदि आप गृहयुद्धसे बचना चाहते हों, तो आपके लिए साम्राज्यवादी बनना आवश्यक है।"

साधारण तौरसे यह कहा जा सकता है कि इस नूतन औपनिवेशिक नीति अथवा साम्राज्यवादका आरंभ सन् १८७५ के आसपास ही हुआ। यह वह समय था जब प्रायः प्रत्येक देशमें व्यावसायिक क्षेत्रसे स्वच्छन्द प्रतियोगिता दूर हो रही थी और उसका स्थान पूर्णाधिकारकी प्रवृत्ति ग्रहण कर रही थी। हम लेनिनके मतका उल्लेख करते हुए पहले लिख ही आये हैं कि पूँजीवादकी उस अवस्थाका नाम साम्राज्यवाद है जब स्वच्छन्द प्रतियोगिताका स्थान पूर्णाधिकार स्थापित करनेकी प्रवृत्ति ग्रहण कर लेती है, अतः इस युगमें उपनिवेशोंकी स्थापना और उनका व्यवसाय-वाणिज्य हथियानेकी ओर विशेष ध्यान देना स्वाभाविक ही है। सन् १८८४ से १९०० तकके जो अंक हाब्सनने अपनी पुस्तकमें दिये हैं, उनसे प्रकट होता है कि इस समयके भीतर नये भूभागोंपर क़ब्ज़ा करनेकी विशेष रूपसे चेष्टा की गयी। अंकोंकी सूची नीचे दी जाती है—

देश	अधिकृत भूमि, वर्गमील	आबादी
ब्रिटेन	३७ लाख	५७० लाख
फ्रांस	३६ ,,	३६० ,,
जर्मनी	१० ,,	१४७ ,,
बेलजियम	९ ,,	३०० ,, (?)
पोर्तगाल	८ ,,	९० ,,

पृष्ठ ८१ पर हम जो तालिका दे चुके हैं, उससे प्रकट ही है कि सन् १९०० तक संसारके प्रायः सभी भागोंपर क़ब्ज़ा किया जा चुका था। यदि उस समय कोई कसर रह भी गयी हो, तो उसकी पूर्त्ति सन् १९१४ तक हो गयी, जैसा कि निम्न-लिखित सूचीसे स्पष्ट हो जायगा—

देश	आबादी	उपनिवेशोंकी आबादी	योग
ब्रिटेन	४·६५ करोड़	३९·३५ करोड़	४४·०० करोड़
रूस	१३·६२ ,,	३·३२ ,,	१६·९४ ,,
फ्रांस	३·९६ ,,	५·५५ ,,	९·५१ ,,
जर्मनी	६·४९ ,,	१·२३ ,,	७·७२ ,,
सं.रा.अ.	९·७० ,,	·९७ ,,	१०·६७ ,,
जापान	५·३० ,,	१·९२ ,,	७·२७ ,,
	४३·७२	५२·३४	९६·११

अन्य देशों (हालैण्ड, बेलजियम इ०) के उपनिवेशोंकी आबादी …	४·५२
अर्द्धोपनिवेशोंकी आबादी (फारस, तुर्की, चीन)	३६·१०
अन्य स्वतन्त्र देशोंकी आबादी	२८·९२
संसारकी कुल आबादी	१६५·६६

उपनिवेशोंकी स्थापनामें सब देशोंने एक सी प्रगति नहीं

की। यद्यपि आबादी और क्षेत्रफलकी दृष्टिसे फ्रांस, जर्मनी, एवं जापानमें परस्पर ज्यादा अन्तर नहीं है, फिर भी फ्रांसके उपनिवेश जर्मनी और जापान दोनोंके उपनिवेशोंसे आबादीमें दुगुने और क्षेत्रफलकी दृष्टिसे तिगुने थे। इसका एक कारण यह था कि फ्रांस उस समय उद्योग-व्यवसायमें लगी हुई पूँजीके लिहाजसे जर्मनी और जापानकी अपेक्षा बहुत आगे बढ़ा हुआ था। आर्थिक कारणोंके सिवा औपनिवेशिक विकासपर भौगोलिक तथा अन्य बातोंका भी काफी प्रभाव पड़ता है।

वर्त्तमान औपनिवेशिक नीति सत्रहवीं या अठारहवीं शताब्दीकी औपनिवेशिक नीतिसे भिन्न है। वर्त्तमान समयमें प्रायः दो चार बड़े बड़े पूँजीपतियोंका समूह समस्त व्यावसायिक क्षेत्रपर पूर्णाधिकार स्थापित करनेका प्रयत्न करता है। पूर्णाधिकारकी स्थिति उस समय विशेष रूपसे सुदृढ़ हो जाती है, जब कच्चा माल प्राप्त होनेके सभी स्थानोंपर एक ही समूहका अधिकार स्थापित हो जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसायसंघ बराबर इस बातकी चेष्टा किया करते हैं कि उनके प्रतिद्वन्द्वियोंकी दाल किसी तरह न गलने पावे। औपनिवेशिक प्रभुत्व स्थापित हो जाने पर पूर्णाधिकारकी सफलता सुनिश्चित हो जाती है, क्योंकि तब प्रतिद्वन्द्वियोंके संघर्षका कोई भय नहीं रह जाता। ज्यों ज्यों पूँजीवादका विकास होता जाता है, त्यों त्यों कच्चे मालकी आवश्यकता बढ़ती जाती है और ज्यों ज्यों प्रतिद्वन्द्विता बढ़ती जाती है एवं कच्चा माल प्राप्त करनेके लिए संघर्ष होने लगता है, त्यों त्यों उपनिवेशोंपर कब्ज़ा करनेके लिए और भी जी तोड़कर प्रयत्न किया जाने लगता है।

कुछ लोगोंका ख़याल है कि खुले बाज़ारोंमें भी पर्याप्त कच्चा माल मिल सकता है, उसके लिए व्ययसाध्य उपनिवेश-स्थापनाकी नीति ग्रहण करना आवश्यक नहीं है। उनका यह भी विचार है कि केवल कृषिमें ही सुधार करनेसे कच्चे मालकी उत्पत्ति बढ़ायी जा सकती है। वे यह भूल जाते हैं कि वर्त्तमान पूँजीवादकी विशेषता पूर्णाधिकारकी प्रवृत्ति है। स्वतंत्र वाणिज्यकी बात अब बहुत पुरानी हो गयी। व्यावसायिक गुटोंके मारे उसके अस्तित्वका लोप होता जा रहा है। फिर कृषि-सुधारकी जो बात कही गयी है, उसका आशय यह होता है कि सर्वसाधारणकी दशा सुधारी जाय, मजूरी ज़्यादा दी जाय और मुनाफा कम लिया जाय, किन्तु किसी व्यावसायिक गुटसे ऐसी आशा करना व्यर्थ है कि वह स्वार्थ-साधनका ध्यान छोड़कर जन-साधारणकी अवस्था सुधारनेमें तत्परता प्रदर्शित करेगा।

इसके सिवा वर्त्तमान पूँजीवाद् कच्चा माल प्राप्त करनेके जो जो स्थान ज्ञात हैं, केवल उन्हींके सम्बन्धमें दिलचस्पी लेता हो, ऐसा नहीं है। जिन जिन स्थानोंमें कच्चे मालकी उत्पत्ति संभव है, उनपर भी वह प्रभुत्व स्थापित करनेकी चेष्टा करता है। बात यह है कि आजकल वैज्ञानिक उन्नति इतनी शीघ्रतासे हो रही है कि इस समय जो ज़मीन बिलकुल ऊसर पड़ी हुई है, वही दो चार दस दिनके बाद अत्यन्त उपजाऊ बनायी जा सकती है। इसीसे कच्चे मालकी उत्पत्तिकी संभावनाका ख़याल कर वर्त्तमान पूँजीवाद् प्रायः सब तरहकी ज़मीनपर हर तरहसे क़ब्ज़ा करनेका प्रयत्न करता है। यही कारण है कि इस समय कोई भी औद्योगिक राष्ट्र अनधिकृत भूभागके

बचे-खुचे अंशपर क़ब्ज़ा करनेकी दौड़में अथवा अधिकृत भूमिके पुनर्विभाजनकी चेष्टामें पीछे नहीं रहना चाहता।

पूँजीके निर्यातसे जिन व्यवसायियों या जिन संस्थाओंका प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता है, वे उपनिवेशोंपर विजय प्राप्त करनेकी नीतिका विशेष रूपसे समर्थन करते हैं। इसका एक कारण यह है कि औपनिवेशिक बाज़ारमें पूर्णाधिकारकी सहायतासे प्रतिद्वन्द्वियोंको पछाड़ना और अपने मालकी खपत बढ़ाना अधिक आसान होता है।

वर्त्तमान औपनिवेशिक नीतिकी चर्चा करते हुए यह कह देना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि आर्थिक पूँजी (फाइनेन्स कैपिटल) तथा उससे सम्बद्ध अन्तर्राष्ट्रीय नीतिके कारण राज्योंकी अधीनताके कई अस्थायी रूप उत्पन्न हो जाते हैं। इस समय समस्त देशोंको केवल दो भागोमें बाँटना—उपनिवेशोंपर प्रभुत्व करनेवाले देश और स्वयं उपनिवेश—काफी नहीं है। संसारमें कई देश ऐसे हैं जो राजनीतिक दृष्टिसे तो स्वाधीन हैं किन्तु कुछ ऐसी आर्थिक और कूटनीतिक शर्त्तोंसे जकड़े हुए हैं कि उन्हें एक तरहसे अर्द्ध स्वाधीन कहना ही ठीक होगा।

एक जर्मन लेखक सन् १९०६ में प्रकाशित अपनी पुस्तकमें लिखता है कि "अर्जेण्टाइना आर्थिक दृष्टिसे लन्दनपर इतना अधिक आश्रित है कि उसे एक तरहसे इंग्लैण्डका व्यापारिक उपनिवेश ही समझना चाहिये।" सन् १९०९ में इंग्लैण्डकी जो पूँजी अर्जेण्टाइनामें लगी हुई थी, वह शिलडरके कथनानुसार लगभग ८७५ करोड़ फ्रैङ्कके बराबर थी। अतः अर्जेण्टाइनाके साथ ब्रिटेनका घनिष्ठ सम्बन्ध होना स्वाभाविक ही है।

एक और उदाहरण पोर्तगालका है। कहनेके लिए तो यह भी पूर्ण स्वाधीन राष्ट्र है, किन्तु लगभग दो सौ वर्षोंसे यह बराबर इंग्लैण्डके संरक्षणमें रहा है। स्पेन और फ्रांसके प्रतिकूल अपनी स्थिति सुदृढ़ बनानेके लिए इंग्लैण्डने समय समय-पर पोर्तगाल और उसके उपनिवेशोंकी रक्षा की है। इसके बदलेमें उसे कुछ व्यापारिक सुविधाएँ दे दी गयी हैं, ब्रिटिश माल और ब्रिटिश पूँजीके साथ पोर्तगाल तथा उसके उपनिवेशोंमें ख़ास रियायत की गयी है और पोर्तगालके बन्दरगाहों तथा द्वीपोंका उपयोग करनेकी भी अनुमति उसे मिल गयी है।

छोटे और बड़े राज्योंमें यद्यपि इस तरहके सम्बन्ध पहले भी दृष्टिगोचर होते थे, किन्तु वर्त्तमान साम्राज्यवादके ज़मानेमें वे विशेष रूपसे देख पड़ते हैं। संसारके बँटवारेकी नीतिसे उनका निकट सम्बन्ध रहता है।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उससे स्पष्ट है कि उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तिम चरणमें उपनिवेशोंकी आवश्यकता और उनके महत्त्वकी ओर प्रायः सभी औद्योगिक देशोंका ध्यान भली भाँति आकृष्ट हो चुका था और उनकी प्राप्तिके लिए भिन्न भिन्न देशोंमें एक तरहकी प्रतिद्वन्द्विता आरंभ हो गयी थी। जैसा कि एक फ्रांसीसी लेखकने लिखा है, इस प्रतिद्वन्द्विताका एक कारण राष्ट्रोंकी यह आशंका थी कि यदि इस समय हम उपनिवेशोंपर अधिकार नहीं किये लेते हैं, तो फिर भविष्यमें हम बिना उपनिवेशोंके ही रह जायँगे और पृथ्वीके पिछड़े हुए भागोंसे आर्थिक लाभ उठानेमें भी कोई हिस्सा न ले सकेंगे। इसीसे हम देखते हैं कि अमेरिका तथा यूरोपके अनेक

देशोंने उपनिवेश प्राप्त करनेके लिए जी जानसे प्रयत्न किया, और शीघ्र ही संसारके बचे-खुचे भूभागोंपर भी क़ब्ज़ा कर लिया।

आठवाँ अध्याय

साम्राज्यवाद और लौह-व्यवसाय

हम पाँचवें अध्यायमें लिख आये हैं कि वस्त्र-व्यवसायकी अपेक्षा लौह-व्यवसाय ही साम्राज्यवादका विशेष समर्थक है। यहाँपर हम इस विषयके सम्बन्धमें कुछ अधिक विस्तार-के साथ विचार करेंगे।

वर्त्तमान देशोंकी परराष्ट्र-नीतिपर यदि किसी व्यवसाय-का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है, तो वह लौह-व्यवसाय ही है। अन्य व्यवसायोंका देशके आर्थिक जीवनपर चाहे कितना ही गहरा प्रभाव क्यों न पड़ता हो, किन्तु उनकी माँगोंका वहाँके राजनीतिक कर्णधारोंपर प्रायः कोई असर नहीं पड़ता, किन्तु लोहेके बड़े बड़े व्यवसायियोंकी ओर वे इस तरह उदासीन नहीं रह सकते। राष्ट्रोंकी नीतिका ख़याल करते हुए साधारणतया यह कहा जा सकता है कि जब देशके अन्य उद्योग-व्यवसायोंके साथ लौह-व्यवसायके संघर्षका अवसर उपस्थित होता है, तब जीत लौह-व्यवसाय-की ही होती है।

वर्त्तमान साम्राज्यवाद्के युगकी एक विशेषता यह है कि पूँजीवादी राष्ट्रोंके आर्थिक जीवनमें रुईके कपड़ोंके व्यवसायकी अपेक्षा लौह-व्यवसायका महत्त्व बहुत बढ़ गया है। इसका एक परिणाम यह हुआ है कि अब भिन्न भिन्न राष्ट्रोंके पारस्परिक सम्बन्धकी समस्या अधिक जटिल हो गयी है और उनमें सैनिक प्रतियोगिता एवं युद्ध-प्रियता भी बढ़ गयी है।

हम पहले कह चुके हैं कि जबतक इंग्लैण्डमें सूती वस्त्रोंके व्यवसायका ज़ोर था, तबतक वह अपेक्षाकृत शान्तिपूर्ण नीतिका अनुयायी था। इस व्यवसायकी उन्नतिके लिए यह आवश्यक था कि अमेरिका, भारत, मिसिर, इत्यादि देशोंसे रुईका निर्विघ्न रूपसे इंग्लैण्ड पहुँचते रहना बराबर जारी रहता, किन्तु नैपोलियनके साथ युद्ध छिड़ जाने पर इसमें व्याघात हुआ। सूती वस्त्र तैयार करनेवाले कारखाने बन्द होने लगे और मैनचेस्टरके श्रमजीवियोंका कष्ट बहुत बढ़ गया। यही कारण है कि जबतक वहाँ सूती वस्त्रके व्यवसायकी प्रधानता रही, तबतक वह शान्तिका समर्थक था। इस व्यवसायमें लगे हुए लोगोंकी धारणा थी कि उपनिवेश स्थापित करनेकी नीतिका अनुसरण करनेसे राष्ट्रोंमें परस्पर मुठभेड़ हो जानेकी संभावना रहती है, राष्ट्रीय ऋण-की मात्रा अधिक हो जाती है, जिससे कर-भार भी बढ़ जाता है, और सर्वसाधारणकी क्रयशक्ति घट जाती है। इसीसे सूती वस्त्र-व्यवसायके युगमें ब्रिटिश राजनीतिज्ञ प्रायः युद्ध-नीतिके विरोधी एवं शान्तिके अनुयायी थे।

कुछ समयके बाद जब सूती वस्त्रोंके व्यवसायकी अपेक्षा लौह-व्यवसायको अधिक महत्त्व दिया जाने लगा और जब

व्यावसायिक क्षेत्रमें इसीकी प्रधानता होने लगी, तब ब्रिटेनके राजनीतिक सूत्रधारोंकी नीति भी बदल गयी। अब वे नये नये भूभागोंपर अधिकार करनेके लिए उतावले हो उठे। ब्रिटेनकी तरह अन्य देशोंने भी शीघ्र ही इसी नीतिका अनुसरण करना आरंभ कर दिया।

आधुनिक सभ्यतामें लौह-व्यवसायको जो महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, वह किसीसे छिपा नहीं है। पिछले ५०-६० वर्षोंके भीतर तो इसने आश्चर्यजनक उन्नति कर ली है। सन् १८६० में सारे संसारमें कुल ७० लाख टन लोहा भट्टियोंमें गलाया गया था। पचास वर्षके बाद इसकी तादाद बढ़कर दस गुनी हो गयी। गत महायुद्धके पूर्वतक जर्मनीने इस व्यवसायमें प्रायः अन्य सभी देशोंको मात कर दिया था। १९१० में फ्रांस, रूस, आस्ट्रिया हंगरी या बेलजियमकी अपेक्षा जर्मनीमें कोई चालीस लाख टन लोहा अधिक गलाया गया।

यद्यपि लोहेकी उत्पत्तिकी दृष्टिसे पहले ब्रिटेन ही सब देशोंसे आगे बढ़ा हुआ था, किन्तु १९ वीं शताब्दीके समाप्त होते होते वह बहुत पिछड़ गया। अब वह स्वयं अपने यहाँ तकके कारखानोंकी आवश्यकता पूरी करनेमें असमर्थ हो गया। सन् १८९१ से १९०० तक उसे औसतन कोई १ लाख ३० हजार टन लोहा प्रतिवर्ष जर्मनीसे मँगाना पड़ा। युद्धके पूर्व लगभग तीन वर्षतक तो जर्मनीसे मँगाये गये लोहेकी तादादका औसत दस लाख टनपर जा पहुँचा अर्थात् कोई १५ या २० वर्षके भीतर जर्मनीसे ब्रिटेनको आनेवाले लोहेकी तादाद अठगुनी हो गयी।

इस प्रकार लौहव्यवसायकी दृष्टिसे जर्मनीने यूरोपमें जो

महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था, उसीके कारण सन् १९१४ तक सैनिक दृष्टिसे वह एक अत्यन्त प्रभावशाली राष्ट्र बन गया और युद्ध छिड़ जानेके बाद लगातार चार वर्षोंतक ब्रिटेन तथा फ्रांसके सदृश प्रमुख राष्ट्रोंसे दृढ़तापूर्वक मोर्चा लेनेमें समर्थ हुआ।

लौह-व्यवसायको अन्य व्यवसायोंकी तुलनामें जो विशेष महत्त्व दिया जाता है, उसके तीन कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि युद्धकी सामग्री तैयार करनेवाले कारखानोंसे उनका घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। फिर, इन कारखानोंके साथ जो सैनिक समूह, बैंकोंके गुट या व्यवसायसंघ सम्बद्ध रहते हैं, उनसे भी लौह-व्यवसायका सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

दूसरा कारण यह है कि पूँजीवादी देशोंमें लौह-व्यवसायके साथ कोयलेके व्यवसाय तथा विद्युत् और तैलके व्यवसायोंका भी निकटवर्त्ती सम्बन्ध रहता है। संयुक्त राज्य अमेरिकाके सदृश प्रथम श्रेणीके औद्योगिक राष्ट्रोंमें तो एक तरहसे कोयलेके व्यवसायका कोई स्वतन्त्र क्षेत्र ही नहीं रह जाता। वहाँ कोयलेकी प्रायः सभी खानें लौह-व्यवसायके बड़े बड़े सञ्चालकोंके ही अधीन हैं।

लौहव्यवसायके विशेष महत्त्वका तीसरा कारण यह है कि अन्य व्यवसायोंकी अपेक्षा इसकी उन्नति अधिक शीघ्रतापूर्वक होती है और इसमें राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यावसायिक गुटों एवं व्यवसायसंघोंकी स्थापना अधिक आसानीसे हो सकती है। भिन्न भिन्न कारखानोंको एक ही सूत्रमें परस्पर सम्बद्ध करनेका काम जितनी सरलताके साथ एवं जितने व्यापक रूपमें इस व्यवसायमें किया जा सकता है, उतनी

सरलताके साथ अन्य व्यवसायोंमें नहीं किया जा सकता संयुक्त राज्य अमेरिकाका लौह-व्यवसायसंघ, जिसकी स्थापना सन् १९०१ में हुई थी, अमेरिकाका एक अत्यन्त प्रभावशाली गुट था । इसमें कोई ७८५ कारखाने शामिल थे। अमेरिकाके अन्य पाँच व्यवसायसंघोंमें जितनी पूँजी लगी हुई थी, उतनी अकेले इस संघमें ही लगी थी। इसी प्रकार जर्मनी तथा रूसमें भी महायुद्धके पूर्व कदाचित् लौह-व्यवसायके संघ ही सबसे अधिक प्रभावशाली थे।

युद्ध-सामग्री तैयार करनेवाले कारखानोंसे घनिष्ठ सम्बन्ध होनेके कारण लौह-व्यवसायके लिए युद्ध-नीतिका समर्थक होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि रण-घोषणा हो जानेके बाद इस व्यवसायका महत्त्व बहुत बढ़ जाता है। लड़ाई छिड़ जाने पर गोला-बारूद, तोपें, बन्दूकें, तलवारें, विविध रणपोत, गोताख़ोर जहाज़, हवाई जहाज़ इत्यादि बहुत बड़ी संख्यामें बनने लगते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि शान्तिके पाँच सात दस वर्षोंमें भी जितना मुनाफा नहीं होता, उतना युद्धकालीन एक वर्षमें ही होने लगता है। इसीसे सैनिक सामग्रीके बढ़ाये जाने, नये भूभागपर अधिकार करने या किलेबन्दी इत्यादिके कार्यमें इस व्यवसायके सञ्चालक विशेष दिलचस्पी लेते हैं और अवसर मिलते ही देशके राजनीतिक सूत्रधारोंपर प्रभाव डाल कर इस बातकी चेष्टा करते हैं कि किसी तरह युद्ध घोषित कर दिया जाय।

शान्तिके समय भी गोला-बारूद तथा अन्य रण-सामग्री तैयार करनेका काम कितनी बड़ी मात्रामें होता रहता है, यह ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका आदि राष्ट्रोंकी हमेशाकी सैनिक

तैयारीसे ही स्पष्ट है। राष्ट्रसंघकी ओरसे जो आंकड़े जुटाये गये हैं, उनसे मालूम होता है कि अस्त्रशस्त्रों और गोला-बारूद का व्यापार इस व्यापारिक शिथिलताके ज़मानेमें भी काफी बढ़ा हुआ है। सन् १९२९-३० के जो अंक "हिन्दू" के संवाद-दाताने बर्लिन के २९ अक्तूबर १९३२ के अपने पत्र में दिये हैं, उनसे प्रकट होता है कि उस वर्ष कोई ६ करोड़ ३३ लाख डालरकी गोला-बारूद तथा अस्त्रशस्त्र भिन्न भिन्न देशों द्वारा बाहर भेजे गये। कुछ प्रधान देशोंके अंक नीचे दिये जाते हैं—

देश	गोला-बारूद इ० का निर्यात	आयात
ब्रिटेन	२१७ लाख डालर	५·९ लाख डालर
सं. रा. अमेरिका	१०७ ,,	१७ ,,
फ्रांस	९३ ,,	·८७ ,,
इटली	३७ ,,	५·७ ,,
बेलजियम	३० ,,	६·८ ,,
ज़ेकोस्लोवेकिया	३१ ,,	५·५ ,,

बाहरसे अस्त्रशस्त्र तथा गोला-बारूद मँगानेवाले देशोंमें भारत, ब्रेज़िल, मेक्सिको, चीन और चिलीके नाम उल्लेखनीय हैं। इनके आयातके अंक क्रमशः ये हैं—४० लाख, ३० लाख, २५ लाख, २४ लाख तथा २० लाख डालर। यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिये कि जर्मनी तथा आस्ट्रियाको वर्सैल्ज़की सन्धिके अनुसार न तो युद्धसामग्री बाहरसे मँगानेका अधिकार है और न बाहर भेजनेका ही, इसीसे ऊपरकी सूचीमें उनके नाम नहीं शामिल किये गये।

यद्यपि निःशस्त्रीकरणकी समस्याका एक अंग यह भी मान लिया गया है कि अस्त्रशस्त्रों तथा गोला-बारूदके व्यापार-

का नियंत्रण किया जाय, फिर भी अभीतक इस सम्बन्धमें विशेषरूपसे कुछ नहीं किया जा सका। अस्त्रशस्त्रोंका व्यापार शान्तिके लिए कहाँतक विघातक है, यह मेक्सिको के उदाहरणसे स्पष्ट है।

मेक्सिकोमें मिट्टीके तेलकी उत्पत्तिके कारण स्टैण्डर्ड आइल कंपनी और रायल डच शेल कंपनीमें बहुत समयतक घोर प्रतिद्वन्द्विता चलती रही। यदि मेक्सिकोकी सरकार इन दोनोंमेंसे किसी एकके भी पक्षमें कोई कार्य करती, तो क्रान्तिकी अवस्था उत्पन्न हो जाती और दोनों कम्पनियोंकी सेनाएँ तैल-क्षेत्रकी ओर अग्रसर हो पड़तीं। एक सेना तो अमेरिकाकी बनी मशीनगनों तथा अन्य अस्त्रशस्त्रोंका प्रयोग करती और दूसरी ब्रिटेन द्वारा तैयार किये गये अस्त्रशस्त्रों और तोपों इत्यादिसे सुसज्जित होती थी। इस प्रकार कोई बीस वर्षतक मेक्सिको गृहयुद्धकी लीलाभूमि बना रहा और वहाँ शान्ति तभी हुई जब इन दोनों तैल कम्पनियोंने नये क्षेत्रका आर्थिक शोषण न करनेका आपसमें निश्चय कर लिया।

चीनकी भी हालत क़रीब क़रीब ऐसी ही है। पिछले बीस-बाईस वर्षोंसे वहाँ दस पन्द्रह सेनानायक किरायेकी सेना तैयार कर सारे देशको तहस-नहस कर रहे हैं। ये सेनाएँ यूरोपीय ढंगसे सुसज्जित की जाती हैं और उन्हें यूरोपीय देशोंसे ही गोलाबारूद तथा आवश्यक अस्त्रशस्त्र प्राप्त होते रहते हैं। प्रान्तोंकी लूटसे जो रुपया मिलता है, उसीसे इनका दाम चुकाया जाता है। रण-सामग्री तैयार करनेवाली कम्पनियोंके एजण्टोंके बहकानेमें आकर ये लोग किस तरह देशका सत्यानाश कर रहे हैं, यह किसीसे छिपा नहीं है, अस्तु।

वर्त्तमान समयमें लौह-व्यवसायका महत्त्व बहुत बढ़ गया है। उसने अपने सामने अन्य सभी उद्योग-व्यवसायोंको मात कर दिया है। युद्धके पूर्व यूरोपमें जर्मनी ही एक ऐसा देश था जिसने इस व्यवसायकी दृष्टिसे अन्य देशोंको पराभूत कर दिया था। सन् १९१३ में ब्रिटेन, फ्रांस तथा रूस, इन तीनोंने मिलकर जितना कोयला तथा फौलाद प्रस्तुत किया था, उससे कहीं अधिक अकेले जर्मनीने किया था। यदि महायुद्धमें अमेरिका भी शामिल न हो गया होता, जिसका लौह-व्यवसाय जर्मनीकी ही तरह समुन्नत था, तो संभव है कि युद्धका परिणाम कुछ और ही हुआ होता।

युद्ध-सामग्री तैयार करनेके सिवा रेल निकालनेके व्यवसायसे भी इसका निकट सम्बन्ध है। रेलकी सड़क बनाने तथा तार लगानेके कार्यमें पिछले ५०-६० वर्षोंके भीतर कितनी उन्नति हो गयी है, यह नीचे दिये गये अंकों से स्पष्ट है—

	१८५०	१८८०	१९००	१९१३
रेलकी सड़क (हजार मीलों में)	२४	२२४	५००	६९०
तार मार्ग (,,)	५	४४०	११८०	

रेलकी बड़ी बड़ी सड़कोंका प्रश्न भी संसारकी अशान्तिका कारण रहा है। गत यूरोपीय युद्धके पूर्व जर्मनीने एक योजना तैयार की थी, जिसका उद्देश्य था प्रसिद्ध जर्मन नगर हेम्बर्गसे लेकर फारसकी खाड़ीतक २४०० मील लम्बी रेलकी सड़क तैयार करना। जर्मनीने इस योजनामें फ्रांस और ब्रिटेनको भी शामिल करना चाहा, किन्तु ब्रिटेनने खयाल किया कि इस रेलके बन जानेसे स्वेज़ बहरके मार्ग और भारतकी

सुरक्षाके सम्बन्धमें बाधा उपस्थित हो जानेकी संभावना है, अतः उसने इसका विरोध करना शुरू किया। साथ ही उसने जर्मनीकी प्रतिद्वन्द्विताम‍ें अपनी एक अलग योजना केपटाउन काहिरा-कलकत्ता-रेलकी तैयार की। इसका उद्देश्य पूर्व आफ्रिका और ब्रिटेनके एशिया स्थित राज्योंको परस्पर सम्बद्ध करना तथा एक दूसरेके निकट लाना था।

फ्रांसने भी बगदाद रेलवेके प्रस्तावका विरोध किया। कदाचित् उसे इस बातका भय हुआ कि तुर्कीमें जर्मनोंका प्रवेश हो जानेसे सीरियामें फ्रांसीसी पादरियों तथा व्यापारियोंका बढ़ता हुआ प्रभाव कम हो जायगा। संभव है, फ्रांसके विरोध का एक कारण यह भी रहा हो कि रूसने ऐसा करनेके लिए उसे फुसलाया हो। रूसको जर्मनीकी यह योजना बिलकुल पसन्द नहीं थी। वह कुस्तुनतुनिया और आरमीनियाको अपने चंगुलमें फांसना चाहता था और यह स्पष्ट है जर्मनीकी बर्लिन-बाइज़ैण्टियम-बगदाद रेलवेके कारण उसे ऐसा करनेका मौक़ा नहीं मिल सकता था। रूसने इस योजनाका विरोध करनेके साथ साथ जर्मनी और ब्रिटेनकी देखादेखी स्वयं भी पीटर्स बर्गसे फारसकी खाड़ीतक रेलकी सड़क निकालनेका विचार किया। वह फारसपर प्रभुत्व स्थापित करना चाहता था और अफगानिस्तानमें भी अपना प्रभाव बढ़ाकर भारतकी सीमाके पास पहुँचना चाहता था।

रेलकी सड़क निकालनेकी ये तीनों योजनाएँ अपने अपने स्वार्थकी दृष्टिसे तैयार की गयी थीं और ऐसा प्रतीत होता था कि इनके कारण शीघ्र ही अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति भङ्ग हो जायगी। किन्तु जब ब्रिटेन और रूसने देखा कि जर्मनी तो

सफलतापूर्वक अपनी योजनाको कार्यमें परिणत करता जा रहा है और सम्भव है कि शीघ्र ही वह उसे पूरा कर डाले, जब कि हम लोग अपनी योजनाओंकी सफलताके लिए विशेष कुछ भी नहीं कर सके हैं, तब उन्होंने सम्मिलित रूपसे जर्मनीका विरोध करनेकी बात पक्की की। इस प्रकार रूस और ब्रिटेनके बीच जो समझौता हुआ, वह यूरोपीय महायुद्धकी घोषणाके मुख्य कारणोंमेंसे एक था।

ऊपर रेलकी सड़क निकालनेकी जिन योजनाओंका उल्लेख किया गया है, उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध रूसके उस प्रयत्नसे था जो वह बास्फोरस तथा डार्डेनलीज़के जल-विभाजकोंपर क़ब्ज़ा करनेके लिए कर रहा था। इनपर अधिकार हो जानेसे रूसको अपना अनाज बाहर भेजनेमें विशेष सुविधा हो जाती और बगदाद रेलकी सड़क तैयार हो जाने पर भी खतरेका कोई कारण नहीं रह जाता। इस प्रकार हम देखते हैं कि रेलकी सड़कोंका प्रश्न भी कभी कभी साम्राज्यवाद एवं युद्धनीतिका प्रेरक होता है और लौह-व्यवसायसे रेलोंका घनिष्ठ सम्बन्ध रहता ही है।

युद्धकालमें रेलोंका महत्त्व विशेष रूपसे बढ़ जाता है। आवश्यकता पड़ने पर हजारों सैनिकोंको एक स्थानसे दूसरे स्थानको ले जाने तथा गोलाबारूद, तोपें, बन्दूकें इत्यादि भी बड़ी संख्यामें एक जगहसे दूसरी जगह पहुँचानेका कार्य रेलोंकी सहायतासे अधिक सरलतापूर्वक किया जा सकता है। बहुत सी रेलकी सड़कें केवल युद्धकालीन आवश्यकताओंका ध्यान रखकर ही बनायी जाती हैं, उदाहरणार्थ भारतकी पश्चिमोत्तर सीमापरकी रेलोंका निर्माण प्रायः इसी दृष्टिसे किया गया है।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, युद्ध-सामग्री तैयार करने वाले कारखानोंसे लौह-व्यवसायका घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। वह व्यवसाय जिसका सम्बन्ध गोलाबारूद, या बन्दूकें इत्यादि तैयार करनेके कामसे होता है, वस्तुतः लौहव्यवसायका ही एक अंग है। जर्मनीका सुप्रसिद्ध क्रपका कारखाना गत यूरोपीय युद्धके समयतक तोपें इत्यादि तैयार करनेका दुनियामें सबसे बड़ा कारखाना था। इस कारखानेमें जहाँ एक ओर भाफसे चलनेवाले इञ्जन, रेलकी पाँतें, बड़े बड़े हथौड़े, रेलके डब्बे इत्यादि तैयार होते थे, वहाँ दूसरी तरफ बड़ी बड़ी तोपें, बन्दूकें, गोले आदि भी बहुत बड़ी संख्यामें बनाये जाते थे। इसके सिवा जहाज़ी बेड़ेका एक बड़ा भाग—बड़े बड़े जंगी जहाज़, भ्रमणकारी युद्धपोत, गोताख़ोर इत्यादि—भी प्रायः इन्हीं कारखानोंके समुद्री घाटोंपर तैयार होता है। तात्पर्य यह है कि किसी देशके लिए युद्धमें विजय पाना एक सीमातक उसके लौहव्यवसायकी उन्नतिपर अवलम्बित है।

गत यूरोपीय युद्धके समय बड़े बड़े सैनिक विशेषज्ञोंकी समझमें भी यह बात नहीं आयी थी कि भावी युद्धोंके साथ लौह-व्यवसायका कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है। रूस और फ्रांसके जो जासूस जर्मनी तथा आस्ट्रियाको भेजे गये थे, उन्हें विशेष रूपसे ऐसी ही बातोंकी जानकारी प्राप्त करनेको कहा गया था कि उक्त देशोंमें सशस्त्र सैनिकोंकी संख्या कितनी है, कितनी कितनी पलटनें किस किस स्थानमें ठहरी हुई हैं, गोलाबारूद तथा अन्य रण-सामग्रीके भाण्डार कहाँ कहाँ हैं, रेलकी सड़कोंपर किन जगहोंपर पुल बने हुए हैं जिन्हें आक्रमण करनेके पूर्व उड़ा देना होगा, इत्यादि।

जर्मनीकी ओरसे जो सैनिक गुप्तचर फ्रांस इत्यादि देशोंको भेजे गये थे, उन्हें ऊपर कही गयी बातोंके अतिरिक्त कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण बातोंकी भी खोज करनेका आदेश दिया गया था। उनसे केवल ऐसी ही बातोंका पता लगानेके लिए नहीं कहा गया था कि शत्रुकी सेना कहाँतक कार्यक्षम एवं अस्त्रशस्त्रोंसे सुसज्जित है अथवा वह कहाँ कहाँ ठहरी हुई है, बरन् इस बातका अनुसंधान करनेका कार्य भी उन्हें सौंपा गया था कि शत्रुकी आर्थिक स्थिति कैसी है एवं युद्धकी तात्कालिक आवश्यकताके समय वह कहाँतक अपने सैनिकोंको अस्त्रशस्त्रोंसे सुसज्जित कर सकता है और आवश्यक गोला-बारूद या अन्य रणसामग्री जुटा सकनेकी कितनी सामर्थ्य उसमें है। इसीसे जर्मन गुप्तचरोंने इस बातका पता लगानेकी उतनी कोशिश नहीं की कि शत्रुके पास कितने सैनिक तैयार हैं तथा कितने अल्पतम समयके भीतर और प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जितनी यह जाननेकी कोशिश की कि शत्रुके देशमें गोला-बारूद तैयार करनेवाले कितने कारखाने हैं, उसके पास इस समय गोलाबारूद तथा अन्य सामग्री कितनी मात्रामें मौजूद है और आवश्यकता पड़ने पर उसकी उत्पत्ति कहाँतक बढ़ायी जा सकती है। उन्होंने इस बातको कोई महत्त्व नहीं दिया कि रूस यदि चाहे तो आवश्यकताके समय एक करोड़से भी अधिक सैनिक प्रस्तुत कर सकता है, क्योंकि उन्हें मालूम था कि उसके पास जो अस्त्रशस्त्र मौजूद थे वे कुल १५ या २० लाख सैनिकोंके लिए ही पर्याप्त कहे जा सकते थे।

आधुनिक युद्धोंमें लौहव्यवसायका महत्त्व विशेष रूपसे बढ़ गया है। अधिकसे अधिक संख्यामें संहारक अस्त्रशस्त्रों

तथा गोलाबारूद तैयार करनेकी क्षमता जिस राष्ट्रमें होगी, उसीकी विजय होनेकी विशेष संभावना रहती है। गत महा-युद्धकी दो एक घटनाओंसे यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है।

सन् १९१४ में युद्ध-घोषणा होनेके बाद जब जर्मनीने बेल-जियमके लीज नगरपर आक्रमण किया, तब विशेषज्ञोंका ख़याल था कि एक सप्ताहसे कम समय वहाँके सुदृढ़ दुर्गको तोड़-नेमें नहीं लगेगा, किन्तु उसे केवल चौबीस घण्टेके भीतर जर्मनों द्वारा अधिकृत देखकर सब लोगोंको महान् आश्चर्य हुआ। नामूरके क़िलेके बारेमें भी यही बात कही जाती थी, किन्तु उसपर अधिकार करनेमें भी २४ घण्टे ही लगे। ये दोनों क़िले जर्मनीने अपनी सुप्रसिद्ध तोप "४२०" की सहा-यतासे लिये थे। यह तोप वहाँके क्रप कारखानेमें तैयार हुई थी, जिसमें लोहेकी अन्य वस्तुओंके साथ साथ तोपें, गोले इत्यादि भी तैयार होते थे। जर्मनीकी इस सफलताका श्रेय प्रधानतया उसके समुन्नत लौहव्यवसायको ही है।

इसके बाद जब चार्लेरोइकी लड़ाई हुई, तब दो दिनके भीतर ही फ्रांसीसी सेनाको बुरी तरह परास्त होना पड़ा। जर्मनोंकी भीषण गोलाबारी देखकर फ्रांसीसी कर्मचारी कहने लगे कि जर्मन सेनासे मोर्चा लेना तबतक असम्भव है, जब तक प्रचण्ड अग्निवर्षा करनेवाली उसकी विकट तोपोंका मुँह किसी तरह बन्द न कर॰ दिया जाय। निदान जर्मनोंकी भयङ्कर मारके सामने फ्रांसीसी सेनाको पराङ्मुख होकर पेरिसकी ओर भागना पड़ा।

यहाँपर एक बात और लिख देनी चाहिये। जब युद्ध शुरू हुआ था, तब गोलाबारूद तैयार करनेवाले कारखानोंसे

राष्ट्रकी सैनिक शक्तिका कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसकी ओर फ्रांसने इतना कम ध्यान दिया था कि पेरिसमें कारतूस तैयार करनेवाले कारखानोंके प्रायः सभी कार्यकर्त्ता उक्त कामसे हटाकर सेनामें भरती कर दिये गये और उन्हें युद्धक्षेत्रके लिए प्रस्थान करनेकी आज्ञा दे दी गयी। तोपें और बन्दूकें तैयार करनेके अन्य कारखानोंमें भी ऐसा ही किया गया। शीघ्र ही सैनिक अधिकारियोंको अपनी ग़लती मालूम हो गयी और उन्होंने १५-२० दिनके भीतर ही उक्त कारखानोंमें काम करनेवाले लोगोंको युद्धक्षेत्रसे वापस बुला लिया।

चार्लेरोइकी लड़ाईके बाद लगभग एक मास बीत जाने पर जब अलजीरिया और मोरक्कोसे भी पलटनें आ पहुँचीं, तब फ्रांसको मालूम हुआ कि अलसेस-लोरेनकी सीमापर जर्मनीने मामूली सेना ही रखी है, अतः वहाँपर फ्रांसके लिए ज़्यादा ख़तरा नहीं है। यह ख़याल कर फ्रांसीसी सेनापतिने वहाँसे कई बड़ी बड़ी तोपें, आवश्यक गोला-बारूद तथा अन्य सामग्री मँगवा ली और मार्न नदीके किनारे सेनाका व्यूहन कर ज़ोरोंसे जर्मन-सेनाका मुकाबला किया। फ्रांसीसी सेनाकी भीषण अग्निवर्षा देखकर जर्मनोंके छक्के छूट गये। शीघ्रतामें वे लोग अपनी कई बड़ी बड़ी तोपें पीछे ही छोड़ आये थे। इधर फ्रांस अपनी ग़लती समझ चुका था, अतः इस बार उसने पूरी तैयारी कर ली थी। उसके पास तोपोंकी संख्या भी काफी थी और गोलाबारूद भी बहुत अधिक मात्रामें विद्यमान थी। परिणाम यह हुआ कि इस लड़ाईमें जर्मनीको गहरी शिकस्त खानी पड़ी।

डैन्यूब नदीके किनारे जो युद्ध हुआ था, उसमें रूसकी

पराजय भी केवल इसी कारणसे हुई कि रूसी सेनाके पास काफी गोलाबारूद नहीं थी। विजय पर विजय प्राप्त करती हुई, गैलीशिया एवं पोलैण्डको पार करनेके बाद, जब रूसी सेना हंगरीमें प्रवेश करनेकी तैयारी कर रही थी, तब डैन्यूब नदीके किनारे जर्मन सेनापति मेकेन्सनने एकाएक उसकी गति रोक दी। उसने तीन चार घण्टोंके भीतर ही लाखों गोलोंकी वर्षा कर रूसी सेनाके एक भागको बिलकुल जलाकर सचमुच ही भस्म कर डाला, फिर इस रिक्त स्थानमें तुरन्त ही अपने चुने हुए सैनिकोंको भर दिया। जब गोलाबारूद भेजनेके लिए रूसी सेनापति घबराहटके मारे तारपर तार भेज रहे थे, तब कारखानोंके अधिपतिकी ओरसे प्रत्येक बार यही उत्तर मिलता था कि "कारखानोंमें इससे अधिक बारूद या गोले-गोलियाँ तैयार नहीं हो सकतीं। आपके पास जितनी सामग्री है, उसीसे सन्तोष कीजिए, गोला-बारूद किफायतके साथ खर्च कीजिए।" इसका परिणाम जो हो सकता था, वही हुआ अर्थात् रूसी सेना बेतरह परास्त हुई।

गत महासमरमें जितनी भीषण अग्निवर्षा हुई थी, उतनी आजतक अन्य किसी युद्धमें नहीं हुई। फ्रांसने किसी किसी लड़ाईमें इतनी अधिक गोलाबारूद खर्च की जितनी उसने समस्त फ्रांस-बवेरियाके युद्धमें भी खर्च नहीं की थी, उदाहरणार्थ उपर्युक्त मार्न नदीकी लड़ाईमें उसने असंख्य गोलोंकी वर्षा की थी। जर्मनी इसके लिए पहलेसे तैयार नहीं था, इसीसे उसकी सेना फ्रांसीसी सेनाके सामने ठहर नहीं सकी। इसी तरह डैन्यूबकी लड़ाईमें जर्मनीकी ओरसे केवल चार घण्टेके भीतर सात लाख गोले बरसाये गये थे। इस

लड़ाईमें जर्मनीने जितनी गोलाबारूद खर्च की थी, उसे ढोनेके लिए एक हजारसे भी अधिक गाड़ियोंकी आवश्यकता पड़ी थी। ऐसी ही गोलाबारी न्यूव शापेलकी लड़ाईमें अंग्रेजोंकी ओरसे की गयी थी। कहते हैं, इस लड़ाईमें केवल चौदह दिनके अन्दर अंग्रेजी सेनाने जितने गोले बरसाये थे, उतने दो सालतक चलनेवाले आंग्ल-बोअर-युद्धमें भी नहीं बरसाये गये थे।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उससे स्पष्ट है कि युद्धकालमें लौह-व्यवसायका महत्त्व बहुत बढ़ जाता है, किन्तु इसका यह आशय नहीं है कि शान्तिके समय उसका कोई प्रभाव ही नहीं रह जाता। युद्ध-समाप्तिके बाद विजयी देशोंने विजित देशोंके साथ जैसा व्यवहार किया था, उससे इस कथनकी सत्यता प्रमाणित हो जाती है। वर्सैल्ज़की सन्धिपर हस्ताक्षर होनेके बहुत पहलेसे ही यह बात एक तरहसे निश्चित हो चुकी थी कि विजय मिलनेके बाद फ्रांस जर्मनीके अलसेस-लोरेन प्रान्तपर क़ब्ज़ा करनेकी चेष्टा करेगा, जहाँ लोहेकी अनेक खानें और लोहेकी चीज़ें तैयार करनेवाले कारखानोंकी बहुतायत है। इसी तरह युद्ध-समाप्तिके पहले जब रूसने जर्मनीसे अलग सन्धि करनेकी चेष्टा की, तब जर्मनीके व्यवहारसे यह स्पष्ट हो गया कि वहाँके साम्राज्यवादियोंकी आँख पौलैण्डकी लोहे और कोयलेकी खानोंपर लगी हुई थी। तात्पर्य यह है कि युद्ध-नीतिसे लौह-व्यवसायका विशेष संबन्ध है और साम्राज्यवादकी वृद्धिमें उसका बड़ा हाथ है।

नवाँ अध्याय

साम्राज्यवादके समर्थक

हम प्रायः कहा करते हैं कि ब्रिटेन (या फ्रांस) एक साम्राज्यवादी राष्ट्र है। साधारणतया हम यह विचार करनेकी आवश्यकता नहीं समझते कि ब्रिटेन अथवा फ्रांसकी सारी जनता साम्राज्यवादके पक्षमें है या उसका एक अंश ही इस नीतिका समर्थक है, किन्तु यदि हम शान्त चित्तसे इसपर मनन करें तो पता चलेगा कि प्रत्येक राष्ट्रमें वस्तुतः थोड़ेसे लोग ही ऐसे होते हैं जो अपने स्वार्थ-साधनकी कामनासे प्रेरित होकर समूची राष्ट्रनीतिको प्रभावित कर साम्राज्यवादकी जड़ मजबूत करते हैं।

सबसे पहले तो कदाचित् रुईके कपड़े अथवा लोहेकी वस्तुएँ तैयार करानेवाले वे व्यवसायी हैं, जो अपना माल खपानेके लिए नये नये बाज़ारोंकी तलाशमें रहते हैं। यद्यपि पत्थरका कोयला, मिट्टीका तेल, शराब, तम्बाकू, आदि और भी कई चीज़ें ऐसी हैं जिनके कारण प्रायः राष्ट्रोंको साम्राज्यवादकी नीति ग्रहण करनी पड़ती है, फिर भी सूती वस्त्रों और लोहेके व्यवसायके सामने उनका विशेष महत्त्व नहीं रह जाता। ये दो व्यवसाय ही सर्वप्रधान हैं। इनके लिए औपनिवेशिक बाज़ारोंकी आवश्यकता पड़ती है, जहाँ विदेशी प्रतिद्वन्द्वियोंको पछाड़ना अधिक सरल होता है। राजनीतिक प्रभुत्वके बिना अन्य देशोंमें अपना माल खपानेमें बड़ी कठिनाई होती है। यदि भारत ब्रिटेनके अधीन न होकर एक स्वतंत्र देश होता, तो यह

कदापि संभव न था कि देशी उद्योग-व्यवसायको नुकसान पहुँचा कर वहाँके सूती वस्त्र या लोहेकी चीज़ें इतनी तादादमें भारतके बाज़ारोंमें खपने पातीं। संरक्षण-नीतिका सहारा लेकर उसने ब्रिटिश वस्तुओंका आना बहुत पहले ही रोक दिया होता। सन् १८९६ में जब भारत सरकारने बाहरसे आनेवाली चीज़ोंपर ३½ प्रतिशत आयात कर लगा दिया, तब लैंकेशायर के मिलमालिकोंने चिल्लाना शुरू किया कि इस आयात-करका प्रभाव नष्ट करनेके लिए भारतीय मिलोंमें तैयार किये गये कपड़ोंपर भी ३॥ प्रतिशत कर बैठा दिया जाय। परिणाम यह हुआ कि उनके दबावमें पड़कर भारत सरकारको देशी वस्त्रोंपर भी उतना ही कर लगा देना पड़ा, जितना बाहरसे आनेवाले कपड़ोंपर लगाया गया था। भारतकी ओरसे लगातार विरोध होने पर भी सन् १९२५ तक यह कर बराबर जारी रहा। तात्पर्य यह है कि भारत यदि ब्रिटेनके अधीन न होता तो ब्रिटिश सरकार अपने देशको प्रोत्साहन देनेके लिए इन उपायों-का सहारा नहीं ले सकती थी।

इसके बाद दूसरा नम्बर उन व्यापारियोंका है जो बाहरसे माल मँगाया करते हैं, उदाहरणार्थ ब्रिटेनके वे व्यापारी जो भारत तथा लंकासे चाय मँगाते हैं अथवा बेलजियमके वे व्या-पारी जो कांगोसे आनेवाले रबरका व्यापार करते हैं। इनके अतिरिक्त आयात वस्तुओंसे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य लोगों-की भी संख्या काफी बड़ी होती है। भारतमें या कांगोमें जाकर जो लोग चायकी खेती अथवा रबर संग्रह करने-का काम करते हैं, उनकी सहानुभूति भी साम्राज्यवादियोंके साथ होती है। बड़ी मात्रामें इन वस्तुओंका रोज़गार

चलानेके लिए एक सुव्यवस्थित शासनकी आवश्यकता होती है, क्योंकि ऐसे शासनके अभावमें वहाँ जो रक़म लगायी जायगी, वह सुरक्षित नहीं समझी जा सकती। इसके सिवा, इन चीज़ोंकी उत्पत्ति बढ़ाने या उन्हें एक स्थानसे दूसरे स्थानतक पहुँचानेके लिए नहर बनवाना या रेलकी सड़क निकालना भी आवश्यक होता है। ये ऐसे व्यय-साध्य कार्य हैं जिनमें हाथ लगाना पिछड़े हुए भूभागोंके देशी शासकोंके लिए अत्यन्त कठिन है। ऐसी अवस्थामें उनपर किसी न किसी समुन्नत राष्ट्रका नियंत्रण स्थापित हो जाना प्रायः अनिवार्य है। जिन व्यापारियोंका समूह इन देशोंसे माल मँगाता है तथा जो लोग वहाँ जाकर चायकी खेती या रबर संग्रह करनेका काम करते हैं, वे सब चाहते हैं कि इन भूभागोंपर हमारे ही देशका प्रभुत्व स्थापित हो जाय, इसीसे वे लोग साम्राज्यवादकी नीतिका अनुसरण करनेमें अपने देशका समर्थन करते हैं।

ज्यों ज्यों उद्योग-व्यवसायोंकी उन्नति होती जाती है, त्यों-त्यों कच्चे माल और अन्नादिकी आवश्यकता बढ़ती जाती है। इस प्रकार उपनिवेशों या संरक्षित देशोंसे माल मँगानेवालोंका समूह अधिकाधिक शक्तिशाली होता जाता है और उद्योग-व्यवसायमें लगे हुए लोगोंके स्वार्थके साथ उनके स्वार्थका सम्बन्ध भी अविच्छेद्य रूपसे जुटता जाता है। तात्पर्य यह है कि कुछ व्यवसाय ऐसे हैं जो दो तरहसे साम्राज्यवादके समर्थक समझे जा सकते हैं, उदाहरणार्थ जो व्यवसायी सूती वस्त्र बाहर भेजते हैं और जो लोग रुई बाहरसे मँगाते हैं, वे दोनों ही साम्राज्यवादके सहायक होते हैं।

जो लोग लौहव्यवसायमें लगे हुए हैं अर्थात् जो रेलकी पाँतें, इञ्जन तथा अन्य सामग्री एवं तार या तारके खंभे तैयार करते हैं और जो लोग गोला-बारूद या अस्त्रशस्त्र प्रस्तुत करते हैं, वे सब तो सूती कपड़ोंके व्यवसायियोंसे भी बढ़ कर साम्राज्य-वादके हिमायती होते हैं। बड़ी बड़ी जहाज-कम्पनियाँ भी इस नीतिकी पोषक होती हैं, क्योंकि उन्हें कोयला लेने या तूफान इत्यादिके समय जहाजोंके बचावके लिए सुरक्षित स्थानोंकी आवश्यकता पड़ती है। इसके सिवा, औपनिवेशिक व्यापारकी वृद्धि तथा अधिकाधिक संख्यामें लोगोंके वहाँ जा बसनेके साथ उक्त कम्पनियोंका स्वार्थ सम्बद्ध रहता है। जिन महाशयने सबसे पहले यह प्रस्ताव किया था कि ब्रिटेनको ज़ंज़ीबारपर प्रभुत्व स्थापित कर लेना चाहिये, वे ब्रिटिश इण्डिया स्टीम नैविगेशन कम्पनीके प्रधान मालिक विलियम मैकिनान थे। बादमें इन्होंने पूर्वी आफ्रिकाके विकासके लिए ब्रिटिश पूँजी-पतियोंके एक समूहका संघटन भी किया।

साम्राज्यवादके फैलानेमें बैंकोंका कितना हाथ रहता है, इस सम्बन्धमें विशेष कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं है। व्यावसायिक जगत्में आजकल बैंकोंने जो विशेष महत्त्वका स्थान प्राप्त कर लिया है, वह किसीसे छिपा नहीं है। आधु-निक समयमें देशके प्रायः प्रत्येक उद्योग-व्यवसायपर उनका नियंत्रण स्थापित हो गया है। ऊपर जिन व्यवसायोंद्वारा साम्राज्यवादके समर्थनकी बात कही गयी है, उनके साथ बैंकोंका घनिष्ठ सम्बन्ध होनेके कारण इनकी गणना भी साम्राज्यवादके समर्थकोंमें की जानी चाहिये। उपनिवेशोंमें रेल निकालने, नहर बनवाने या अन्य कामोंमें जो रुपया

लगाया जाता है, वह प्रायः बैंकोंके जरिये ही लगाया जाता है। उन्हें जो ऋण दिया जाता है, उसकी रक़म भी प्रायः बैंकों द्वारा ही प्राप्त होती है।

साम्राज्यवादके समर्थकोंमें धर्मप्रचारकोंकी गणना करना एक आश्चर्यजनक बात है, किन्तु सत्यके लिहाजसे ऐसा करना ही पड़ता है। उन्नीसवीं शताब्दीमें यूरोपमें जो धार्मिक जागृति हुई, उसके परिणामस्वरूप विदेशोंमें जाकर धर्मप्रचार करनेकी पादरी लोगोंकी प्रवृत्ति बढ़ गयी। यद्यपि ये लोग इस लोकके नहीं, परलोकके राज्यकी स्थापनाका प्रयत्न करने निकलते थे, किन्तु वास्तवमें कई बार ये इस संसारमें ही किसी न किसी साम्राज्यकी स्थापनाके लिए उद्योग करते हुए देख पड़ते थे। कभी कभी तो इच्छा न होते हुए भी इनके कारण साम्राज्यवादको प्रोत्साहन मिल जाता था। यदि असभ्य जातिका कोई आदमी इनमेंसे किसीकी हत्या कर डालता, तो उसके कारण उसके देशकी सरकारको उक्त असभ्य जातिपर अपना प्रभुत्व स्थापित करनेके लिए एक बहाना मिल जाता था। उदाहरणार्थ चीनमें दो पादरियोंके मारे जानेके बाद जर्मनीने इस घटनाको हस्तक्षेपका उपयुक्त कारण मानते हुए उसके एक बन्दरगाहपर अधिकार कर लिया।

कभी कभी पादरी लोग प्रत्यक्ष रूपसे भी साम्राज्यवादके प्रसारमें सहायक होते हैं। सुप्रसिद्ध धर्म-प्रचारक लिविंगस्टोन, जो आफ्रिका गया था, सच्चे दिलसे चाहता था कि वहाँके असभ्य निवासियोंपर ब्रिटेनका प्रभुत्व स्थापित हो जाय, जिससे उनमें धर्म और सभ्यताका प्रचार भलीभांति किया जा सके और गुलामीकी प्रथा शीघ्र हटायी जा सके। मूल-

निवासियोंको कपड़े पहनना तथा नये नये औज़ारोंका प्रयोग करना सिखला कर पादरी लोग अपने देशका व्यापार बढ़ानेमें सहायक होते हैं और व्यापारके बाद झण्डेका प्रवेश होना तो एक मामूली बात है।

शुरू शुरूमें देशान्वेषकों तथा साहसी पर्यटकोंके कारण भी कई बार साम्राज्यवादके प्रसारमें सहायता मिली है। रोलैण्ड्ज़ नामका एक नवयुवक, जो वेल्ज़का रहनेवाला था, नौकरी करनेके उद्देश्यसे लिवरपूल गया और वहाँसे न्यू-आरलीन्स जा पहुँचा। वहाँ हेनरी मॉर्टन स्टेनली नामक एक व्यापारीने उसे अपना दत्तक पुत्र बना लिया। अनेक देशोंमें घूमता हुआ जब वह आफ्रिका पहुँचा, तब लिविंगस्टोनको, जो वहाँके जँगलोंमें ग़ायब हो गया था, ढूँढ़ निकालनेका काम उसके सिपुर्द किया गया। इसमें वह सफल हुआ। सन् १८७४-७७ में उसने कांगो नदीके प्रदेशमें एक छोरसे दूसरे छोरतक यात्रा की। अब वह पक्का साम्राज्यवादी बन गया। एक ओर तो वह इस बातपर ज़ोर देता रहा कि कांगोकी असभ्य जातियोंमें गुलामीकी जो प्रथा प्रचलित है, उसे दूर करने और उनमें सभ्यताका प्रचार करनेके लिए धर्मप्रचारकोंका वहाँ जाना अत्यन्त आवश्यक है, दूसरी ओर वह इस प्रश्नके आर्थिक पहलू की ओर भी ब्रिटिश राजनीतिज्ञों एवं व्यवसायियोंका ध्यान आकर्षित करता रहा। उसने अपने एक भाषणमें कहा था कि यदि थोड़ीसी सभ्यता सीख कर कांगोके मूलनिवासी केवल इतवारके ही दिन मामूली अच्छे कपड़े पहनने लगें, तो मैनचेस्टरका कोई ३२ करोड़ गज कपड़ा प्रति वर्ष इन लोगोंमें खप सकता है। सप्ताहके अन्य दिनोंमें भी कपड़े पहननेकी आदत

पड़ जाने पर तो उन्हें दो करोड़ साठ लाख पौण्डके कपड़ेकी आवश्यकता होने लगेगी। जब उसने इंग्लैण्डको इस सम्बन्धमें विलम्ब करते देखा तो वह बेलजियमके राजाके पास चला गया और कांगोपर प्रभुत्व स्थापित करानेमें उसकी सहायता करने लगा। परिणाम यह हुआ कि यह देश शीघ्र ही बेलजियमके अधीन हो गया।

स्टेनलीके अतिरिक्त और भी कई देशान्वेषकोंका नाम लिया जा सकता है जो साम्राज्यवादका प्रचार करनेमें सहायक हुए हैं। हेनरी हैमिलटन जानस्टन पहले एक अन्वेषक ही था, जो बादमें साम्राज्यवादका समर्थक बन गया। उसने आफ्रिकामें ब्रिटेनका राज्य बढ़ानेमें विशेष सहायता की। इसी प्रकार गस्टव नक्टिगल नामके देशान्वेषकने कमेरून और टोगोलैण्डपर जर्मनीका संरक्षण स्थापित करानेका प्रयत्न किया था।

अनेक राजनीतिज्ञ, सैनिक तथा औपनिवेशिक कर्मचारी और उनके कुटुम्बी एवं मित्रगण भी साम्राज्यवादके समर्थक माने जा सकते हैं। जिन सेनानायकों तथा जहाज़ी बेड़ेके अफ्सरोंने उपनिवेशोंपर विजय प्राप्त करनेमें सहायता दी थी, वे स्वभावतः पिछड़े हुए देशोंपर गोरी जातियोंका प्रभुत्त्व स्थापित करानेके पक्षपाती होते हैं। अनेक सैनिक कर्मचारियों-का यह विश्वास होता है कि युद्धनीतिके जारी रहने और सेना तथा बेड़ेकी वृद्धि होने पर उनके वेतन एवं पदमें तरक्की होनेकी अधिक संभावना रहती है। प्रायः उनकी यह भी धारणा होती है कि इस संसारमें कोई भी देश बिना पर्याप्त सैनिक शक्तिके आत्मरक्षा और आत्मोन्नति नहीं कर सकता। सैनिक नीतिका

अनुसरण करनेसे ही राज्यकी सीमा बढ़ायी जा सकती है। इसीसे वे लोग हमेशा साम्राज्यवादका समर्थन किया करते हैं।

उपनिवेशोंमें काम करनेवाले अफ्सरों और कूटनीतिज्ञोंके सम्बन्धमें भी यही कहा जा सकता है। जो गवर्नर या गवर्नर-जनरल अपने शासनकालमें एकाध नया प्रान्त जीतकर या अन्य किसी तरह साम्राज्यकी सीमा बढ़ानेमें समर्थ होता है, उसकी प्रतिष्ठा बढ़ जाती है, वह देशका परमहितैषी समझा जाता है और उसकी बड़ी ख्याति होती है। लार्ड कर्ज़न, लार्ड मिलनर, सर हैरी जान्सटन आदि इसी तरहके शासक थे। इनके सिवा, छोटे मोटे साम्राज्यवादी शासकोंकी संख्या तो हजारोंपर पहुँच जाती है। ब्रिटेन और फ्रांसमें ऐसे परिवारोंकी संख्या कम नहीं है जिन्हें इस बातका विशेष अभिमान है कि उनके किसी न किसी सदस्यने ब्रिटिश या फ्रांसीसी साम्राज्यकी सीमा बढ़ानेमें सहायता की थी। इनमेंसे कुछ परिवारोंका, कमसे कम ब्रिटेनमें, बड़ा प्रभाव है। वहाँके अधिकांश अमीर-उमरा साम्राज्यवादके पक्षपाती हैं। इसका एक कारण उनके छोटे लड़कोंकी जीविकाका प्रश्न है। क़ानूनके अनुसार किसी लार्डका केवल बड़ा लड़का ही पिताकी मृत्युके बाद लार्ड बन सकता है। अन्य लड़कोंके लिए सेना, जहाज़ी बेड़े या उपनिवेशों आदिमें सम्मानपूर्ण स्थान दिलानेका प्रयत्न करना पड़ता है। अतः यह स्पष्ट है कि अन्य देशोंपर प्रभुत्व स्थापित करनेकी नीतिके कारण इस समस्याके निपटानेमें उन्हें बड़ी आसानी पड़ती है, इसीसे वे लोग साम्राज्यवादके समर्थक होते हैं।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उससे स्पष्ट है कि साम्राज्य-

वादके समर्थकों और सहायकोंकी संख्या बहुत ज़्यादा नहीं है। फिर क्या कारण है कि बहुमत इतनी आसानीसे उनके पक्षमें हो जाता है ? इसका उत्तर यह है कि ये लोग, विशेष कर व्यापारी और पूँजीपति, अधिक सुसंघटित एवं प्रभावशाली हैं। इनके पास रुपया भी काफी होता है, जिसका प्रयोग अपनी कार्य-सिद्धिके लिए ये लोग प्रायः आँख बन्द कर किया करते हैं। दक्षिण आफ्रिकाकी खानोंसे जो हीरे निकाले जाते हैं, उनका व्यवसाय करनेवाले सुप्रसिद्ध सेसिल रोड्ज़ने ब्रिटेन के उदारदलको इस अभिप्रायसे बहुतसा रुपया दिया था कि उक्त दलके सदस्य मिस्र देशपर ब्रिटेनका आधिपत्य बनाये रखनेकी नीतिका समर्थन करेंगे। सेसिल रोडज़का इरादा केप-टू-कैरो (उत्तमाशा अन्तरीपसे काहिरातक) रेलका निर्माण करने तथा तार लगवानेका था, इसीसे वे चाहते थे कि मिस्र ब्रिटेनकी ही अधीनतामें रहे। इसी तरह डोहेनी नामके एक बड़े व्यवसायीने, जिसका मेक्सिकोकी तेलकी खानोंके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था, संयुक्त राज्य अमेरिकाके दोनों प्रधान दलोंको विशेष रूपसे आर्थिक सहायता दी थी, जिसमें अमेरिकाके शासनकी बागडोर चाहे जिस दलके हाथमें रहे पर उसके स्वार्थको किसी तरहका आघात न पहुँचने पावे। इस तरह चुनाव इत्यादिके समय भिन्न भिन्न दलोंकी आर्थिक सहायता करनेके सिवा और भी बहुतसे उपाय हैं, जिनकी सहायतासे शासकवर्ग एवं जनताके प्रतिनिधियोंपर वाञ्छित प्रभाव डाला जा सकता है। उदाहरणार्थ प्रधान मंत्री या अन्य बड़े पदाधिकारियोंको उपनिवेशोंमें रुपया लगानेके लिए फुसलानेका प्रयत्न किया जा सकता है अथवा दो चार प्रभावशाली समा-

चारपत्रोंको खरीद कर उनके द्वारा सर्वसाधारणका मत अपने अनुकूल बनाया जा सकता है।

अधिकांश जनता अल्पसंख्यक साम्राज्यवादियोंके प्रभावमें क्यों आ जाती है, इसका एक कारण यह है कि उसपर विचारों एवं सिद्धान्तोंका जितना असर पड़ता है, उतना प्रत्यक्ष स्वार्थ या हिताहितका नहीं पड़ता। साम्राज्यवादियोंने यह बात खूब अच्छी तरह समझ ली है, इसीसे वे लोग मनुष्यकी कुछ नैसर्गिक प्रवृत्तियोंपर आश्रित विचारोंके प्रचारका प्रयत्न किया करते हैं। सर्वसाधारणको साम्राज्यवादके पक्षमें करनेके लिए सामान्यतः जिन जिन विचारोंका प्रतिपादन किया जाता है, वे मोटे तौरसे चार भागोंमें बाँटे जा सकते हैं—आत्मरक्षा सम्बन्धी, राष्ट्रके आर्थिक हित या राष्ट्रकी प्रतिष्ठाके प्रश्नसे सम्बन्ध रखनेवाले, जनसंख्याकी बाढ़से सम्बद्ध एवं परोपकारिताकी प्रवृत्तिसे उद्भूत विचार।

साम्राज्यवादियोंकी ओरसे सर्वसाधारणके मनमें प्रायः यह शंका उत्पन्न करनेका प्रयत्न किया जाता है कि अमुक अमुक राष्ट्रकी नीयत अच्छी नहीं मालूम होती, कौन जाने वह हमारे देशपर कब आक्रमण कर दे। ऐसी अवस्थामें यदि हम अपने देशकी सैनिक शक्ति नहीं बढ़ा लेते, युद्धकी संभावनाके लिए अपनेको पहलेसे ही तैयार नहीं रखते, तो संभव है उक्त राष्ट्र हमपर अपना प्रभुत्व स्थापित कर ले अथवा हमारे राज्यका एक अंश हमसे छीन ले। आक्रमण होनेके बाद शत्रुको परास्त करनेका प्रयत्न करनेके बजाय यह अधिक अच्छा होगा कि हम शत्रुको दूरसे ही रोक दें। इसके लिए देशके बाहर भी जहाज़ी बेड़के अड्डोंकी स्थापना करना आवश्यक है। हम

देखते हैं कि इसी तर्क-प्रणालीका सहारा लेकर ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस, अमेरिका आदि देशोंने सारे संसारमें अपने अपने जहाज़ी बेड़ेके लिए अनेक अड्डे स्थापित कर लिये हैं।

इसीसे मिलता-जुलता साम्राज्यवादियोंका एक तर्क यह भी है कि युद्धके समय कच्चा माल निर्विघ्न रूपसे हमें मिल सके, इसका प्रबन्ध होना चाहिये। शान्तिके समय हम भले ही पड़ोसके राष्ट्रोंसे कोयला, लोहा, तेल, रुई इत्यादि मँगा सकते हैं, किन्तु युद्धके समय इनके लिए दूसरोंपर आश्रित रहनेसे काम नहीं चल सकता। यदि लड़ाई छिड़ जाने पर इनके आयातका उचित प्रबन्ध हम स्वयं नहीं कर सकते, तो कोयले और लोहे बिना हमारे कारखाने गोला-बारूद तैयार नहीं कर सकेंगे; उसी प्रकार तेलके बिना हमारे रणपोतों तथा हवाई जहाज़ोंका चलना बन्द हो जायगा। तात्पर्य यह है कि इस तरहकी बातोंका प्रचार कर वे लोग सर्वसाधारणको अपने पक्षमें कर लेते हैं।

अनेक अर्थशास्त्रियों तथा अन्य प्रभावशाली लेखकोंके कारण सामान्यतः लोगोंकी यह धारणा हो गयी है कि प्राकृतिक साधनोंसे सम्पन्न उपनिवेशोंपर आधिपत्य स्थापित करने अथवा दूसरे देशोंमें व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त करनेसे राष्ट्रकी आर्थिक उन्नतिमें विशेष सहायता मिलती है। उदाहरणार्थ ब्रिटेनके निवासियोंका यह ख़याल है कि दक्षिण आफ्रिकाकी हीरे और सुवर्णकी खानोंसे ब्रिटेनके राष्ट्रीय धनकी वृद्धि हुई है। उसी प्रकार फ्रांसवाले समझते हैं कि उत्तर आफ्रिकाके प्राकृतिक साधनोंके कारण फ्रांसकी आर्थिक स्थितिको पर्याप्त लाभ पहुँचा है। अमेरिका समझता है कि

मेक्सिकोमें तेल निकालनेकी सुविधा प्राप्त हो जानेसे देशकी राष्ट्रीय आमदनी बढ़ गयी है। यह धारणा कहाँतक सच है, कहना कठिन है। कुछ लोगोंके कथनानुसार ऐसा ख़याल करना नितान्त भ्रामक है। दक्षिण आफ्रिकाकी खानोंसे सेसिल रोड्ज़ने जो करोड़ों रुपये कमाये, उनसे ब्रिटेनकी ग़रीब जनताका कोई उपकार नहीं हुआ। उनकी स्थिति प्रायः ज्योंकी त्यों रही, बल्कि यह कहना चाहिये कि उसके कारण जो बोअर युद्ध हुआ उससे सर्वसाधारणका करभार और भी अधिक बढ़ गया। इसी प्रकार मेक्सिकोके तैलकूपोंसे जिन बड़े बड़े व्यवसायियोंने लाभ उठाया, उन्होंने अपने लाभकी रक़म अमेरिकाकी जनतामें नहीं बाँट दी। उनकी सम्पत्ति बढ़ जानेसे सामान्य जनताकी स्थितिमें कोई सुधार नहीं हुआ। इतना होते हुए भी राष्ट्रीय भावनासे प्रेरित होकर मामूली लोग तक बड़े अभिमानके साथ कहते हैं कि दक्षिण आफ्रिकाकी सोनेकी खानें 'हमारे' अधिकारमें हैं, भारतके सदृश विशाल देशपर 'हम' शासन करते हैं। इस भावनाके कारण थोड़े समयके लिए वे सब अपनी दरिद्रावस्थाकी बात मानो बिलकुल भूल जाते हैं और इन-गिने पूंजीवादियोंके हितको ही अपना एवं अपने राष्ट्रका हित समझने लगते हैं।

राष्ट्रकी प्रतिष्ठाके प्रश्नके साथ भी राष्ट्रीय भावनाका घनिष्ठ सम्बन्ध है। हम प्रायः नित्य देखते हैं कि जिस कुटुम्ब, जिस नगर, जिस प्रान्त, जिस देश या जिस समाजमें कोई व्यक्ति जन्म लेता है या जिससे उसका निकट सम्बन्ध होता है, उसे वह अन्य कुटुम्बों, अन्य नगरों, अन्य प्रान्तों, अन्य देशों अथवा अन्य समाजोंसे अधिक उन्नत एवं अधिक

सम्मानित देखना चाहता है। अपने कुटुम्ब या अपने नगर-के मानापमानको हम प्रायः अपना ही मानापमान समझते हैं। देशकी इज्ज़तका प्रश्न उपस्थित होने पर तो हम उसके लिए प्राणतक देनेके लिए तैयार हो जाते हैं। इस स्वाभाविक प्रवृत्ति-से लाभ उठाकर साम्राज्यवादी लोग अनायास ही सर्वसाधा-रणको अपने पक्षमें कर लेते हैं। उनके बहकानेमें आकर मामूली जनता भी साम्राज्यकी वृद्धि या साम्राज्यकी रक्षाके लिए बहुत कुछ आत्मत्याग करनेको तैयार हो जाती है। इसीसे आफ्रिकाके पूर्वी किनारेके एक अनुपजाऊ भूभाग पर आधिपत्य बनाये रखनेके निमित्त इटलीके करदाताओंने करोड़ों रुपये खर्च कर देनेमें कोई आपत्ति नहीं की। उनके लिए यह राष्ट्रकी इज्ज़तका सवाल था। उक्त भूभागपर अधिकार बना रहनेसे उन्हें यह ख़याल कर सन्तोष होता था कि हम भी एक बड़े राष्ट्रके नागरिक हैं। फ्रांसीसियोंके सम्बन्धमें भी यही बात कही जा सकती है। उन्होंने यह सोचकर फ्रांसका साम्राज्य बढ़ानेमें सहायता की कि फ्रांस यदि अन्य देशोंपर अपना प्रभुत्व स्थापित नहीं करता तो उसकी गणना शीघ्र ही द्वितीय या तृतीय श्रेणीके राष्ट्रोंमें होने लगेगी। इसी तरह ब्रिटेनकी जनता भी राष्ट्रीय प्रतिष्ठाके लिहाजसे भारतको अपने चंगुलमें फँसाये रखने या आयर्लैण्डसे जिस किसी तरहसे वार्षिक कर वसूल करनेमें ब्रिटिश सरकारका समर्थन करती है।

यदि कोई देश अन्य देशके नागरिकोंके प्रति दुर्व्यवहार करता है या इसके राष्ट्रीय झंडेका अपमान करता है, तो उसे इस औद्धत्यकी सजा देकर राष्ट्रके सम्मानकी रक्षा करना प्रत्येक महान् देशका कर्त्तव्य है। इसीसे, जैसा

कि हम पहले लिख चुके हैं, जब चीनमें जर्मनीके दो पादरियों-की हत्या हो गयी तो जर्मनीने उसके एक बन्दरपर अधिकार कर अपनी प्रतिष्ठा अक्षुण्ण बनाये रखनेका प्रयत्न किया। इसी प्रकार जब एक इटैलियन युवतीको कोई मुसलमान भगा कर ले जाता है, तब इटली सारे ट्रिपोलीपर अधिकार जमा कर इस राष्ट्रीय अपमानको बदला लेता है। मतलब यह कि राष्ट्रके सम्मानकी रक्षाके बहाने साम्राज्यवादियोंको अपनी इच्छापूर्तिका सुअवसर प्राप्त हो जाता है।

सर्वसाधारणको साम्राज्यवादके अनुकूल बनानेमें जो तीसरी बात सहायक होती है, वह है जनसंख्याकी बाढ़के कारण उत्पन्न आर्थिक कठिनाई। जनसंख्या बढ़ जाने पर अन्न-की कमीका प्रश्न विकराल रूप धारण कर लेता है। कई देशोंकी तो प्राकृतिक स्थिति ही ऐसी है कि वहाँ अधिक मात्रामें अन्न उत्पन्न नहीं किया जा सकता, अतः उन्हें औद्यो-गिक उन्नतिकी ओर विशेष ध्यान देना पड़ता है और अधि-कांश खाद्यसामग्री बाहरसे मँगानी पड़ती है। ऐसी अवस्थामें जहाँसे अन्न मँगाया जाता है, उन देशोंपर तथा गमनागमन-के मार्गोंपर नियंत्रण रखनेकी आवश्यकता प्रतीत होने लगती है। जिस देशकी आबादी बहुत बढ़ जाती है, उसमें आपसकी प्रतिद्वन्द्विताके कारण कामकाज प्राप्त करनेमें लोगोंको विशेष कठिनाई होने लगती है और जीवन-निर्वाहका व्यय भी अधिक पड़ने लगता है। इस स्थितिमें लोगोंके मनमें यह धारणा सहज ही उत्पन्न की जा सकती है कि आबादी बढ़ जानेके कारण ही देशमें इतनी बेकारी दृष्टिगोचर हो रही है, जिससे छुटकारा पानेके लिए उपनिवेशोंकी स्थापना करना आवश्यक

है। इटली, जर्मनी और जापान द्वारा साम्राज्यवादके प्रसारमें इस दलीलका विशेष रूपसे प्रयोग किया गया है।

इटलीके साम्राज्यवादियोंने देखा कि जहाँ सन् १८८१ में इटलीसे कुल ९४ हजार व्यक्ति बाहर गये, वहाँ १८९१ में १ लाख १८ हजार और १९०१ में २ लाख ८२ हजार व्यक्तियोंने अन्य देशोंके लिए प्रस्थान किया, अतः उन्हें यह कहनेका मौक़ा मिला कि इटलीकी आबादी इतने ज़ोरोंसे बढ़ रही है कि उसके एक अंशके निकासके लिए आफ्रिकाके अनधिकृत भूभागोंपर क़ब्ज़ा करना आवश्यक है। सन् १८७१ से १८८० तक जर्मनीसे भी कोई सवा छः लाख आदमी बाहर गये। इधर इसी समयके भीतर वहाँकी आबादी ४४१ लाखसे बढ़कर ४७० लाख हो गयी। इसके बाद केवल चार वर्षमें बाहर जानेवालोंकी संख्या साढ़े सात लाख तक जा पहुँची। इन अंकोंसे वहाँके साम्राज्यवादियोंने विशेष लाभ उठाया, यहाँ तक कि बाहर जानेवालोंकी संख्या बिलकुल कम हो जाने पर भी इनका हवाला देकर वे लोग उपनिवेश स्थापनापर ज़ोर देते रहे। जापानने भी कोरिया और मंचूरियामें अपना प्रभुत्व स्थापित करनेके लिए प्रायः इसी दलीलका सहारा लिया है।

इस प्रश्नपर थोड़ी देरतक विचार करनेसे विदित होगा कि अन्नकी कमी या स्थल-संकोचका प्रश्न विशेष महत्त्वपूर्ण न होते हुए भी प्रायः जन-संख्याकी वृद्धिके बहाने साम्राज्य बढ़ानेकी चेष्टा की जाती है। एशियाके अनेक भागोंमें जन-संख्याकी वृद्धि एवं खाद्य-सामग्रीकी कमीका प्रश्न जितना कठिन है, उतना यूरोपीय देशोंमें नहीं है।* इसके सिवा

* भारतीय आर्थिक सम्मेलनके अधिवेशनमें (२-१-३३) डाक्टर

यूरोपके कई देशोंने विज्ञानकी सहायतासे अपने यहाँ अन्नकी उत्पत्ति बढ़ानेमें आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की है। ऐसी अवस्थामें यही कहना पड़ता है कि साम्राज्यवादियोंका उपनिवेश-स्थापनापर ज़ोर देनेका कारण खाद्य वस्तुओंकी वास्तविक कमी न होकर केवल इस बातकी आशंका या कल्पित भय है कि भविष्यमें कहीं पर्याप्त अन्नके बिना कठिनाइयोंका सामना न करना पड़े। फिर जो लोग स्वदेश छोड़कर बाहर जाते हैं, वे प्रायः इसलिए नहीं जाते कि देशमें उनके रहनेके लिए काफी स्थान या पेट भरनेके साधन नहीं हैं, वरन् इस लिए जाते हैं कि उन्हें अन्य देशोंमें स्वदेशकी अपेक्षा अधिक रुपया कमाने और अधिक स्वतन्त्रतापूर्वक जीवन-निर्वाह कर सकनेकी आशा होती है। विशेष आर्थिक उन्नति करनेके अभिप्रायसे वे ऐसे ही देशको जाना पसन्द करते हैं जहाँ उन्हें अभीष्ट-प्राप्तिकी विशेष संभावना प्रतीत होती है।

अब हम सभ्य जातियोंके परोपकारिताके भावको लेते हैं। ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी आदि देशोंके लोगोंमें यह भाव विशेष रूपसे पाया जाता है। वहाँवालोंका विश्वास है कि आफ्रिका तथा एशियाके पिछड़े हुए लोगोंका 'जंगलीपन' दूर करना और उन्हें अपने 'सुसभ्य' शासनसे लाभ उठानेका मौक़ा देना प्रत्येक गोरी जातिका प्रमुख कर्त्तव्य है। कभी कभी तो असभ्योंको सभ्य बनानेके इसी 'पवित्र कर्त्तव्य' पर इतना

राधाकमल मुकर्जीने सभापतिकी हैसियतसे भाषण करते हुए कहा था कि गौरांग जातियोंके ६५ करोड़ मनुष्य जितनी भूमिमे रहते हैं, उसके केवल षष्ठांश भूभागमें एशियाके दक्षिण पूर्ववाले देशों तथा आसपासके स्थानोंमें कोई ९० करोड़ मनुष्य रहते हैं।—लेखक

अधिक ज़ोर दिया जाता है कि बेचारे जंगली लोगोंको, उनकी इच्छा न होते हुए भी, तलवारों और बन्दूकोंकी सहायतासे सभ्यताका पाठ पढ़ानेकी कोशिश की जाती है ! मेक्सिकोके सम्बन्धमें अमेरिकाके राष्ट्रपति विलसनकी नीतिका उल्लेख करते हुए एक महाशयने कहा था कि वह "गोली चलाकर स्वायत्त शासनका सबक़ सिखाने" की नीति थी। पिछड़ी हुई जातियोंमें सभ्यताका प्रचार करनेके लिए यूरोपीय देश इतने अधिक उत्सुक रहते हैं कि इस महान् कार्यको सम्पन्न करनेकी दृष्टिसे वे एक दूसरेके साथ युद्ध तक ठान बैठते हैं और धन-जनकी विशेष हानि उठाकर भी अपने उच्च लक्ष्यसे विमुख नहीं होना चाहते। ऐसी अवस्थामें परोपकार करनेके इस दृढ़संकल्पके कारण यदि सामान्य जनता भी साम्राज्य-वादकी समर्थक बन जाती है, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

अनुक्रमणिका

द्वितीय भाग

साम्राज्यवाद कैसे फैला ?

साम्राज्यवाद कैसे फैला ?

पहला अध्याय

साम्राज्यवाद—तब और अब

ईसाकी बारहवीं शताब्दीसे पन्द्रहवीं शताब्दीतक पूर्वी देशोंके साथ व्यापार करनेमें इटलीके देश विशेष रूपसे आगे बढ़े हुए थे। उन दिनों यूरोपमें सोना और चाँदी, ये दोनों धातुएँ बहुत कम मात्रामें प्राप्त थीं। व्यापार बढ़ने पर इनकी कमी और भी खटकने लगी। इधर राजाओंको भी दरबारका खर्च चलाने, सेना रखने तथा अपनी शक्ति बढ़ानेके लिए सोने-चाँदीकी ज़रूरत थी। इटलीके नगर-राज्योंको एशियासे और जर्मनोंको अपनी खानों तथा व्यापारसे काफी सोना मिल जाता था। अन्य देशोंने कीमियागरीका सहारा लिया या सिक्कोंमें मिलावट करनी शुरू की, किन्तु इससे कोई लाभ नहीं हुआ। तब कुछ साहसी राजाओंने नयी खानोंका पता लगानेके लिए अन्वेषक भेजे। ऐसा करनेका एक उद्देश्य यह भी था कि यदि पूरबके देशोंको जानेका नया मार्ग मिल जाय, तो इटली और जर्मनीसे इतना महँगा माल न खरीदना पड़े।

स्पेनके देशान्वेषकोंको अमेरिकामें सोने-चाँदीकी खानें मिल गयीं। इन खानोंसे सन् १४९३ से १६४० तक उसे कोई

८७५ टन सोना और ४५७२० टन चाँदीकी प्राप्ति हुई (एक टन= लगभग २७½ मन)। यद्यपि इसका एक बड़ा भाग रास्तेमें ही लूट लिया गया और कुछ अंश व्यापारके कारण अन्य देशोंको चला गया, फिर भी इसके कारण स्पेनको बड़ा लाभ हुआ।

इधर सन् १४९८ में कुछ पोर्तगाल-निवासी आफ्रिकाका चक्कर काटकर भारत पहुँचे। वहाँसे वे जहाजोंमें मसालेकी चीज़ें लादकर वापस लौटे। अब डच, फ्रांसीसी तथा अंग्रेज व्यापारी लिस्वनके गोदामोंसे ही ये चीज़े खरीदने लगे। परिणाम यह हुआ कि पोर्तगालके अनेक व्यापारियों एवं पदाधिकारियोंने व्यक्तिगत रूपसे जो लाभ उठाया, उसके सिवाय पोर्तगालके राजकोषको प्रतिवर्ष लगभग चौबीस लाख रुपयेकी विशुद्ध आय होने लगी।

स्पेन और पोर्तगालके उदाहरणसे प्रोत्साहित होकर अन्य देशोंने भी इस ओर अग्रसर होनेके लिए विशेषरूपसे प्रयत्न आरंभ किया। सत्रहवीं शताब्दीके शुरू होते होते डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनीकी स्थापना हुई। डचोंने शीघ्र ही पोर्तगालका व्यापार अपने हाथमें कर लिया। फ्रांसने भी हालैण्डका अनुकरण करना शुरू किया। धीरे धीरे प्रशा, स्वीडन, डेनमार्क आदि देश भी सामने आये। इन सब देशोंने उपनिवेश स्थापित करने, निर्यात व्यापार बढ़ाने तथा बड़े बड़े वाणिज्य-पोत तैयार करानेकी चेष्टा की।

जब बड़े बड़े जहाज़ बनने लगे और तमाम यूरोपमें अच्छी सड़कें तैयार हो गयीं, तब अधिक मात्रामें व्यापार करना संभव हो गया और उससे पर्याप्त लाभ भी होने लगा। अब

उद्योग-व्यवसायकी उन्नतिकी ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। घरके बाज़ार मालसे पट गये, यूरोपीय राष्ट्रोंमें आपसकी प्रतिद्वन्द्विता बढ़ गयी और उन्होंने अपने अपने व्यापारकी रक्षाके लिए संरक्षण-नीतिका सहारा लेना शुरू किया। ऐसी अवस्थामें उनका ध्यान स्वभावतः उपनिवेश प्राप्त करनेकी ओर गया, जहाँ उनके कारखानों द्वारा तैयार किया गया माल खप सकता और जहाँसे वे आवश्यक कच्चा माल भी प्राप्त कर सकते।

अठारहवीं सदीके मध्यमें फ्रांस एवं इंग्लैण्ड प्रमुख व्यापार-वादी राष्ट्र बन गये। स्पेन, पोर्तगाल, हालैण्ड आदिकी गणना अब भी व्यापारवादी देशोंमें की जाती थी, किन्तु अब उनके व्यापारका ह्रास होने लगा था और उनकी औपनिवेशिक शक्ति भी कम होती जा रही थी। प्रशाने तो सन् १७२५ में ही आफ्रिका-तटवर्त्ती 'गोल्डकोस्ट' का प्रान्त हालैण्डके हाथ बेच दिया था। १७६३ में फ्रांसके उपनिवेश भी उसके हाथसे निकल कर ब्रिटेनके अधिकारमें चले गये। जब सन् १७७६ में उसके भी तेरह अमेरिकन उपनिवेशोंने स्वतंत्र होनेकी घोषणा कर दी, तब ऐसा प्रतीत होने लगा मानो ब्रिटिश साम्राज्यके दिन भी निकट आ गये हों। इधर उन्नीसवीं शताब्दीके आरंभमें दक्षिण अमेरिकासे स्पेनका प्रभुत्व उठ गया और ब्रेज़िल भी पोर्तगालके हाथसे निकल गया।

यह हालत देखकर उपनिवेश स्थापित करनेकी नीति परसे धीरे धीरे अनेक राजनीतिज्ञोंका विश्वास उठने लगा। अठा-रहवीं शताब्दीके मध्यमें एक लेखकने जो यह कहा था कि "उपनिवेश फलोंके समान हैं जो पेड़में तभी तक लगे रहते

हैं जब तक वे पक नहीं जाते," वह सच मालूम पड़ने लगा। यद्यपि कुछ लोग अब भी उपनिवेश स्थापित करनेकी नीतिके समर्थक थे, फिर भी अधिकांश राजनीतिज्ञ या तो इसके विरोधी होते जा रहे थे या उदासीन भाव धारण करने लगे थे। इसीसे हम देखते हैं कि १८१५ से १८७५ तक कोई साठ वर्षके समयमें अपेक्षाकृत बहुत कम स्थानोंपर कब्ज़ा किया गया। सन् १८४० में बड़े असमंजसके बाद ही न्यूज़ीलैण्ड ब्रिटिश साम्राज्यमें मिलाया गया। यही बात नेटालके सम्बन्धमें कही जा सकती है, जो सन् १८४३ में ब्रिटेनके अधिकारमें आया। सन् १८५९ में फिज़ी द्वीपके देशी राजाने विद्रोहियों एवं प्रतिद्वन्द्वियोंकी काररवाईसे परेशान होकर और एक अमेरिकन वाणिज्य-दूतको क्षति पहुँचनेके कारण अमेरिकाकी ओरसे ४५ हजार डालर हरजाना माँगे जाने पर ब्रिटिश आधिपत्य स्वीकार करनेकी इच्छा प्रकट की, किन्तु उपनिवेश-विभागने उसका अनुरोध स्वीकार नहीं किया। दूसरी बार उसने इसके लिए पुनः प्रार्थना की और वह भी उसी तरह अस्वीकृत हुई। अन्तमें सन् १८७४ ईसवीमें तीसरी बार प्रयत्न करने पर उसकी बात मान ली गयी, क्योंकि अब इंग्लैण्डमें साम्राज्यवादकी नीतिको पुनः महत्त्व दिया जाने लगा था।

जब हम फ्रांसकी ओर देखते हैं, तो वहाँ भी उन्नीसवीं शताब्दीके मध्यमें साम्राज्यवादके विरोधी भावका ज़ोर पाते हैं। सन् १८१५ तक फ्रांसके औपनिवेशिक साम्राज्यका क्षेत्रफल मुश्किलसे ३८ हजार वर्गमील रह गया था, जिसकी आबादी कोई चार लाख ही थी। इसके बाद सन् १८७७ तक उसकी ओरसे अन्य भूभागोंपर अधिकार करनेके निमित्त जो

प्रयत्न किये गये, उनमें कोई जान न थी। सन् १८७७ के पहले ६२ वर्षोंमें कुल जितनी भूमिपर क़ब्ज़ा किया गया, उसकी अपेक्षा उसके बादके केवल ४८ वर्षोंमें ही, साम्राज्यवादकी प्रवृत्ति बढ़ जाने पर, कोई सोलह गुनी भूमि प्राप्त की गयी।

जर्मनीकी भी यही हालत थी। सन् १८७६ तक वहाँके प्रधान मंत्री बिसमार्ककी ओरसे उपनिवेश-स्थापनाकी नीतिका विरोध किया जाता रहा। उसने प्रशान्त सागरके सूलू द्वीपपर जर्मनीका संरक्षण स्थापित करनेसे इनकार कर दिया और जब पोर्त्तगालने मोज़ाम्बिक बेचना चाहा, तब भी उसने उसे खरीदना स्वीकार नहीं किया। भिन्न भिन्न भूभागोंपर अधिकार करनेके लिए कई बड़े बड़े व्यापारियों तथा पर्यटकोंके पुनः पुनः प्रार्थना करने पर भी वह टससे मस न हुआ। जर्मनीकी यह नीति तबतक जारी रही, जबतक यूरोपके अन्य देशोंमें नूतन रूपसे साम्राज्यवादका काफी प्रसार नहीं हो गया।

अब यह देखना चाहिये कि उन्नीसवीं शताब्दीके चौथे चरणमें आधुनिक साम्राज्यवादकी ओर यूरोपीय देशोंका ध्यान विशेषरूपसे आकृष्ट होनेका कारण क्या है। तत्कालीन परि-स्थितिके सम्बन्धमें विचार करनेसे मालूम होता है कि उस समय यूरोपकी आर्थिक अवस्थामें कई महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन हो गये थे। इनमेंसे चार जो विशेष उल्लेखनीय हैं, ये थे—कारखानोंमें वाष्प यंत्रोंका प्रयोग, रेलकी सड़कों और तारोंका प्रसार, कच्चे मालकी आवश्यकताका बढ़ जाना तथा 'फाज़िल पूँजी' का जमा हो जाना।

वाष्पयंत्रोंके आविष्कारसे सबसे पहले इंग्लैण्डने लाभ उठाया। उसका व्यापार बड़ी शीघ्रतासे बढ़ने लगा। यद्यपि

बादमें जर्मनी, फ्रांस आदि देशोंने भी नूतन यंत्रोंकी सहायतासे औद्योगिक क्षेत्रमें अच्छी उन्नति कर ली, फिर भी सन् १८७० तक विदेशी व्यापारकी दृष्टिसे यूरोपीय देशोंमें इंग्लैंडका ही प्राधान्य था। उस समयतक समस्त संसारके कारखानोंमें जितना लोहा गलाया जाता था, उसका आधा अकेले इंग्लैण्डमें ही गलाया जाता था। इसी प्रकार सारे संसारमें उस समय जितने सूती कपड़े तैयार होते थे, उसके आधे सिर्फ इंग्लैण्डके ही पुतलीघरोंसे निकलते थे। उन्नीसवीं शताब्दीका अन्त होते होते लौहव्यवसायमें संयुक्त राज्य अमेरिकाने प्रथम स्थान प्राप्त कर लिया और जर्मनी भी इंग्लैण्डको मात करनेकी चेष्टा करने लगा। सन् १८७० से १९०३ तक जहाँ इंग्लैण्डके लौहव्यवसायने कुल ५० प्रतिशत उन्नति की, वहाँ अमेरिका तथा जर्मनीके लोहेके कारखानोंकी उत्पत्ति क्रमशः ९६६ तथा ६०९ प्रतिशत बढ़ गयी।

सूती वस्त्रोंके व्यवसायकी दृष्टिसे इंग्लैण्डकी स्थिति उतनी खराब नहीं होने पायी। फिर भी अमेरिका तथा जर्मनीके वस्त्रव्यवसायकी प्रतियोगिताके कारण इंग्लैण्डमें तैयार होनेवाले कपड़ोंकी उत्पत्ति सन् १९०० तक तीस वर्षके भीतर ३ प्रतिशत कम होगयी। इस समय स्वदेशसे बाहर भेजे जानेवाले कपड़ोंकी तादाद जहाँ अमेरिकामें ४०० प्रति शत तथा जर्मनीमें २०० प्रति शत बढ़ी, वहाँ इंग्लैण्डमें वह ४५ प्रति शतसे अधिक न बढ़ सकी। तात्पर्य यह है कि उन्नीसवीं शताब्दीका अन्त होते होते जर्मनी, अमेरिका, फ्रांस आदि देशोंने भी काफी औद्योगिक उन्नति कर ली। प्रत्येक देशने अपनी आवश्यकतासे अधिक माल तैयार करना शुरू कर दिया। इसे खपाने-

के लिए उनमें शीघ्र ही परस्पर प्रतियोगिता होने लगी। प्रत्येक औद्योगिक राष्ट्रने अपने प्रतिद्वन्द्वीका माल देशके अन्दर न घुसने देनेके उद्देश्यसे बाहरसे आनेवाली चीज़ोंपर आयात कर लगा दिया। अतः अब औद्योगिक देशोंके सामने, अपना माल खपानेके लिए, औपनिवेशिक बाज़ारोंकी तरफ ध्यान देनेके सिवाय और कोई उपाय नहीं रह गया। इन बाज़ारोंको अपनानेकी प्रवृत्ति महासमरके बादसे तो यहाँतक बढ़ गयी है कि स्वतंत्र वाणिज्यके कट्टर समर्थक ब्रिटेन तकने साम्राज्यके बाहरसे आनेवाली चीज़ोंपर धीरे धीरे कर बैठाना शुरू कर दिया और गत वर्ष (सन् १९३२ में) तो ओटावा-सम्मेलनमें उसने स्पष्टरूपसे साम्राज्यान्तर्गत-संरक्षणकी नीति स्वीकार कर ली।

अब रेलकी सड़कों तथा तारोंके प्रसारकी बात लीजिए। भाफकी सहायतासे चलनेवाले रेलके इंजनों और जहाज़ोंका प्रचार हो जाने तथा विद्युत् सम्बन्धी आविष्कारके कारण साम्राज्यवादको विशेष प्रोत्साहन मिला। एक देशसे अन्य देशको बड़ी तादादमें माल पहुँचानेमें रेलों तथा वाष्प-सञ्चालित पोतोंसे विशेष सहायता मिलने लगी। रेलकी सड़कें तैयार हो जाने पर आफ्रिका तथा एशियाके घने जङ्गलोंमें भी व्यापारकी चीजें पहुँचाना और आवश्यकताके समय सेना भेजना बहुत आसान होगया। इसी तरह बिजलीके तार द्वारा खबर भेजनेका सुभीता हो जानेके कारण दूर दूर तकके उपनिवेशोंसे सम्बन्ध बनाये रखनेमें कोई बड़ी कठिनाई नहीं रह गयी। उन्नीसवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें सारे संसारके रेल-मार्गोंकी लम्बाई २४ हजार मीलसे बढ़कर ५ लाख मील हो गयी।

सन् १८५० तक कुल ५ हजार मीलकी दूरीमें ही तार लगा हुआ था, किन्तु उन्नीसवीं शताब्दीकी समाप्ति पर कोई १२ लाख मील तक उसका प्रसार हो गया। इसीसे इन पचास वर्षोंमें औपनिवेशिक व्यापारने आश्चर्यजनक उन्नति कर ली एवं नये नये भूभागोंपर प्रभुत्व स्थापित करनेकी नीतिको भी, विशेष कर सन् १८७५ के बाद, अत्यधिक प्रोत्साहन मिला।

साम्राज्यवादकी वृद्धिका तीसरा कारण है कच्चे मालकी आवश्यकताका बढ़ जाना। ब्रिटेनमें सूती वस्त्र तैयार करनेवाले कारखानोंकी जो उन्नति हो रही थी, उसके कारण वहाँ रुईकी मांग बहुत बढ़ गयी। पहले तो उसे अमेरिकाके दक्षिणी भाग तथा उपनिवेशोंसे आवश्यक मात्रामें रुई मिल जाती थी, किन्तु अमेरिकामें गृहयुद्धका आरंभ होनेके कारण जब वहाँसे रुईका आना बन्द हो गया, तब उपनिवेशोंकी उत्पत्तिकी ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। १८५० से १८९० तक कोई चालीस वर्षमें मिश्रमें रुईकी उत्पत्ति नौगुनी बढ़ गयी और भारतमें भी वह पहलेकी अपेक्षा बहुत अधिक मात्रामें उत्पन्न की जाने लगी। इधर जब बाइसिकलों या मोटर गाड़ियोंके प्रचारके कारण, जिनमें रबरके टायर लगाये जाते हैं, रबरकी खपत बढ़ने लगी, तब बेलजियम तथा फ्रांसके साम्राज्यवादियोंने कांगोको अपना उपनिवेश बना लिया।

इसी तरह मध्य तथा पश्चिमी यूरोपके अनेक देशोंने भी उद्योग-व्यवसायकी उन्नतिकी ओर विशेष ध्यान दिया। परिणाम यह हुआ कि उन्हें भी कच्चे माल एवं खाद्य सामग्रीके लिए विदेशोंपर अवलम्बित होना पड़ा। इसीसे साम्राज्यवादकी ओर उनका झुकाव बराबर बढ़ता गया।

'फाजिल' पूँजीका मुनाफेके साथ प्रयोग करनेकी इच्छाके कारण भी साम्राज्यवादको प्रोत्साहन मिलता है। जब किसी देशमें उद्योग-व्यवसायकी बहुत अधिक उन्नति हो जाती है, तब वहाँके पूँजीपतियोंको कारखानों, इत्यादिसे इतनी आमदनी होने लगती है, जितनी वे खर्च नहीं कर सकते। इस प्रकार जो रक़म बच जाती है, वह प्रायः पुनः उद्योग-व्यवसायमें लगा दी जाती है, किन्तु इसकी एक सीमा होती है जिसके पार करते ही और नयी पूँजी लगानेसे प्रायः कोई लाभ नहीं होता। यह अवस्था उपस्थित होने पर बची हुई पूँजी या तो कम मुनाफा देनेवाले उद्योगोंमें लगानी पड़ती है या ऋण लेनेवालोंको कम सूदपर दे देनी पड़ती है। हाँ, यदि पिछड़े हुए देशोंमें रेल निकालने या ऐसे ही अन्य कामोंमें वह लगा दी जाय, तो अवश्य अधिक लाभ होनेकी संभावना रहती है। उदाहरणार्थ यदि फ्रांसमें रेलकी कोई नयी सड़क निकाली जाय, तो उसपर मुश्किलसे २ या ३ प्रतिशत लाभ होगा; किन्तु यदि किसी पिछड़े हुए देशमें यह काम किया जाय, तो कदाचित् १०-१५ प्रतिशतसे कम लाभ न हो। अतः फाजिल पूँजीका लाभ सहित उपयोग करनेके लिए उपनिवेशों या पिछड़े हुए देशोंपर अधिकार करना आवश्यक हो जाता है। कभी कभी यह फ़ाज़िल पूँजी ऐसी शर्तोंपर अनुन्नत एवं अशक्त राज्योंको ऋण देनेमें लगा दी जाती है, जिनके कारण उक्त राज्योंपर प्रभुत्व स्थापित करनेमें कोई कठिनाई नहीं होती। फ्रांसने ट्यूनिसके "बे" को बहुत अधिक व्याजकी दरपर कर्ज़ दिया और उसके बदले ट्यूनिसमें विविध आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त कीं। सूदकी बड़ी रक़म अदा करनेके लिए 'बे' को अपनी प्रजाका धन निचोड़ने-

का प्रयत्न करना पड़ा, जिसके परिणाम स्वरूप वहाँवालोंमें असन्तोषकी मात्रा बढ़ गयी और उन्होंने पुनः पुनः बलवा करना शुरू किया। इस अव्यवस्थासे तंग आकर सुविधा-प्राप्त पूँजीपतियों और व्यापारियोंने फ्रांसीसी सरकारसे हस्त-क्षेप करनेकी प्रार्थना की। बस, अब क्या था, फ्रांसके प्रधान मंत्रीने तुरन्त एक सेना भेज दी और यह कहकर अपने कार्यका समर्थन किया कि फ्रांसीसी वस्तुओंके निकासके लिए ट्यूनिस पर क़ब्ज़ा कर लेना अत्यन्त आवश्यक है।

इस प्रकार आधुनिक साम्राज्यवादके प्रसारका कारण नूतन आर्थिक परिस्थिति ही थी, जिसके चार भिन्न भिन्न स्वरूपोंका संक्षिप्त वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं। इसके सिवाय एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी था कि अब आर्थिक और वाणिज्य-सम्बन्धी मामलोंमें भी राष्ट्रीयताके सिद्धान्तका प्रयोग किया जाने लगा था। पहले ऐडम स्मिथ आदि बड़े बड़े अर्थ-शास्त्र-विशारदोंका यह मत था कि वाणिज्य-व्यवसायको स्वतंत्र-रूपसे चलने देना चाहिये, उसमें राज्यकी ओरसे कोई हस्तक्षेप न होना चाहिये। अब इसके विपरीत फ्रीड्रिक लिस्ट आदि अर्थशास्त्रज्ञोंने इस मतका प्रचार करना शुरू किया कि राष्ट्रकी भलाईके लिए राज्यकी ओरसे वाणिज्यव्यवसायका समुचित नियंत्रण होना आवश्यक है। इस नये सिद्धान्तके अनुसार, जिसे हम 'आर्थिक राष्ट्रवाद' कह सकते हैं, राष्ट्रके सामूहिक हितको प्रधान महत्त्व दिया जाने लगा और इसकी तुलनामें व्यक्तिगत स्वार्थकी ओर ध्यान देना उतना आवश्यक नहीं रह गया। अब साम्राज्यवादका प्रसार बड़ी शीघ्रतासे होने लगा, क्योंकि जब एक बार वाणिज्यव्यवसायको राज्यकी ओरसे

प्रोत्साहन देनेका सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया, तब कार-खानोंमें तैयार होनेवाले राशि राशि मालको खपानेके लिए बाज़ार प्राप्त करने, कच्चे मालकी प्राप्तिका निश्चित प्रबन्ध करने और फाज़िल पूँजी लगाकर अच्छा लाभ उठानेके लिए उप-युक्त भूभागोंपर क़ब्ज़ा करनेकी नीतिका राज्यों द्वारा ग्रहण किया जाना अनिवार्य था।

जबतक ग्लैडस्टन इंग्लैण्डका प्रधान मंत्री रहा और जबतक वहाँके शासनपर उसका तथा उसके अनुयायियोंका प्रभाव बना रहा, तबतक इंग्लैण्डमें साम्राज्यवादका ज़ोर नहीं बढ़ने पाया। ग्लैडस्टनका विचार था कि उपनिवेश यदि स्वतंत्र होना चाहें तो उन्हें अपनी उद्देश्यसिद्धिके लिए शान्तिपूर्वक अवसर दिया जाय, किन्तु इसी समय जनताके विचारोंमें धीरे धीरे परिवर्तन होना शुरू हो गया था, जैसा कि सन् १८६६ में प्रकाशित "ग्रेटर ब्रिटेन" (विशाल ब्रिटेन) नामक पुस्तककी अत्यधिक खपतसे प्रकट होता था। सन् १८६९ में सर जान-सीलीने केम्ब्रिजमें 'वर्त्तमान इतिहास' पर जो व्याख्यानमाला शुरू की, उसका भी काफी प्रभाव पड़ा। इधर सूती कपड़ोंके दो चार बड़े बड़े कारखानोंके मालिक उपनिवेशोंमें रुईकी उत्पत्ति बढ़ानेका प्रयत्न कर रहे थे। साथ ही राथ्सचाइल्ड प्रभृति कुछ महाजन उपनिवेशों एवं पिछड़े हुए देशोंमें रुपया लगाकर विशेष लाभ उठानेका बिचार कर रहे थे।

निदान सन् १८७४ में पार्लिमेंटका जो चुनाव हुआ, उसमें डिज़रेलीकी जीत हुई, जो हृदयसे साम्राज्यवादी था। अगले वर्ष जब उसे यह खबर मिली कि मिश्रका शासक 'खदीव' स्वेज़ नहरके अपने १,७६,६०२ हिस्से बेचना चाहता है, तब

उसने पार्लिमेंटकी स्वीकृतिका इन्तज़ार न कर तुरन्त राथ्स-चाइल्ड महाशयसे ४० लाख पौण्डका कर्ज़ लेकर इंग्लैण्डके लिए वे हिस्से खरीद लिए। इसके बाद शीघ्र ही एक अर्थ-नीतिज्ञ मिश्रके सरकारी खजानेकी अवस्थाकी जाँच, विशेषकर इंग्लैण्ड द्वारा मिश्रको दिये गये ऋणकी दृष्टिसे, करनेके लिए भेजा गया। इस प्रकार अब खुल्लमखुल्ला ग्लैडस्टनके साम्राज्य-वाद-विरोधी भावकी उपेक्षा होने लगी और नये नये भूभागों-पर प्रभुत्व स्थापित करनेकी नीतिको प्रोत्साहन दिया जाने लगा।

धीरे धीरे इंग्लैण्डके लिबरल (उदार) दलवालों पर भी साम्राज्यवादका प्रभाव पड़ने लगा। सन् १८८३ में अध्यापक जान सीलीकी पुस्तक "दि एक्सपेन्शन आफ् इंग्लैण्ड" (इंग्लैण्डकी राज्यवृद्धि) प्रकाशित हुई, जिसकी अस्सी हजार प्रतियाँ केवल दो वर्षके भीतर समाप्त हो गयीं। जब रोज़बरी महाशयने, जो उदार दलके एक प्रमुख सदस्य थे, यह पुस्तक पढ़ी, तब वे कट्टर साम्राज्यवादी बन गये। इसके बाद उदार दलके और भी कई सदस्योंके भाव साम्राज्यवादके अनुकूल हो गये और इंग्लैण्डमें उसका ज़ोर बराबर बढ़ने लगा।

अब फ्रांसमें आधुनिक साम्राज्यवादका प्रसार कैसे हुआ, यह भी देखिये। सन् १८७० में जब तीसरी बार वहाँ प्रजा-तंत्रकी स्थापना हुई, तब उसके औपनिवेशिक साम्राज्यका क्षेत्रफल १० लाख वर्ग किलोमीटर (१ किलोमीटर=⅝ मील) और आबादी ५० लाख थी। इसके पीछे उसे सार्वजनिक कोषसे कोई तीन करोड़ फ्रांक प्रति वर्ष खर्च करना पड़ता था। फ्रांस-के अधिकांश राजनीतिज्ञ, अर्थशास्त्रज्ञ तथा व्यापारी इस

साम्राज्यको अलाभजनक एवं भारस्वरूप समझते थे, इसीसे वहाँ बहुत कम लोग साम्राज्यवादकी नीतिका समर्थन करते थे, किन्तु जब सन् १८८१ में ट्यूनिसपर कब्ज़ा कर लिया गया, तब इस काररवाईके लिए उपयुक्त कारण बतलानेकी आवश्यकता पड़ी।

दो वर्ष बाद टॉनकिनपर भी फ्रांसका प्रभुत्व स्थापित हो गया। यह स्थान कोचीन चाइनासे बिलकुल सटा हुआ था, जो पहले ही फ्रांसके अधिकारमें आ चुका था। सन् १८७४ में एक फ्रांसीसी व्यापारीने वहाँ अपनी कोठी स्थापित करनेकी चेष्टा की जिसमें एक छोटा सा झगड़ा हो गया और फ्रांसको अपने देशवासियोंकी रक्षाके लिए सेनाकी एक टुकड़ी भेजनी पड़ी। परिणाम यह हुआ कि अनामके विस्तृत राज्यपर फ्रांसका संरक्षण स्थापित हो गया। चीनकी सरकारने फ्रांसकी इस काररवाईका विरोध किया और यह कहना शुरू किया कि अनाम तो हमारा संरक्षित राज्य है, तुम बीचमें आ धमकनेवाले कौन होते हो। इधर जब अनामकी सीमापरके टॉनकिन प्रान्तपर डाकुओंने हमला करना शुरू किया, तब उन्हें दण्ड देनेके लिए फ्रांसने सन् १८८३ में फिर अपनी सेना भेजी, जिससे टॉनकिन भी उसके अधिकारमें आ गया।

इन दोनों घटनाओंके कारण फ्रांसीसी पार्लिमेंट (चेम्बर) में बड़ा विरोध होने लगा। वहाँके प्रधानमंत्री जूलीज़ फेरीने कहा कि उपनिवेशोंकी संख्या बढ़ानेसे इस समय भले ही कोई लाभ होता हुआ न मालूम पड़ता हो, पर उससे हमारी सन्तानको अवश्य विशेष लाभ होगा और हमारे देशके श्रमिकोंकी

रोज़ी चलेगी। सन् १८८५ में औपनिवेशिक बाज़ारोंकी ओर संकेत करते हुए उसने फिर कहा "हमारे कारखानोंको सबसे अधिक आवश्यकता बाज़ारोंकी है। क्यों ? क्योंकि जर्मनीने अपने आयात-व्यापारपर प्रतिबन्ध लगा रखे हैं और संयुक्त राज्य अमेरिकाने भी ज़ोरोंसे संरक्षण-नीति अख़्तियार कर ली है।" औद्योगिक उन्नतिके कारण जो फाज़िल पूँजी इकट्ठी हो रही थी, उसका प्रयोग लाभजनक रूपसे करनेके लिए भी उपनिवेशोंकी आवश्यकतापर ज़ोर दिया जाने लगा। नये स्थानों-पर कब्ज़ा करनेके पक्षमें यह तर्क भी उपस्थित किया गया कि फ्रांसके सदृश समुद्री राष्ट्रके लिए भिन्न भिन्न स्थानोंमें ऐसे पोताश्रयोंकी विशेष आवश्यकता है, जहाँ कोयला लेनेका प्रबन्ध किया जा सके। कोई भी युद्धपोत १४ दिनसे अधिकको यात्राके लिए कोयला रख कर नहीं चल सकता, "इसीलिए ट्यूनिसपर अधिकार कर लेना हमारे लिए आवश्यक था और इसीलिए कोचीन चाइनापर भी हमने प्रभुत्व स्थापित किया था।" इसके सिवाय नूतन साम्राज्यवादके पक्षमें एक और बात, जिसपर जोर दिया जाने लगा, यह थी—"पिछड़ी हुई जातियों-के सम्बन्धमें उच्च जातियोंको कुछ विशेषाधिकार प्राप्त है। इस विशेषाधिकारका कारण उनके प्रति उच्च जातियोंकी कर्त्तव्य-भावना है। यह कर्त्तव्य और कुछ नहीं, उक्त पिछड़ी हुई जातियोंको सभ्यताका पाठ पढ़ाना ही है।"

फ्रांसको इस तरह यूरोपके बाहर अपनी नज़र फेरते देख-कर जर्मनीका प्रधान मंत्री बिसमार्क बहुत खुश हुआ। इसका एक कारण उसका यह खयाल था कि इस नीतिका अनुसरण करनेसे इंग्लैण्डके साथ फ्रांसकी मुठभेड़ होना अवश्यम्भावी

है, जिससे प्रेरित होकर अन्तमें उसे जर्मनीके साथ पुनः मैत्री स्थापित करनेके लिए बाध्य होना पड़ेगा। स्वयं जर्मनीके संबंधमें बहुत दिनोंतक उसका यही विश्वास बना रहा कि उपनिवेश स्थापित करनेकी ओर ध्यान देना उसके लिए आवश्यक नहीं। राईखस्टागके अधिकांश सदस्योंका भी यही ख़याल था।

इस बीचमें जर्मनीके समाचारपत्रोंमें अनेक लेख लिखे जाते रहे और बहुत सी पुस्तकें भी प्रकाशित होती रहीं, जिनमें साम्राज्यवादकी ओर जर्मन जनताका ध्यान आकर्षित करनेका प्रयत्न किया जाता था। इधर ब्रीमेन और हैम्बर्गके जिन बड़े व्यापारियोंने प्रशान्त सागरके द्वीपों तथा आफ्रिकाके किनारे अनेक व्यापारिक कोठियाँ खोल रखी थीं, वे लोग सहायता के लिए जर्मन सरकारसे बराबर अनुरोध कर रहे थे। सन् १८७९ में जब समोआ द्वीपके जर्मन व्यापारीका दिवाला निकलने लगा, तब उसकी कम्पनीकी सहायता करनेके लिए बिसमार्कने राईखस्टागमें एक बिल पेश किया। यद्यपि बिल स्वीकृत न हो सका, फिर भी इससे यह स्पष्ट हो गया कि अब जर्मन प्रधान मंत्रीके विचारोंमें काफी परिवर्त्तन हो गया था।

इसी समय फ्रीड्रिक फैब्राइ द्वारा लिखित एक पुस्तक प्रकाशित हुई, जिसका नाम था "क्या जर्मनीको उपनिवेशोंकी आवश्यकता है?" इसमें इस बातपर ज़ोर दिया गया था कि जर्मनीको औपनिवेशिक बाज़ार प्राप्त करनेकी चेष्टा अवश्य करनी चाहिये। यदि वह जीवित रहना चाहता है तो उसे अपनी बढ़ती हुई आबादीके लिए अन्य स्थान प्राप्त करने और अपनी फ़ाज़िल पूँजीके निमित्त अन्य क्षेत्र ढूँढ़नेका प्रयत्न भी करना चाहिये। इसके सिवाय उसमें यह भी कहा गया था

कि पिछड़ी हुई जातियोंमें जर्मन सभ्यताका प्रचार करना जर्मनीके निवासियोंका परम कर्त्तव्य है

सन् १८८२ में "कोलोनियल-बैरीन" नामक एक संस्था फ्रैंकफर्टमें स्थापित की गयी। इसमें कई बड़े बड़े व्यापारी, जहाजी कम्पनियोंके मालिक, पत्रकार, पर्यटक आदि सभी तरहके लोग शामिल थे। इस संस्थाके कारण भी जर्मनीमें साम्राज्यवादका प्रसार होनेमें विशेष सहायता मिली। निदान सन् १८८४ में ब्रीमेनके एक व्यापारीकी कोठी, जो दक्षिण पश्चिम आफ्रिकामें स्थापित की गयी थी, जर्मन सरकारके संरक्षणमें ले ली गयी और टोगो तथा कैमेरून्स नामक भूभाग जर्मन साम्राज्यमें मिला लिये गये। इस प्रकार जर्मनीमें साम्राज्यवादका आरम्भ हुआ। द्वितीय विलियमके राज्या-रोहण एवं बिस्मार्ककी पदच्युतिके बाद उसका ज़ोर खास तौरसे बढ़ने लगा।

अब अन्य देशोंमें साम्राज्यवादका प्रसार कैसे हुआ, इसका भी थोड़ेमें उल्लेख करना आवश्यक है। सबसे पहले हम बेलजियमको लेते हैं। यहाँका राजा द्वितीय लिओपोल्ड बड़ा महत्त्वाकांक्षी था। उसने सन् १८७६ में एक संस्था क़ायम की थी, जिसका उद्देश्य आफ्रिकाके जंगलोंकी खोज करना और वहाँवालोंको सभ्य बनाना था। इस संस्था द्वारा तथा हेनरी मार्टन स्टेनली नामक देशान्वेषककी सहायतासे शीघ्र ही लिओपोल्डने कांगो प्रान्तपर अधिकार कर लिया, जो बादमें सीधे बेलजियन सरकारके अधीन हो गया।

यद्यपि यूरोपमें आधुनिक साम्राज्यवादका प्रारम्भ होनेके पहले ही इटलीमें राष्ट्रीय एकता स्थापित हो चुकी थी, फिर

भी वह अभीतक इतना प्रबल राष्ट्र नहीं बन सका था कि अकेले ही नये स्थान प्राप्त करनेके कार्यमें जुट जाता। इसीसे सन् १८८२ में उसने जर्मनी और आस्ट्रिया-हंगरीके साथ मैत्री स्थापित की और पाँच वर्ष बाद जर्मनीसे यह गुप्त समझौता कर लिया कि यदि ट्रिपोली या मोरक्कोपर फ्रांस अपनी सत्ता स्थापित करनेका प्रयत्न करे, तो उसका विरोध करनेमें जर्मनी इटलीकी सहायता करेगा। अब उसने लाल समुद्रके किनारे सोमालीलैण्डपर अधिकार कर लिया और अबीसीनियाका बड़ा राज्य भी हड़प लेनेकी चेष्टा की। यद्यपि उसका यह प्रयत्न सफल न हो सका, फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि अब वह साम्राज्यवादके पथका अनुसरण करनेके लिए पूर्णतः कटिबद्ध हो गया था।

उन्नीसवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें रूस भी औद्योगिक उन्नतिकी ओर काफी पाँव बढ़ा चुका था, जिसके परिणामस्वरूप वहाँ भी बड़े बड़े पूँजीपतियोंकी संख्या बढ़ने लगी और उनमें तथा वहाँके शासकवर्गमें साम्राज्यवादका नूतन भाव ज़ोरोंसे फैलने लगा। शीघ्र ही मंचूरियामें रेलकी सड़क निकालनेकी योजना तैयार की गयी और ईरानमें भी व्यापारिक स्वार्थ बढ़ानेका प्रयत्न किया जाने लगा। रूसके पास आवश्यक पूँजीकी कमी थी, किन्तु सन् १८९० के बाद फ्रांसकी सहायतासे यह कठिनाई भी दूर हो गयी।

इसी प्रकार आस्ट्रिया-हंगरी, पोर्त्तगाल, स्पेन आदि देशोंने भी अपना अपना राज्य बढ़ानेकी चेष्टा की। इधर यूरोपीय राष्ट्रोंकी देखादेखी जापानने भी औद्योगिक उन्नति की ओर विशेष ध्यान दिया और अपने कारखानोंका माल

खपानेके लिए कोरिया, मंचूरिया आदिमें पैर जमानेका प्रयत्न शुरू कर दिया। अमेरिकाने यद्यपि साम्राज्यवादकी नीतिका अनुसरण करनेमें बहुत ज्यादा दिलचस्पी नहीं ली, फिर भी वह इस व्याधिसे सर्वथा बच नहीं सका। मेक्सिको, मध्य अमेरिका तथा कैरीनियन समुद्रके द्वीपोंपर आधिपत्य स्थापित करनेका थोड़ा बहुत प्रयत्न वह बराबर करता रहा है।

दूसरा अध्याय

कांगोपर बेलजियमका आधिपत्य

सन् १८७८ में हेनरी मार्टन स्टेनली नामक पर्यटकने अपनी 'आफ्रिका यात्रा' (थ्रू दि डार्क कांटिनेण्ट) नामक पुस्तक प्रकाशित की। इसमें उस कठिन यात्राका वर्णन किया गया था, जो उसने कुछ अरब पथ-प्रदर्शकों और हब्शी कुलियोंके साथ कांगो नदीके प्रदेशमें की थी। घने जङ्गलों, विस्तृत दलदलों तथा तृणाच्छादित मैदानोंको पार करते हुए एवं उष्ण कटिबन्धके भीषण ज्वरसे कष्ट पाकर वहाँके मूलनिवासियोंके विषाक्त बाणोंका सामना करते हुए जब वह कांगो नदीके ऊपरी भाग तक पहुँचा, तब उसके साथ गये हुए चार सौ कुलियोंमेंसे केवल ११५ ही बाकी बचे थे, शेष मार्गमें ही नष्ट हो गये थे। यूरोप लौटकर उसने जब अपनी पुस्तक छपवायी, तब उसमें दी गयी अनेक कौतूहलजनक बातें पढ़कर सर्वसाधारणके मनमें आफ्रिका विषयक जिज्ञासा विशेषरूपसे उत्पन्न हो गयी।

स्टेनलीकी आफ्रिका-यात्राके समाचार पढ़कर बेलजियम-नरेश द्वितीय लिओपोल्डका ध्यान पहले ही उसकी ओर आकर्षित हो चुका था। स्टेनली ज्यों ही मार्सेल्ज़में उतरा, त्यों ही बेलजियम-नरेशकी ओरसे दो दूतोंने उसका स्वागत किया और उससे कहा कि आपको जितनी सहायताकी ज़रूरत होगी, वह बेलजियमके राजाकी ओरसे बराबर दी जायगी, अतः अच्छा हो यदि आप गुप्त रूपसे काम करनेके लिए पुनः कांगोको लौट जायँ।

स्टेनली इस समय बहुत थक गया था, इसलिए वह तुरन्त कांगो लौट जानेके लिए तैयार न हुआ। इसके सिवाय वह जन्मसे ब्रिटेन-निवासी था, इसीसे सबसे पहले वह ब्रिटेनका रुख जान लेना चाहता था। इंग्लैण्ड जाकर उसने कांगोके सम्बन्धमें बहुत कुछ प्रचार किया और यह दिखलानेकी चेष्टा की कि कांगोके साथ सम्पर्क स्थापित हो जानेसे इंग्लैण्डको बड़ा आर्थिक लाभ होगा। जब उसे अपने प्रयत्नमें काफी सफलता नहीं मिली, तब वह निराश होकर बेलजियम चला गया और उसने शीघ्र ही वहाँके राजाकी सेवा करना स्वीकार कर लिया।

सन् १८७६ में बेलजियम-नरेशने यूरोपके भूगोल-वेत्ताओंका एक सम्मेलन ब्रूसेल्समें आमंत्रित किया था। इसके निश्चयके अनुसार "आफ्रिकामें सभ्यता फैलाने और देशान्वेषण करनेवाली अन्तर्राष्ट्रीय संस्था" स्थापित की गयी। सन् १८७८ में इस अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाकी एक स्वतंत्र कमेटी ब्रूसेल्समें संघटित की गयी। कुछ समयके बाद इसका नाम "कांगोकी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था" पड़ा। इसमें ४० हजार पौण्ड लगानेकी

योजना की गयी थी, किन्तु शुरूसे ही इसमें द्वितीय लिओ-पोल्डका निजी रुपया काफी मात्रामें खर्च किया जा रहा था। धीरे धीरे यह संस्था बिलकुल बेलजियमकी ही संस्था रह गयी।

सन् १८७९ में उक्त संस्थाकी ओरसे स्टेनली पुनः आफ्रिका भेजा गया। वह गुप्त रूपसे वहाँ पहुँचा और दक्षिण किनारेसे जाते हुए उसने कई व्यापारिक कोठियाँ स्थापित कीं। चार वर्षके भीतर वहाँके विभिन्न सरदारों और राजाओंके साथ उसने ४०० सन्धियाँ कीं। वह उत्तर किनारेकी ओर अग्रसर न हो सका, क्योंकि डीब्रेज़ा नामक एक फ्रांसीसी देशान्वेषक वहाँ पहले ही पहुँच चुका था और उसने उक्त भूभागको 'फ्रांसीसी कांगो' के रूपमें परिणत कर लिया था।

इधर पुर्तगालकी ओरसे भी कांगो नदीके मुहानेके आस-पासकी भूमिपर दावा किया जाने लगा, क्योंकि पोर्तगालवाले इस स्थानकी खोज सदियों पहले कर चुके थे। ब्रिटेनने पोर्त-गालका समर्थन किया। फरवरी १८८४ में इन दोनों राष्ट्रोंके बीच एक सन्धि हुई जिसके अनुसार कांगोके मुहानेपर पोर्तगालका अधिकार स्वीकार कर लिया गया और नदीके मार्ग द्वारा पोतोंके गमनागमनका नियंत्रण करनेके लिए दोनों देशोंकी एक सम्मिलित कमेटी बनायी गयी। ब्रिटेनके साथ विशेष रियायत की गयी और उसकी नौकाओंको बे-रोकटोक आने जानेका अधिकार दे दिया गया।

अपनी सफलताके मार्गमें इस प्रकार विघ्न पड़ते देखकर बेलजियम-नरेशने फ्रांस और जर्मनीसे सहायता लेनेका निश्चय किया। उसके प्रयत्नसे अप्रैल १८८४ में फ्रांसके प्रधान मंत्री

जूलीज़ फेरीने कांगोपर उक्त 'अन्तर्राष्ट्रीय संस्था' का अधिकार स्वीकार कर लिया और इंग्लैण्ड तथा पोर्तगालके बीच जो नयी सन्धि हुई थी, उसका विरोध किया। बिसमार्कने भी उसका समर्थन किया। जूलीज़ फेरीकी तरह उसने भी इस प्रस्तावपर ज़ोर दिया कि कांगोके प्रश्नका निपटारा करनेके लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन किया जाय।

संयुक्त राज्य अमेरिकाने तो पहले ही अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाके अधीन कांगो राज्यका अस्तित्व स्वीकार कर लिया था, अब फ्रांसके बाद जर्मनीको भी ऐसा करते देखकर और इन दोनो शक्तियोंके विरोधका अनुमान कर इंग्लैण्डके परराष्ट्र मंत्री लार्ड ग्रेनविलने घोषणा कर दी कि इंग्लैण्ड और पोर्तगालके बीच जो तथोक्त सन्धि हुई थी, उसका समर्थन न किया जायगा।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनकी बैठक १५ नवम्बर १८८४ को बर्लिनमें आरम्भ हुई। तीन मासतक वादविवाद होनेके बाद २६ फरवरी १८८५ को आमंत्रित राष्ट्रोंने एक 'जनरल ऐक्ट' पर हस्ताक्षर कर दिये। इस विधान द्वारा कांगो नदीके प्रदेश तथा आफ्रिकाके अन्य भूभागोंके साथ यूरोपीय राष्ट्रोंके सम्बन्ध का स्पष्टीकरण कर दिया गया। हस्ताक्षर करनेवालोंने "मूल निवासियोंके नैतिक तथा भौतिक हितकी रक्षा करने, गुलामीकी प्रथा उठा देनेके कार्यमें एक दूसरेका साथ देने तथा उनमें शिक्षा और सभ्यताका प्रसार करनेकी प्रतिज्ञा की। यह भी तय हुआ कि कांगोमें सब राष्ट्रोंको व्यापार करनेकी स्वतन्त्रता रहेगी। साथ ही कांगोकी संस्थाको सर्व-स्वीकृतिसे एक स्वतंत्र राज्यका पद प्राप्त हो गया और लिओपोल्ड वहाँका राजा मान लिया गया। इस सम्मेलनमें एक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव

यह भी स्वीकृत हुआ कि कोई भी राष्ट्र तबतक किसी नये भूभागपर अधिकार करने या संरक्षण स्थापित करनेकी घोषणा न करे, जबतक अन्य राष्ट्रोंको यथोचित रूपसे उसकी पूर्व-सूचना न दे दी जाय।

अब बेलजियम-नरेशके इस नूतन राज्यका नाम 'कांगो फ्री स्टेट' पड़ा। इसका उद्देश्य मूल-निवासियोंकी सहायतासे देशके प्राकृतिक साधनोंकी उन्नति करना था, किन्तु लक्षणोंसे शीघ्र ही ऐसा प्रतीत होने लगा कि गुलाम बेचनेवाले अरब व्यापारी, जो टंगान्यिका झील तथा स्टेनली-प्रपातके बीचके प्रदेशमें आ बसे थे, इस कार्यमें बाधा उपस्थित करेंगे। सन् १८८६ में अरबोंने स्टेनली-प्रपातवाली राज्यकी कोठी नष्ट कर दी। फ्री स्टेटने उनसे सुलह कर ली और उनके नेता टीपू-तिबको स्टेनली-प्रपातका गवर्नर नियुक्त कर दिया। सन् १८९१ में जब हाथी-दाँतकी रफ्तनीपर कर लगा दिया गया, तब फिर उनमें असन्तोष फैलने लगा। १८९२ में अरबोंने हाडिस्टर नामके एक बेलजियन व्यापारी तथा दस और बेलजियनोंकी हत्या कर डाली। निदान कई महीनोंके युद्ध-के बाद अरबोंका दमन किया जा सका।

यद्यपि जुलाई १८८५ में यह घोषणा की गयी थी कि सब "अनधिकृतभूमि" सरकारकी सम्पत्ति समझी जायगी, फिर भी कई वर्षोंतक इसके अनुसार कार्य करनेकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। जब यह पता लगा कि इस विस्तृत भूभागमें रबर और हाथी-दाँत बहुत बड़ी तादादमें उपलब्ध हैं, तब सन् १८९१ में एक गुप्त आदेश जारी किया गया। इसके अनुसार "अनधिकृतभूमि" में प्राप्त रबर और हाथी-दाँतपर

राज्यका एकाधिकार स्थापित हो गया। इसके बाद एक और आदेश निकालकर वहाँके मूल-निवासियोंको ये चीज़ें सरकारी एजण्टोंके सिवाय अन्य किसीके हाथ बेचनेकी मनाही कर दी गयी। अब "अनधिकृतभूमि" का इतना व्यापक अर्थ किया जाने लगा कि उसमें उन थोड़ेसे ज़मीनके टुकड़ोंको छोड़कर जिनमें वहाँवाले खेती करते थे या जिनपर उनके झोपड़े बने हुए थे, अन्य सब ज़मीन सरकारके अधिकारमें समझी जाने लगी। इसमें वे बड़े बड़े जंगल भी शामिल थे जिनमें झुंडके झुंड हाथी स्वच्छन्दरूपसे विचरण किया करते थे और जहाँ ऐसी बहु-संख्यक लताएँ पायी जाती थीं जिनके रस-विशेषसे रबर तैयार किया जा सकता था। तात्पर्य यह है कि हाथीदाँत और रबर-की उत्पत्तिपर राज्यका अधिकार पूर्ण रूपसे स्थापित हो गया।

अब इन चीज़ोंका संग्रह करनेके लिए मूल-निवासियोंके साथ सख्ती की जाने लगी। जब सरकारने देखा कि अनेक प्रयत्न करने पर भी वे लोग इस काममें काफी दिलचस्पी नहीं लेते, तब उसने रबर या हाथी-दाँतके रूपमें कर वसूल करनेका निश्चय किया, अतः अब प्रत्येक गाँवके लिए एक निर्दिष्ट मात्रामें उक्त दोनों चीज़ें करके तौरपर जमा करना आवश्यक हो गया। लिओपोल्डने कर वसूल करनेका काम प्राइवेट कम्पनियोंको सौंप दिया और आवश्यक होने पर उन्हें इस कामके लिए थोड़ी सी फौज रखनेकी भी इजाज़त दे दी। कई कम्पनियोंमें राज्यकी ओरसे भी हिस्से ख़रीदे गये।

इस पद्धतिसे कम्पनियोंको विशेष लाभ हुआ और उनके जरिये लिओपोल्डको भी अच्छी आमदनी हुई। केवल छः वर्षके भीतर एक कम्पनीको जिसमें कुल ४५ हजार डालरकी पूँजी

लगायी गयी थी, तीस लाख डालरसे भी अधिकका मुनाफा हुआ। विशेषज्ञोंका अनुमान है कि इस प्रणालीके कारण बेल-जियम-नरेशको लगभग दो करोड़ डालरकी आय हुई। यह रक़म उसने नये नये महल बनवाने, रिवीरा नामक स्थानमें स्थावर सम्पत्ति ख़रीदने तथा आस्टेण्ड नगरमें स्नानकी सर्वोत्तम व्यवस्था करनेमें खर्च कर दी।

मूलनिवासियोंके प्रति अन्यायपूर्ण व्यवहार होनेके कारण कांगोके शासनकी निन्दा ज़ोरोंसे होने लगी। लोग कहने लगे कि मूल निवासियोंके साथ जैसी निष्ठुरतापूर्ण नीति वर्ती जा रही है, वह उनके "नैतिक तथा भौतिक हितकी रक्षा" की आकांक्षासे मेल नहीं खाती, यद्यपि कांगो राज्यकी स्थापनाका मुख्य उद्देश्य यही बताया गया था। विरोधका दूसरा कारण यह भी था कि राज्यकी ज़मीनसे इस तरह आर्थिक लाभ उठानेका तरीक़ा तथा प्राइवेट कम्पनियोंके साथ रियायत करनेकी पद्धतिसे बर्लिन ऐक्टकी स्वतंत्र वाणिज्य सम्बन्धी शर्तोंका उल्लंघन होता था।

यद्यपि अत्याचारोंकी अनेक कथाएँ अतिशयोक्तिपूर्ण थीं, फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि उनमें सत्यका बहुत कुछ अंश था। कभी कभी करके रूपमें मिलनेवाली रबरकी पूरी मात्रा प्राप्त करनेके लिए इतनी अधिक सख्ती की जाती थी कि मूल निवासियोंको विद्रोह करनेके सिवाय अन्य कोई चारा नहीं रह जाता था। हज़ारोंकी संख्यामें उन्हें फांसी दे दी जाती थी या अन्य कोई कठोर दण्ड दिया जाता था। कहीं कहीं उनकी स्त्रियाँ तबतक पकड़ कर रखी जाती थीं, जबतक वे निर्दिष्ट मात्रामें रबर नहीं दे देते थे। कर वसूल करनेवाले कोई कोई

कर्मचारी रबरकी इतनी ज़्यादा माँग किया करते थे कि बेचारे मूल-निवासियोंको अपने छोटे छोटे खेतोंमें अनाज बोकर फसल तैयार करनेकी फ़ुर्सत ही नहीं मिलती थी। परिणाम यह हुआ कि अनेक स्थलोंमें दुर्भिक्ष फैल गया और लोग भूखों मरने लगे। बच्चोंकी मृत्युसंख्या बहुत ज़्यादा बढ़ गयी। हज़ारों आदमी देश छोड़ छोड़कर अन्यत्र चले गये।

सन् १९०३ में पार्लिमेंटके प्रस्तावके अनुसार ब्रिटिश पर-राष्ट्र-मंत्रीने बर्लिन ऐक्टपर हस्ताक्षर करनेवाले राष्ट्रोंके पास पत्र भेजे और उनका ध्यान कांगोमें होनेवाले अन्धेरकी ओर आकर्षित किया। इससे कोई विशेष लाभ नहीं हुआ, किन्तु जुलाई १९०४ में लिओपोल्डने स्वयं कांगोकी परिस्थितिकी जाँच करानेके लिए एक कमीशन नियुक्त करनेका आदेश निकाल दिया। कमीशनने अपनी रिपोर्टमें कांगोके शासनकी प्रत्येक अच्छी बातकी प्रशंसा की और जबरन काम करानेकी प्रथाका समर्थन किया, फिर भी उसे विवश होकर यह स्वीकार करना पड़ा कि कुछ स्थानोंमें ज़्यादती अवश्य हुई है और ज़मीन सम्बन्धी क़ानूनोंका प्रयोग बड़ी सख्तीके साथ किया गया है। उसने परिस्थिति सुधारनेके लिए जिन बातोंकी सिफारिश की, उनमेंसे कुछ ये हैं—(१) किसी कम्पनीके साथ अब रियायत न की जाय; (२) जिन कम्पनियोंके साथ पहले रियायत की गयी थी, उन्हें बलका प्रयोग करनेकी मनाही कर दी जाय, (३) देहातोंसे रबर वसूल करनेके लिए सैनिकोंका पहरा न बैठाया जाय; (४) भूमि सम्बन्धी कानूनका प्रयोग अधिक उदारताके साथ किया जाय; (५) मूल-निवासियोंसे प्रति मास ४० घण्टेसे अधिक बेगार न करायी जाय।

संभवतः ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका आदिको सन्तुष्ट करनेके इरादेसे ही लिओपोल्डने १९०६ में चार विदेशी कम्पनियोंके साथ रेलकी सड़क बनाने, रबर संग्रह करने तथा खनिज वस्तुओंके व्यवसायके सम्बन्धमें विशेष रियायत कर दी। इससे बेलजियम-निवासी चिढ़ गये और कांगोका शासनसूत्र लिओपोल्डके हाथसे निकालकर बेलजियम पार्लिमेण्टके सिपुर्द करने पर ज़ोर देने लगे। इस प्रश्नपर विचार करनेके लिए पार्लिमेण्टकी ओरसे जो कमेटी नियुक्त की गयी, वह अपना काम समाप्त भी नहीं करने पायी थी कि कांगोसे अत्याचारोंके समाचार पुनः आने लगे। इसी समय कई स्थानोंमें मूल निवासियोंने विद्रोह कर दिया। जब बेलजियम-नरेश लिओ-पोल्डने देखा कि कांगो अब मेरे हाथमें रह नहीं सकता, तब उसने इस बातकी चेष्टा की कि कांगोपर बेलजियमका शासन स्थापित हो जाने पर भी उसकी निजी व्यापारिक संस्था "फौण्डेशन" के अधिकारोंमें कोई हस्तक्षेप न किया जायगा और जो रियायतें उसने दी थीं वे रद्द न की जायँगी। किन्तु ब्रिटेनकी ओरसे इसका विरोध होने पर उसे "फौण्डेशन" सम्बन्धी अपने अधिकारका भी परित्याग करनेके लिए राजी होना पड़ा। इसके बदले उसे मुआविज़ेके रूपमें काफी बड़ी रक़म दी गयी। यह भी तय हुआ कि बेलजियम अपने खर्चसे, जिसका अनुमान २० लाख पौण्ड किया गया, सुन्दरता बढ़ाने और सजावटके वे काम पूरा करेगा जो लिओपोल्डने शुरू किये थे। इसके सिवा कांगो उपनिवेशकी ओरसे २० लाख पौण्डका ऋण लिया गया। यह रक़म राजाको १५ वर्षोंतक सालाना किस्तोंके रूपमें देनेके लिए थी, जिसका प्रयोग उसने कांगो

सम्बन्धी और कांगोको लाभ पहुँचानेवाले कामोंमें ही करना स्वीकार किया। राज-परिवारके लोगोंको जो वार्षिक वृत्ति मिलती थी, वह भविष्यमें भी जारी रखनेके लिए वचन दिया गया। साथ ही यह भी निश्चय हुआ कि अमेरिकन कांगो कम्पनी तथा एक और कम्पनीको लिओपोल्डकी निजी संस्थाके अधिकारवाली भूमिमें नवम्बर १९०६ में जो विशेष सुविधाएँ दी गयी थीं, उनकी रक्षा की जायगी। यही वे शर्तें थीं जिनके अनुसार १६ नवम्बर १९०८ को कांगोपर प्रत्यक्षरूपसे बेल-जियमका अधिकार स्थापित हो गया और वह उसका उपनिवेश बन गया।

कांगोका शासनसूत्र बेलजियमके हाथमें आते ही वहाँकी दशा सुधारनेकी ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। वहाँ एक गवर्नर-जनरल नियुक्त कर दिया गया जो अपने कार्योंके लिए उपनिवेश-सचिवके प्रति जिम्मेदार होता था, जो स्वयं बेलजियम पार्लिमेण्टके प्रति अपनी नीतिके लिए उत्तरदायी समझा जाता था। कई कम्पनियोंको एकाधिकारकी जो सनद प्राप्त थी, वह रद्द कर दी गयी, यद्यपि कुछ सुविधाएँ अब भी रहने दी गयीं। देशी सरदारोंका अधिकार मान लिया गया और उन्हें स्थानीय स्वराज दे दिया गया। इसके सिवाय अब मूल-निवासियोंको जहाँ इच्छा हो वहाँ मजूरी करनेकी आज़ादी दे दी गयी। इन सुधारोंका परिणाम यह हुआ कि कांगो उपनिवेशकी आमदनी कम हो गयी और वार्षिक बजटमें लगातार घटी होने लगी।

बराबर घटी होने पर भी बेलजियमवाले कांगोका पीछा नहीं छोड़ना चाहते। उन्हें यह आशा बनी हुई है कि आज

नहीं तो कल अवश्य इससे लाभ होने लगेगा। पहली जनवरी सन् १९२४ को बेलजियमके नये राजा आलबर्टने तो यहाँतक कह डाला था कि "भविष्यमें बेलजियमकी आशा प्रधानतया अपने कांगो उपनिवेशके विकासपर ही अवलम्बित है।" इसी तरह बेलजियमके एक लेखकने लिखा था कि "कांगो सब तरहकी सम्पत्तिसे भरा हुआ है······इस सम्पन्न भूभागके बिना बेलजियमका महत्त्व नष्ट हो जायगा।"

अब यह देखना चाहिये कि इस तरह कांगोके सम्बन्धमें उज्ज्वल भविष्यकी आशा करनेके लिए पर्याप्त कारण है या नहीं। जहाँतक रबरकी उत्पत्तिका प्रश्न है, वहाँतक तो स्पष्ट है कि इससे अब कांगोको लाभ होनेकी सम्भावना नहीं है। लिओपोल्डके शासनकालमें रबरका संग्रह इतनी अधिक मात्रामें किया जाता था कि सन् १९०५ के बादसे ही वहाँ उसकी उत्पत्ति कम होने लगी थी। सन् १९२४ तक तो वह घटकर बिलकुल ही कम हो गयी, जैसा कि नीचे दिये गये अंकोंसे स्पष्ट है—

वर्ष	रबरका मूल्य
१९००	४ करोड़ फ्रैंक
१९०५	४·४ ,, ,,
१९०८	३·१ ,, ,,
१९२४	३५ लाख फ्रैंक

अब वहाँ खानोंसे ताम्बा निकालनेकी ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। कटंगा जिलेमें इसकी उत्पत्ति विशेष रूपसे होती है। सन् १९१२ में मोटे हिसाबसे कोई चार हजार टन ताम्बा वहाँकी खानोंसे निकाला गया था। सन् १९२४ में

उसकी तादाद ८५½ हजार टनसे भी अधिक बढ़ गयी। कांगोसे बाहर जानेवाली वस्तुओंमें इस समय ताम्बेको मुख्य स्थान प्राप्त है।

ताम्बेके अतिरिक्त हीरेकी भी कई खानें वहाँ हैं। सन् १९०६ में ३५ लाख फ्रैंककी पूँजीसे एक कम्पनी स्थापित की गयी थी, जिसे कांगोके अधिकांश भागमें हीरेकी खानोंका पता लगाने और उनसे हीरे निकालनेका ठेका दिया गया था। थोड़े ही समयके भीतर इस कम्पनीने इतनी उन्नति की कि उसकी पूँजी बढ़ाकर पहले ८० लाख, फिर १६० लाख कर दी गयी। रेडियम धातु भी वहाँ काफी मात्रामें पायी जाती है।

अन्य उद्योगोंमें नारियल, ताड़के तेल आदिके उद्योगोंकी गणना की जा सकती है। इन चीज़ोंका प्रयोग साबुन, मोमबत्ती इत्यादि तैयार करनेमें किया जाता है। वहाँकी भूमिमें चावल तथा रुईकी भी उत्पत्ति काफी मात्रामें की जा सकती है। इसके लिए जिन साधनोंकी आवश्यकता है, वे भी प्रायः वहाँ मौजूद हैं। हाँ, एक कठिनाई अवश्य है और वह है श्रमियोंकी कमीका प्रश्न। ताम्बेकी खानों तथा खेती इत्यादिके काममें प्रायः हब्शी मजदूर ही काम करते हैं, जिनकी संख्या बराबर घटती जा रही है। पहले वहाँ कोई दो करोड़ हब्शी रहते थे किन्तु अब उनकी आबादी लगभग ८५ लाख ही रह गयी है। पुराने अत्याचारोंका ख़याल कर वे लोग आसानीसे और स्वेच्छापूर्वक मजदूरी करनेको तैयार भी नहीं होते।

इसमें सन्देह नहीं कि कांगो उपनिवेशके साथ बेलजियमके कुछ महाजनों, व्यापारियों और कारखानेदारोंके स्वार्थका घनिष्ठ सम्बन्ध है और वे उसके साथ होनेवाले व्यापार तथा

आर्थिक लेन-देनसे विशेष लाभ उठाते हैं। गत महायुद्धके पूर्व कांगो प्रति वर्ष लगभग एक करोड़ डालर (कोई सवा तीन करोड़ रुपये) का माल बाहरसे मँगाता था। युद्धके बाद इसकी तादाद बढ़कर दो ढाई करोड़ डालरतक पहुँच गयी। इसका क़रीब आधा भाग बेलजियमसे ही आता था। इतना होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि सब बातोंको देखकर इस उपनिवेशसे बेलजियम देशको विशेष लाभ पहुँच रहा है या निकट भविष्यमें पहुँचनेकी संभावना है। फिर भी बेलजियम उसे अपने पंजेसे निकलने नहीं देना चाहता। संभव है, इसका एक कारण यह हो कि वहाँके मूल निवासियोंको सभ्यता सिखानेका जो महान् कार्य लिओपोल्डने अपने हाथमें लिया था, उससे विरत होना वह भी उचित न समझता हो! यह भी हो सकता है कि कांगोका परित्याग कर देनेसे उसे अपनी शानमें बट्टा लग जानेका भय हो, क्योंकि आधुनिक जगत्में जिस राष्ट्रके अधीन कोई उपनिवेश न हो, उसका महत्त्व ही क्या और उसकी प्रतिष्ठा ही क्या!

इधर घाटा उठाते हुए भी बेलजियम अपने इस उपनिवेशको छोड़ना नहीं चाहता था, उधर फ्रांस तथा जर्मनी चाहते थे कि यदि वह कभी इसे छोड़नेकी इच्छा करे तो यह हमारे ही हाथ लगे। फ्रांसने सन् १८८४ में ही अन्तर्राष्ट्रीय संस्थासे, जिसके अधीन उस समय कांगो था, यह शर्त्त करा ली थी कि यदि वह उसे बेचना चाहे तो फ्रांसके ही हाथ बेचे। सन् १९०८ में जब कांगो प्रत्यक्ष रूपसे बेलजियमके अधीन हो गया, तब भी यह शर्त्त क़ायम रही। किन्तु सन् १९११ में जब मोरक्कोके प्रश्नका निपटारा किया जाने लगा, तब जर्मनीने इस

बातपर ज़ोर दिया। कि फ्रांसके साथ की गयी कांगोके सम्बन्धकी यह शर्त्त रद्द कर दी जानी चाहिये। इसका मतलब यही था कि जर्मनी स्वयं उसपर क़ब्ज़ा कर उसे अपने मध्य आफ्रिकाके साम्राज्यमें शामिल कर लेना चाहता था। अन्तमें फ्रांसके इनकार करने पर यह तय हुआ कि जब कांगोके परित्यागका प्रश्न उपस्थित हो, तब उसका निर्णय करनेके लिए उन सब राष्ट्रोंका सम्मेलन किया जाय जिन्होंने १८८५ के बर्लिन ऐक्टपर हस्ताक्षर किये थे। इसके कुछ ही समयके बाद जब इंग्लैण्डको अपने उपनिवेशोंकी कठिनाइयोंके सम्बन्धमें जर्मनीसे समझौता करना पड़ा, तब इंग्लैण्डने गुप्त रूपसे यह स्वीकार कर लिया कि जर्मनी बेलजियन कांगोको अपना आर्थिक प्रभाव-क्षेत्र समझ सकता है और वहाँ वह जो पूँजी लगायेगा, उसका विरोध इंग्लैण्ड नहीं करेगा। महायुद्धकी घोषणा होने पर यह गुप्त समझौता अपने आप टूट गया।

युद्धकालमें बर्लिन-विधानके अनुसार बेलजियमने कांगोकी तटस्थता बनाये रखनेका प्रयत्न किया था, किन्तु फ्रांस तथा इंग्लैण्डके दबावके कारण उसे अपनी नीति बदल देनी पड़ी। कांगोकी सीमा पर कुछ जर्मनोंके आक्रमणका बहाना लेकर उसने जर्मन पूर्व आफ्रिकापर हमला करनेके लिए कांगोसे सेना भेज दी। इस लड़ाईमें लगभग दस हजार देशी सैनिक शरीक हुए थे। युद्ध समाप्त होने पर जर्मन उपनिवेशके उत्तर-पश्चिमका वह हिस्सा जो कांगोकी सेनाके अधिकारमें आ गया था, राष्ट्रसंघ द्वारा शासनादेशकी पद्धतिके अनुसार बेलजियम-के अधीन कर दिया गया।

इसी समय १८८५ के बर्लिनविधानमें भी एक महत्त्वपूर्ण

परिवर्त्तन कर दिया गया। इसके अनुसार यह तय हुआ था कि कांगोके साथ व्यापार करनेकी स्वतंत्रता सब राष्ट्रोंको रहेगी। अब एक नयी सन्धि की गयी जिसके अनुसार बेल-जियमको आवश्यकतानुरूप तटकर लगानेका अधिकार दे दिया गया, शर्त्त केवल इतनी ही रखी गयी कि जिन राष्ट्रोंने बर्लिन-विधानपर हस्ताक्षर किये थे और जो देश राष्ट्रसंघके सदस्य हों, उन सबपर समान रूपसे ही कर लगाया जाय, किसीके साथ कोई पक्षपात न किया जाय।

तीसरा अध्याय

पश्चिमी तथा पूर्वी आफ्रिका

कांगोमें लिओपोल्डका शासन स्थापित होते देख कर आफ्रिकाके पश्चिमी किनारेपर, विशेष कर नाइजर नदीके प्रदे-शपर, अपना अधिकार स्थापित करनेके लिए कई बड़े बड़े राज्य उतावले हो उठे। कांगो नदीकी तरह यह नदी भी जङ्गली मुल्कके भीतर प्रवेश करनेका उत्तम मार्ग थी। जर्मन व्यापारियों तथा साम्राज्यवादका समर्थन करनेवाले लेखकोंने इस बातपर ज़ोर देना शुरू किया कि जर्मनीको नाइजर नदीके प्रदेशपर शीघ्र ही क़ब्ज़ा कर लेना चाहिये, किन्तु बिसमार्क ऐसा करनेके लिए अभी तैयार नहीं था, अतः वह इस प्रश्नको बराबर टालता गया।

स्टेनलीके सम-सामयिक जार्ज टॉबमैन गोल्डीने नाइजर नदीके तटपर व्यापार करनेवाली अनेक छोटी मोटी ब्रिटिश कम्पनियोंको मिलाकर १८७९ में एक संयुक्त आफ्रिकन कंपनी-की स्थापना की। इसी समयके लगभग वहाँ दो फ्रांसीसी कंप-नियाँ भी स्थापित हुईं। अंग्रेजी कम्पनीके साथ इन दोनोंकी खूब प्रतिद्वन्द्विता होने लगी। उक्त कम्पनीके पास पूँजी ज्यादा थी और अन्तमें उसकी जीत हुई। इसी समय एक और विघ्न उपस्थित हो गया। जर्मन व्यापारी फ्लेजेलने एक योजना तैयार की, जिसका उद्देश्य ब्रिटेनके अधीन भूभागके उत्तरवाले सोकोटो, गैण्डो और बोर्नू नामके देशी राज्योंपर जर्मनीका प्रभुत्व स्थापित कराना था। इंग्लैण्डको किसी तरह इसकी खबर लग गयी। जासेफ टामसन नामक एक व्यक्ति तुरन्त इस उद्देश्यसे आफ्रिका भेजा गया कि वह वहाँ जाकर पहले ही उक्त राज्योंसे सन्धि कर ले। उसने ऐसा ही किया।

इसके बाद टॉबमैनने और भी कई राज्योंसे सन्धि की। सन् १८८६ में उसे एक अधिकार-पत्र मिला, जिसके अनुसार उसकी कम्पनीको, जिसका नाम अब रायल नाइजर कम्पनी हो गया था, व्यापार करनेके साथ साथ आसपासकी भूमिपर प्रभुत्व जमाने और उसका शासन करनेका अधिकार भी मिल गया था।

इधर फ्रांस, जर्मनी आदि अन्य राष्ट्र भी आसपासके देशी शासकों या सरदारोंसे सन्धि कर अपने अपने प्रभाव-क्षेत्र स्थापित करनेकी चेष्टा कर रहे थे। यह देखकर अंग्रेजोंने और भी अधिक शीघ्रतापूर्वक अपना काम करना शुरू किया। वे घूम घूम कर देशी सरदारोंके साथ सन्धि करनेका प्रयत्न

करने लगे। साधारणतया दो चार साहसी अंग्रेज एक छोटी सी नावमें बैठ कर हबशियोंके गाँवमें जाते और अपना भय छिपाए हुए, बड़ी हिम्मतके साथ वहाँके सरदारसे मुलाकात करते। फिर वे इने गिने शब्दोंमें सम्राज्ञीकी ओरसे उन्हें मित्रताका सन्देश सुनाते और यों ही किसी तरह सन्धिकी शर्तोंका आधा-तीहा बयान देकर झटपट सन्धिपत्रपर कोई निशान बनवा लेते तथा दो चार विचित्र वस्तुएँ और कपड़ा इत्यादि भेंटमें देकर वहाँसे तुरन्त लौट पड़ते। इसी तरीक़ेसे उन्होंने अनेक हब्शी सरदारोंके साथ सन्धियाँ कीं। किन्तु जब परिस्थिति अधिक जटिल होने लगी और कम्पनी उसका सामना करनेमें असमर्थ प्रतीत हुई, तब यह उचित समझा गया कि कम्पनीके अधीन भूभागका शासन-प्रबन्ध ब्रिटिश सरकार स्वयं अपने हाथमें ले ले। फलतः सन् १९०० ईसवीकी पहली जनवरीको ८ लाख ६५ हजार पौण्डके बदले कम्पनीने अपने राजनीतिक अधिकार ब्रिटिश सरकारके हाथ बेच दिये और इस प्रकार जो रकम प्राप्त हुई, उससे उसने १४५ प्रतिशत मुनाफा अपने हिस्सेदारोंको बाँटा। अब उत्तरी तथा दक्षिणी नाइजीरियापर ब्रिटिश संरक्षणकी घोषणा कर दी गयी।

इस समय आफ्रिकाके पश्चिमी भागके जिन जिन देशोंमें अंग्रेजोंका राज्य है, उनमें नाइजीरिया ही सबसे मुख्य है। गेम्बिया, सीरालिओन तथा गोल्डकोस्ट (स्वर्णतट) अपेक्षाकृत बहुत छोटे देश हैं। नाइजीरियाकी आबादी लगभग १ करोड़ ९० लाख है। ब्रिटेनके साथ उसका कोई ढाई करोड़ रुपयेका व्यापार होता है। वहाँकी आर्थिक स्थिति आसपासके प्रायः सभी देशोंसे अच्छी है। इसका एक कारण यह है कि वहाँ

प्रायः कांगोकी तरह कठोर उपायोंका प्रयोग नहीं किया गया। मूल-निवासियोंके क़ब्ज़ेसे उनकी सारी ज़मीन नहीं छीनी गयी। वे लोग ताड़ (पाम) के वृक्षोंसे जितना तेल तैयार करते थे, उसे स्वतंत्रतापूर्वक बेच सकते थे, इसीसे वहाँ ताड़के तेलकी उत्पत्ति बहुत शीघ्र बढ़ गयी। इसी तरह "गोल्ड-कोस्ट" उपनिवेशमें थोड़े ही समयके भीतर नारियलकी उत्पत्तिमें इतनी वृद्धि हुई कि अब वहाँ जितने नारियल उत्पन्न होते हैं, उतने अन्य किसी देशमें नहीं होते। सन् १९०० में वहाँसे कुल ३०० टन नारियल बाहर भेजे गये थे, किन्तु सन् १९२५ में इसकी तादाद २ लाख १८ हजार टन तक जा पहुँची। वहाँवालोंसे प्रायः जबर्दस्ती कोई काम नहीं कराया जाता, इसीसे उनकी आर्थिक स्थिति कांगोवालोंकी अपेक्षा अधिक अच्छी है। सन् १९२० में कांगोके प्रत्येक आदमीने यूरोपके देशोंका जितना माल औसतन खरीदा था, उसकी अपेक्षा दसगुना माल 'गोल्डकोस्ट' के प्रत्येक निवासीने खरीदा। नाइजीरियाकी भी हालत क़रीब क़रीब ऐसी ही समझनी चाहिये।

इधर ब्रिटेनकी तरह फ्रांस भी पश्चिमी आफ्रिकाके भिन्न भिन्न भागोंपर प्रभुत्व स्थापित करनेकी चेष्टा कर रहा था। सेनेगल और गाबुन नदीके आसपास तो उसका क़ब्ज़ा पहले ही स्थापित हो गया था। इसके बाद कांगो नदीके उत्तरी किनारेपर भी उसने अपना प्रभुत्व जमा लिया, जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं। इसके अतिरिक्त वह नाइजीरियाके पश्चिम-में डैहोमी नामक नीग्रो राज्यको भी अपने चंगुलमें लानेका प्रयत्न कर रहा था। यहाँका राजा गीज़ो बड़ा वीर और

प्रतापी था। उसके शासनकालमें डैहोमी एक सबल राज्य बन गया था।

गीजोकी मृत्युके बाद उसके उत्तराधिकारीने पड़ोसी राज्योंपर आक्रमण करना शुरू कर दिया। नीग्रो-ईसाइयोंको वह तरह तरहसे तंग करने लगा। परिणाम यह हुआ कि ब्रिटेन और फ्रांसके साथ उसकी खटपट शुरू हो गयी। सन् १८६१ में इंग्लैण्डने उसके लेगॉस द्वीपपर कब्ज़ा कर लिया और इसके दो वर्ष बाद पोर्टोनोवोपर, जो डैहोमीका करद राज्य था, फ्रांसका संरक्षण स्थापित हो गया। यद्यपि तृतीय नैपोलियनने शीघ्र ही यह संरक्षण हटा लिया, फिर भी सन् १८८३ में दुबारा उसकी प्रतिष्ठा कर दी गयी।

जनवरी १८८६ में पोर्तगालने, डैहोमीके एक भाग व्हीडासे पुराना सम्बन्ध होनेके कारण, यह घोषणा की कि डैहोमीके तटकी भूमि पोर्तगालके संरक्षणमें है और इस सम्बन्धमें वहाँके राजाके साथ पोर्तगालकी सन्धि भी हो चुकी है। किन्तु पोर्तगाल एक छोटा राज्य था, अतः उसे अपना दावा छोड़ देनेके लिए राजी करनेमें कोई कठिनाई नहीं हुई।

सन् १८८९ में डैहोमीके राजासे परेशान होकर फ्रांसने उसके विरुद्ध लड़ाई छेड़ दी। चार वर्षके बाद वह पदच्युत कर मार्टीनिक नामक स्थानको और फिर १९०६ में अलजीरिया-को भेज दिया गया। अब डैहोमी पूर्ण रूपसे फ्रांसके अधीन हो गया। फ्रांसने उसे दो भागोंमें बाँट दिया और नाम मात्रके लिए दो शासक नियुक्त कर दिये।

अब फ्रांसने तटवर्ती देशोंके पीछेवाले स्थानोंपर भी क़ब्ज़ा करनेका निश्चय किया। फ्रांसीसी लोग पहले सेनीगल नदीसे

आगे बढ़कर सूदानमें उसके उद्गम-स्थान तक जा पहुँचे। इसके बाद उन्होंने नाइजर नदीके पूर्वार्द्धके आसपासवाले प्रदेशमें प्रवेश किया। उत्तरमें वे सहाराकी सीमातक जा पहुँचे। इधर उन्होंने नाइजर-तटवर्ती प्रदेशकी सीमा बढ़ाकर उसे समुद्र-किनारेके डैहोमी, आइव्हरी कोस्ट तथा फ्रेंच गिनी नामक उपनिवेशोंके साथ सम्बद्ध कर दिया।

नाइजर नदीके निचले भागपर अंग्रेजोंका नियंत्रण था और ऊपरी भागपर फ्रांसीसियोंका। १८९० के बाद फ्रांसीसियोंने धीरे धीरे आगे बढ़नेकी कोशिश की। नतीजा यह हुआ कि फ्रांस और ब्रिटेनमें होड़ा-होड़ी शुरू हो गयी। नाइजर नदीके वाम तटपर स्थित बोर्गू राज्यके प्रश्नको लेकर शीघ्र ही दोनों देशोंमें झगड़ा शुरू हो गया। बात यहाँतक बढ़ी कि दोनों ओरकी सेनाओंको उक्त राज्यकी सीमापर जमा होनेकी आज्ञा दे दी गयी। युद्ध छिड़नेमें कोई देर न थी, किन्तु ठीक इसी समय एकाएक स्थिति बदल गयी और १४ जून १८९८ को दोनों राष्ट्रोंके बीच सन्धि हो गयी, जिसके अनुसार बोर्गू राज्य आपसमें बाँट लिया गया।

इधर गाबुन तथा कांगो नदियोंके बीच फ्रांसका जो छोटासा उपनिवेश था, वहाँसे आफ्रिकाके भीतरी हिस्सोंमें फ्रांसकी सत्ता स्थापित करनेका प्रयत्न किया जाने लगा। कांगोके उत्तर किनारेतक डी ब्रेजाके पहुँचनेकी बात हम लिख ही आये हैं। जर्मनी और पोर्त्तगालसे जो समझौते हुए (१८८५, १८८६), उनके अनुसार वर्त्तमान फ्रेञ्च कांगोके पश्चिमी भागपर और कांगो फ्री स्टेटके साथ की गयी सन्धि (१८८७) के अनुसार कैमेरूनके पूर्वमें स्थित यूबंगी प्रान्तपर फ्रांसका प्रभुत्व

स्वीकार कर लिया गया। फ्रांसकी इच्छा कैमेरूनके पीछेकी भूमिपर कब्ज़ा करते हुए उत्तरकी ओर बढ़नेकी थी। यह देखकर ब्रिटेनने जर्मनीको कैमेरूनकी सीमा बढ़ाने और चैड झीलकी तरफ अग्रसर होनेके लिए उसकाना शुरू किया, किन्तु इसका फल उलटा ही हुआ। फ्रांसने अब मध्य सूदान तथा पूर्वी सूदानकी तरफ भी बढ़नेका निश्चय कर लिया।

जिस समय ब्रिटेन और फ्रांस आफ्रिकाके पश्चिमी किनारे-पर अपना प्रभुत्व स्थापित करनेकी चेष्टा कर रहे थे, उस समय जर्मनी चुप नहीं बैठा था। यद्यपि जर्मनीका प्रधान मंत्री बिस-मार्क पहले उपनिवेश स्थापित करनेकी नीतिके पक्षमें न था, किन्तु बादमें उसने ब्रीमेनके एक व्यापारी लूडरिट्ज़को यह आश्वासन दे दिया कि यदि कोई ऐसा बन्दरगाह मिल सके जिसपर अन्य किसी राष्ट्रने क़ब्ज़ा न किया हो, तो उसे प्राप्त करनेमें जर्मन सरकार उसका समर्थन करेगी।

ब्रीमेनके उक्त व्यापारीने उपयुक्त स्थानकी खोजमें अपना एक प्रतिनिधि भेजा। इसने एंग्रा पेक्वेना नामक जगह पसंद की। १८८३ के अप्रैल महीनेमें वह वहाँ जा पहुँचा और स्था-नीय सरदारसे दो हजार मार्क तथा दो सौ बन्दूकोंके बदलेमें पाँच मील लम्बी चौड़ी ज़मीन खरीद ली। इसके बाद थोड़ी सी जगह और भी खरीदी गयी। जर्मनोंको इस स्थानपर कब्ज़ा करते देखकर ब्रिटेन चौकन्ना हो गया। वहाँके साम्राज्यवादियों-का ख़याल था कि केपकालोनी तथा वालफिशबे (जिसपर उसने सन् १८७८ में ही प्रभुत्व स्थापित कर लिया था) के बीच-की भूमिपर ब्रिटेनके सिवा अन्य कोई देश अधिकार नहीं कर सकता और वह जब चाहेगा तब उसे अपने अधीन कर

लेगा। अतः जर्मनों द्वारा एंग्रा पेक्वेनापर दखल जमानेकी खबर पाकर उनका चिन्तित हो जाना स्वाभाविक ही था।

बिसमार्ककी चालाकीके कारण ब्रिटेनको पहलेसे इस बातका पता लगने नहीं पाया। सारी काररवाई हो जानेके बाद जब उसे इसका हाल मालूम हुआ, तो उसने इसका विरोध किया। परिस्थिति नाजुक होती जा रही थी, किन्तु फ्रांसका रुख जर्मनीके अनुकूल देखकर ब्रिटेनको विषका घूँट पीकर रह जाना पड़ा।

इधर बिसमार्कने डा० गस्टव नक्टिगल नामक एक देशान्वेषकको किसी खास मतलबसे पश्चिमी आफ्रिकाके किनारेकी यात्रा करनेका आदेश दिया। वह २ जुलाई १८८४ को गिनीकी खाड़ीमें जा पहुँचा। ५ जुलाईको उसने लिटिल पोपो नामक स्थानमें जर्मनीका झंडा गाड़ दिया। आसपासके और भी स्थानोंपर क़ब्ज़ा हो जाने पर इस उपनिवेशका नाम टोगोलैण्ड पड़ा।

११ जुलाईको नक्टिगल कैमेरून नदीके मुहानेपर पहुँचा। इस क्षेत्रमें जर्मन व्यापारियोंने पहले ही नीग्रो सरदारोंके साथ सन्धिकी बातचीत शुरू कर दी थी। यद्यपि नक्टिगलके पहुँचनेके कुछ ही पहले थोड़ेसे अंग्रेज भी वहाँ दाखिल हो गये थे, पर वे कुछ कर नहीं सके, क्योंकि सन्धिके कागज ब्रिटिश दूतके पास थे जिसके आनेमें अभी देर थी। १५ जुलाई सन् १८८४ की आधी रातको वहाँके राजा बेल तथा अन्य सरदारोंने नक्टिगलके सन्धि-पत्रोंपर हस्ताक्षर कर दिये। जब ब्रिटिश दूत वहाँ पहुँचा, तो अवसर चूक जानेके कारण उसे बड़ा पश्चात्ताप हुआ। अब उसने कुछ और सरदारोंसे सन्धि

करनेकी कोशिश की। वह इसमें सफल भी हुआ, किन्तु बादमें ब्रिटिश सरकारने सारे कैमेरून प्रान्तपर जर्मनीका अधिकार स्वीकार कर लिया। वहाँकी कुछ जातियोंने जर्मनीके आधिपत्य-का विरोध किया। जर्मनीने गोले बरसाकर शीघ्र ही उनका दमन कर दिया।

बिसमार्कने इंग्लैण्डके विरुद्ध सहयोग करनेका आश्वासन देकर गुप्त रूपसे फ्रांसको अपने पक्षमें कर लिया। फ्रांसका रुख जर्मनीके अनुकूल देखकर इंग्लैण्डको लाचार होकर आ-फ्रिकाके दक्षिण-पश्चिमवाले भागमें तथा कैमेरून्स और टोगो-लैण्डमें जर्मनीका आधिपत्य स्वीकार कर लेना पड़ा।

सन् १९१४ के यूरोपीय युद्धके पूर्वतक अर्थात् कोई तीस वर्षतक जर्मनी अपने पश्चिमी आफ्रिकाके भूभागोंपर शासन करता रहा, किन्तु इससे उसे विशेष लाभ नहीं हुआ। आफ्रि-काके अन्य देशोंमें मजदूरोंकी जो कठिनाई थी, उसका सामना तो जर्मनीको करना ही पड़ा, साथ ही उसके पूँजीपतियोंने इन भूभागोंमें रुपया लगाने तथा खेती आदिका काम शुरू करानेमें खास दिलचस्पी नहीं दिखलायी। वहाँ जो कुछ उन्नति हुई, उसका प्रधान श्रेय जर्मन सरकारको ही था। पोता-श्रय बनाने, रेलकी सड़कें निकालने आदिका काम उसने स्वयं अपने हाथमें ले लिया था। अपनी जातीय भूमिसे वंचित होकर और तरह तरहसे सताये जाकर वहाँके मूल-निवासियोंने कई बार विद्रोह किया। सन् १९०४ में हेटेरो जातिका दमन इतनी क्रूरताके साथ किया गया कि उसके आधेसे अधिक व्यक्तियोंको या तो अपने प्राणोंसे हाथ धोने पड़े या देश छोड़ कर अन्यत्र चले जानेके लिए बाध्य होना पड़ा।

इन सब कठिनाइयोंके कारण उपनिवेशोंसे यथेष्ट लाभ उठानेमें असमर्थ होते हुए भी जर्मन साम्राज्यवादियोंकी इच्छा आसपासके और कई देशोंपर प्रभुत्व स्थापित करनेकी थी। उनका ध्यान जर्मन साउथ-वेस्ट आफ्रिकाके उत्तरमें स्थित पोर्तगालके उपनिवेश अंगोलाकी तरफ विशेष रूपसे लगा हुआ था। ब्रिटेन पोर्तगालका मित्र था, अतः उसकी स्वीकृतिके बिना अंगोलाके किसी अंशपर क़ब्ज़ा कर लेना सम्भव न था। सन् १८९८ में इंग्लैण्ड और जर्मनीके बीच एक गुप्त समझौता हुआ, जिसके अनुसार अंगोलाका दक्षिणी भाग जर्मनीका और उत्तरी भाग इंग्लैण्डका प्रभावक्षेत्र मान लिया गया।

जब पोर्त्तगालको इस गुप्त समझौतेकी बात मालूम हुई, तो उसने इसका विरोध किया, जिससे इंग्लैण्डको विवश होकर इसे रद्द कर देना पड़ा। सन् १९१३ में जर्मनी और इंग्लैण्डके बीच पुनः एक सन्धि हुई, जिसके अनुसार अंगोलाका अधिकांश जर्मनीके हकमें पड़नेवाला हिस्सा मान लिया गया, किन्तु सन् १९१४ में युद्ध छिड़ जानेके कारण जर्मनीकी महत्त्वाकांक्षाओंपर पानी पड़ गया और उसके उपनिवेश भी उससे छीन लिये गये।

इधर पश्चिमी आफ्रिकाकी तरह पूर्वी आफ्रिकाके बँटवारेका प्रयत्न भी हो रहा था। सन् १८८४ तक मदागास्कर द्वीपके सामने, ज़म्बीज़ी नदीके उत्तर-दक्षिणमें फैला हुआ लम्बा भूभाग पोर्तगालके अधीन था। इसके उत्तरमें जो भूमि थी, उसपर अभीतक किसी यूरोपीय देशका अधिकार नहीं हुआ था। वह एक तरहसे जंजीबारके सुलतानके अधीन थी, जिसकी स्वतंत्रता ब्रिटेन तथा फ्रांसने १८६२ में स्वीकार कर ली थी।

सन् १८८४ में डाक्टर कार्ल पीटर्सने जर्मनीके उपनिवेश स्थापित करनेकी गरजसे एक कम्पनी बनायी थी। उसने गुप्त रूपसे आफ्रिकाकी यात्राका प्रबन्ध किया और नवम्बरमें जंज़ीबारके निकटवर्त्ती तटपर जा पहुँचा। अपने दोनों साथियों-के साथ उसने आसपासके कई देशी सरदारोंसे भेंट की और तरह तरहकी चीज़ें भेंटमें देकर तथा मीठी मीठी बातें बनाकर उन्हें सन्धिपत्रपर स्वीकृति-सूचक चिह्न बना देनेके लिए फुसलाया। दस दिनके बाद जब वह लौटकर जंज़ीबार पहुँचा, तब उसके पास यूसेगुहा, यूसागारा, यूकामी तथा अन्य देशी राज्योंसे किये गये एक दर्जन सन्धिपत्र थे, जिनके अनुसार कोई साठ हजार वर्गमीलकी भूमिपर उसकी कम्पनीको अपना संरक्षण स्थापित करनेका अधिकार प्राप्त हो गया था।

पीटर्स शीघ्र ही बर्लिनके लिए रवाना हो गया। वहाँ पहुँच कर उसने प्रधान मंत्री बिसमार्कसे सरकारी संरक्षणकी प्रार्थना की। बिसमार्कने पहले तो कुछ आनाकानी की, किन्तु बादमें पीटर्सकी एक चतुराई भरी उक्तिसे यह शंका कर कि प्रोत्सा-हन न मिलनेसे कहीं वह बेलजियम-नरेश लिओपोल्डके पास न चला जाय, उसने संरक्षण स्वीकार करनेकी घोषणा कर दी। शीघ्रता करनेका एक कारण यह भी था कि इस समय ब्रिटेन-का ध्यान एशियाके उन झगड़ोंकी ओर लगा हुआ था जो उसके और रूसके बीच उठ खड़े हुए थे।

इधर सर हैरी जानस्टन नामक ब्रिटिश अन्वेषकने भी इसी समय (सन् १८८४ में) किलीमंजारो शिखरके पास, अर्थात् पीटर्स जहाँतक गया था उसके ठीक उत्तरमें, पहुँचकर देशी राजाओंसे सन्धियाँ कर ली थीं। सन् १८८५ में मैनचेस्टरके

कुछ व्यापारियोंने ब्रिटिश ईस्ट आफ्रिका असोसिएशनकी स्थापना की। (बादमें इसका नाम ब्रिटिश ईस्ट आफ्रिका कम्पनी हो गया।) इस संस्थाने उक्त सन्धियोंके आधारपर ब्रिटिश सरकारसे संरक्षणके लिए प्रार्थना की। इसपर लार्ड ग्रेनविलने बर्लिनमें स्थित ब्रिटिश दूतके पास एक पत्र भेजा, जिसमें जर्मन सरकारको यह बात समझा देनेकी हिदायत दी गयी थी कि ब्रिटिश सरकार तबतक इन व्यापारियोंका समर्थन नहीं करना चाहती, जब तक उसे इस बातका विश्वास न हो जाय कि ऐसा करनेसे उस भूभागके हितमें कोई बाधा न पड़ेगी, जिसपर जर्मनीका संरक्षण स्थापित हो चुका है। उन्होंने इस सम्बन्धमें प्रिंस बिसमार्कका मत भी जानना चाहा।

जर्मनी और ब्रिटेनको पूर्वी आफ्रिकामें अपना प्रभावक्षेत्र स्थापित करते देखकर फ्रांस कब चूकनेवाला था। उसने भी आफ्रिकाके पूर्वी तटके बँटवारेमें दिलचस्पी लेनी शुरू की। परिणाम यह हुआ कि आपसके दावोंका निपटारा करनेके लिए जर्मनी, ब्रिटेन, तथा फ्रांसके प्रतिनिधियोंकी एक कमेटी बनी। सन् १८८६ में यह तय हुआ कि जंज़ीबारके सुलतानका अधिकार केवल जंज़ीबार, पेम्बा, लामू, तथा अन्य छोटे छोटे द्वीपोंपर ही होगा। इसके सिवाय किनारेसे दस मीलतक का एक हजार मील लम्बा हिस्सा भी उसके अधिकारमें रहेगा, पर इसका दक्षिणी भाग जर्मनीका तथा उत्तरी भाग (४०० मील) ब्रिटेनका प्रभावक्षेत्र समझा जायगा। दस मीलकी सीमाके पीछेकी भूमि जर्मनी तथा ब्रिटेनके बाँटे पड़ी और मदागास्कर फ्रांसका प्रभावक्षेत्र मान लिया गया।

जर्मनी शीघ्र ही अपना प्रभावक्षेत्र बढ़ानेके लिए उत्सुक हो उठा। उसके सामने एक बड़ा प्रश्न यह था कि वह अपने अधीन भूभागकी सीमा बढ़ाकर बेलजियन कांगोकी सीमासे बिलकुल मिला दे या ब्रिटेनकी केप-काहिरा-रेल-योजनाके लिहाजसे बीचमें एक पतला सा लम्बा टुकड़ा छोड़ दे। इसके सिवाय एक प्रश्न यह था कि विषुवत् रेखाके उत्तरमें स्थित यूगैण्डा प्रदेशपर जर्मनी क़ब्ज़ा करे या उसे ब्रिटेनके लिए छोड़ दे।

यूगैण्डामें मुसलमानोंकी संख्या काफ़ी थी। जब उन्होंने वहाँके राजा म्वंगाको पदच्युत कर दिया, तब उसने ब्रिटिश ईस्ट आफ़्रिका कम्पनीके एक अफ्सर फ्रेडरिक जैक्सनसे सहायता मांगी, जो उस समय विक्टोरिया झीलकी ओर यात्रा कर रहा था। उसने इस शर्त्तपर सहायता देना स्वीकार किया कि जो कुछ खर्च पड़े उसका भार राजा स्वयं उठावे, साथ ही यूगैण्डापर ब्रिटिश झण्डा फहराने दिया जाय। दैवयोगसे उसका पत्र पीटर्सके हाथ लग गया जो सूडानके प्रान्तीय शासककी सहायता करनेके बहाने उत्तरकी ओर अग्रसर हो रहा था। वह तुरन्त यूगैण्डा चला गया और जैक्सनके पहुँचनेके पहले ही उसने वहाँके राजासे सन्धि कर ली।

बिसमार्कको पीटर्सकी यह काररवाई पसन्द नहीं आयी। वह आफ़्रिकाकी कुछ भूमिके बदले हेलीगोलैण्ड प्राप्त करनेके लिए लार्ड सैलिसबरीसे पत्र-व्यवहार कर रहा था। जुलाई १८९० में ब्रिटेन और जर्मनीमें जो सन्धि हुई, उसके अनुसार पीटर्सका सारा परिश्रम बेकार हो गया। जर्मनीको हेलीगोलैण्ड मिल गया और ब्रिटेनका प्रभुत्व यूगैण्डा, जंज़ीबार तथा

पेम्बाके अतिरिक्त न्याज़ालैण्डपर भी मान लिया गया। जर्मन ईस्ट आफ्रिकाकी सीमा टंगान्यिका तथा न्याज़ा झीलतक बढ़ा दी गयी, जिससे ब्रिटेनकी केप-काहिरा रेल-योजनाके लिए कोई मार्ग नहीं रह गया। इसी तरह पश्चिमी आफ्रिकामें जर्मन कैमेरूनकी सीमा चैड झील तक मान ली गयी।

जर्मन ईस्ट आफ्रिकामें अच्छी अच्छी ज़मीन जर्मन पूँजी-पतियों तथा कम्पनियोंको बाँट दी गयी और रबर, कपास इत्यादिकी खेतीको विशेष रूपसे प्रोत्साहन दिया जाने लगा। मजदूरी करनेके लिए मूल-निवासी विवश किये जाने लगे। सन् १९०५ में उन्होंने आजिज़ आकर बलवा कर दिया। बड़ी सख्ती-के साथ उनका दमन किया गया। विवश होकर उन्हें जर्मन मालिकोंके खेतोंपर जाकर मजदूरी करनेमें दिलचस्पी लेनी पड़ी। सन् १९०२ में वहाँसे लगभग ½ टन रुई बाहर भेजी गयी थी; किन्तु सन् १९१३-१४ में तीन हजार टन भेजी गयी।

यूगैण्डाके शासनका खर्च चलानेमें असमर्थ होकर इम्पी-रियल ब्रिटिश ईस्ट आफ्रिका कम्पनी वहाँसे अपनी सेना हटा लेनेका विचार करने लगी। इसपर ब्रिटेनके कुछ व्यापारियों तथा अन्य लोगोंने कम्पनीकी सहायता करनेके लिए ब्रिटिश सरकारपर दबाव डालना शुरू किया। सरकारने परिस्थिति-की जाँच करनेके लिए सर जेराल्ड पोर्टलको वहाँ भेजा। जून १८९४ में यूगैण्डापर ब्रिटिश संरक्षणकी घोषणा कर दी गयी। ब्रिटिश ईस्ट आफ्रिका कम्पनीको दो लाख पौण्डकी रकम क्षतिपूर्तिके रूपमें दी जाती थी, पर उसने इसे बहुत कम समझ कर लेनेसे इनकार कर दिया। तब उसे ढाई लाख पौण्ड देनेका निश्चय हुआ।

जर्मनी तथा ब्रिटेनको पूर्वी आफ्रिकामें अभीतक जितनी भूमि प्राप्त हुई थी, उतनीसे वे सन्तुष्ट न थे। उनकी नज़र पोर्तगालके उपनिवेश मोज़ाम्बिकपर भी लगी हुई थी। सन् १८९८ के जिस गुप्त समझौतेका उल्लेख हम पृष्ठ १८३ में कर चुके हैं, उसमें एक शर्त यह भी रखी गयी थी कि यदि पोर्तगाल अपने उक्त उपनिवेशको बेचना चाहे तो दक्षिणी भाग ब्रिटेनको और उत्तरी भाग जर्मनीको मिलेगा। कई वर्ष बीत जाने पर भी जब पोर्तगालने मोजाम्बिक बेचनेकी इच्छा नहीं की, तब सन् १९१३ में ब्रिटेन तथा जर्मनीने आपसमें यह निश्चय किया कि पोर्तगालकी स्वीकृति न होते हुए भी मोज़ाम्बिकपर दख़ल कर लिया जाय। अगस्त १९१४ में जर्मनीसे युद्ध शुरू हो जानेके कारण सब बात जहाँकी तहाँ रह गयी। युद्ध-समाप्तिके बाद ब्रिटेनने समूचे मोजाम्बिकपर अपना आर्थिक प्रभाव स्थापित कर लिया और १९१९ में जर्मन ईस्ट आफ्रिकाका शासनादेश भी उसे मिल गया। इसका नाम अब टैंगान्यिका पड़ा।

इस प्रकार अब ब्रिटिश ईस्ट आफ्रिकामें, शासनादेशके अनुसार प्राप्त टैंगान्यिकाके अतिरिक्त, केनियाका उपनिवेश, यूगैण्डा, जंज़ीबार, तथा न्याज़ालेण्ड और उत्तरी रोडेशिया शामिल हैं। ब्रिटिश वेस्ट आफ्रिकाकी तुलनामें ब्रिटिश ईस्ट आफ्रिकाका व्यापार बहुत कम था। इसका एक कारण तो यह है कि पूर्वी उपनिवेशोंकी अपेक्षा पश्चिमी उपनिवेश अधिक घने बसे हुए हैं, साथ ही प्राकृतिक उन्नतिके साधनोंकी दृष्टिसे भी दोनोंमें बहुत अन्तर है। इसका दूसरा कारण आर्थिक शोषणकी वह नीति है जिसका प्रयोग पूर्वी अफ्रिकामें व्यापक रूपसे किया गया है।

सन् १८९८ में केनियाकी सारी ज़मीन, उपजाऊ हो या अनुपजाऊ और किसीके क़ब्ज़ेमें हो या न हो, ब्रिटिश सम्राट्की सम्पत्ति मान ली गयी। पूर्वी आफ्रिकाके अन्य भागोंमें भी प्रायः ऐसा ही किया गया। जो ज़मीन व्यापारिक कम्पनियोंके एजेण्टोंने ज़मीन्दारों आदिसे छीन ली थी, वह सरकारने ले ली, और उसे पट्टेपर यूरोपियनोंको बाँट दिया या उनके हाथ बेच दिया। मूल-निवासियोंको ज़मीन रखनेका प्रायः कोई अधिकार नहीं दिया गया। उनके रहनेके लिए अवश्य थोड़ीसी ज़मीन अलग छोड़ दी गयी किन्तु बढ़ियासे बढ़िया भूमि यूरोपियनोंके ही हिस्सेमें पड़ी।

भूमि छीन लेने पर भी मूलनिवासियोंको मजदूरी करनेके लिए कुछ और प्रत्यक्ष उपायों द्वारा विवश करनेकी आवश्यकता थी। इसी उद्देश्यसे उनपर एक तरहका मुण्ड-कर लगा दिया गया, जिसे चुकानेके लिए उन्हें मजदूरी करनेके लिए बाध्य होना पड़ा। न्याज़ालैण्डमें जो व्यक्ति मजदूरी न कर घर बैठता, उसपर मजदूरी करनेवालेकी अपेक्षा दूना कर लगा दिया गया।

कभी कभी ऐसा होता था कि कुछ दिनोंतक काम करनेके बाद ज्यों ही टैक्स चुकाने लायक रुपया इकट्ठा हो जाता था, त्यों ही मूलनिवासी अपने यूरोपियन मालिकोंका काम छोड़कर घर बैठ रहते थे। यह देखकर भिन्न भिन्न प्रान्तोंमें कई नये क़ानून बना दिये गये, जिनके अनुसार मजदूरी करनेवालोंके लिए और कड़ी शर्तें लगा दी गयीं तथा काम छोड़कर जाने पर सख्त सजा देनेकी व्यवस्था की गयी। जब इतनेसे भी काम न चला, तो यह नियम बनाया गया कि रेल-निर्माण या

ऐसे ही बड़े कामोंके लिए जबरन मजदूर पकड़ कर बुलाये जा सकें और उनसे मामूलीसे कम दरपर काम कराया जा सके। शर्तें भंग करने पर वे बन्दियोंके खास कैम्पमें रखे जाते थे। जहाँ उनसे मुफ्तमें ही काम लिया जा सकता था।

इन सब कड़ाइयोंका परिणाम यह हुआ है कि वहाँके मूल-निवासियोंमें असन्तोषकी मात्रा बढ़ गयी है और उन्हें कई बार विद्रोह करनेके लिए भी बाध्य होना पड़ा है। सन् १९१५ में न्याज़ालैण्डमें जो विद्रोह हुआ था, उसका कारण वहाँकी एक बड़ी जमीन्दारीके यूरोपियन कर्मचारियोंका सख्त व्यवहार था। इसमें पाँच कर्मचारी मारे गये और पड़ोसके अन्य यूरोपियनोंको भागकर इधर उधर शरण लेनी पड़ी। संघटनके अभावमें शीघ्र ही उसका दमन कर दिया गया और विद्रोहियोंके प्रधान नेताको गोली मार दी गयी। सन् १९२२ में नैरोबीमें भी मूल-निवासियोंने जबरन काम लेनेकी प्रथा तथा असह्य कर-भारके विरुद्ध बलवा कर दिया था। जब सरकारने उनके नेता हैरीथुकूको क़ैद कर लिया तो उसके हजारों अनुयायी जेलके फाटकपर इकट्ठे होकर उसे छुड़ानेका प्रयत्न करने लगे। इसपर पुलिसको गोली चलानी पड़ी, जिससे लगभग तीस स्त्री-पुरुषोंकी जान गयी। थुकू वहाँसे हटाकर समुद्र तटपर भेज दिया गया।

यहाँपर केनियाके भारतीयोंकी परिस्थितिके सम्बन्धमें भी किञ्चित् विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। वाणिज्य-व्यवसायमें भारतीयोंकी सफलता देखकर वहाँके यूरोपियनोंको चिढ़ मालूम होने लगी और उन्होंने भारतीयोंको आर्थिक तथा राजनीतिक अधिकार दिये जानेका विरोध करना शुरू

किया। जब ब्रिटिश सरकारने मताधिकार सम्बन्धी तथा बिना किसी रुकावटके केनियामें प्रवेश पा सकनेकी भारतीयों-की माँग स्वीकृत कर ली, तब वहाँके यूरोपियन सशस्त्र विद्रोह करनेकी धमकी देने लगे। उन्होंने सभा करके भारतीयोंके बहिष्कारका प्रस्ताव पास किया। निदान ब्रिटिश सरकारको दबावमें आकर उनकी बात माननी पड़ी। भारतीयोंको सन्तुष्ट करनेके लिए दूसरा प्रस्ताव किया गया। किन्तु उन्होंने असहयोग करना और कर देनेसे इनकार करना शुरू कर दिया। सन् १९२५ तक यही अवस्था रही। फिर किसी तरह वे राजी किये गये और उन्हें एक सीमातक मताधिकार प्रदान किया गया।

जब पूर्वी आफ्रिकामें जर्मनी और ब्रिटेन अपना अपना प्रभाव बढ़ा रहे थे, तब एक ओर इटली तथा दूसरी ओर फ्रांस भी इस लूटमें हिस्सा बँटानेका प्रयत्न कर रहे थे। सन् १८८५ में मिश्रकी कठिनाइयोंमें व्यस्त होनेके कारण वहाँके खदीव तथा उनके सहायक लालसमुद्रके तटवर्त्ती प्रान्तके शासन-प्रबन्ध-की ओर यथेष्ट रूपसे ध्यान नहीं दे सकते थे, इसीसे ब्रिटेनकी मौन स्वीकृतिसे इटलीने वहाँके मसावा तथा अन्य बन्दरस्थानों पर क़ब्ज़ा कर लिया। जब इटैलियन लोगोंने भीतरकी ओर बढ़नेका प्रयत्न किया, तो अबीसीनियाके सम्राट् जोहनीज़ने उन्हें रोक दिया। कुछ दिनोंतक झगड़ा चलते रहनेके बाद मई १८८९ में वहाँके नये शासक मेनेलेकके साथ जो सन्धि हुई, उससे इटलीके प्रभावक्षेत्र तथा अबीसीनियाके बीचकी सीमा निर्धारित कर दी गयी। यह सन्धि अक्सिआलीकी सन्धिके नामसे प्रसिद्ध है। इसकी सत्रहवीं धारामें कहा गया था कि

"इथिओपिया (अबीसीनिया) के शाहंशाह अन्य राज्योंसे सन्धिकी बातचीत करते समय, यदि वे चाहें तो, इटलीकी सरकारसे सहायता ले सकते हैं (शैल बी ऐट लिबर्टी टु अवेल हिमसेल्फ आफ दि इटैलियन गवर्नमेण्ट......)।" इटलीकी सरकारने अपने कागजपत्रोंमें 'यदि वे चाहें तो...' के स्थानमें 'स्वीकार करते हैं (कन्सेण्ट्स टु) कर दिया और सर्वत्र यही घोषणा कर दी कि अबीसीनियापर अब इटलीका संरक्षण स्थापित हो गया है। सम्राट् मेनेलेकको जब इस धूर्त्तताका पता चला, तो उन्होंने उसका विरोध किया और सन्धि माननेसे इनकार कर दिया।

इधर इटलीकी ओरसे पूर्वी किनारेके सरदारोंके साथ भी सन्धि करनेका प्रयत्न किया जा रहा था। सन् १८९२ में ब्रिटेनकी सहायतासे जंज़ीबारके सुलतानने सोमाली तटका पट्टा १ लाख ६० हजार रुपये वार्षिक करके बदले इटलीके नाम लिख दिया। इस भूभागकी उन्नतिका कार्य एक प्राइवेट कंपनीके सिपुर्द हुआ, जिसे सन् १९०५ तक इटैलियन सरकारसे आर्थिक सहायता मिलती रही। इसके बाद सरकारने वहाँका प्रबन्ध स्वयं अपने हाथमें ले लिया। अभीतक वहाँकी अनुपजाऊ एवं बालुकामय भूमिसे पर्याप्त लाभ होनेके कोई लक्षण दृष्टिगोचर नहीं हुए थे, किन्तु इसके बाद शीघ्र ही रुई उत्पन्न होनेकी सम्भावनासे इस उपनिवेशको विशेष महत्त्व प्राप्त हो गया।

फ्रांसने अपने लिए मदागास्करका द्वीप चुना, जो आफ्रिकाके पूर्वी किनारेसे ढाई सौ मील दूर है। सत्रहवीं शताब्दीमें कुछ फ्रांसीसी यहाँ आकर बस गये थे, किन्तु बादमें वे मार

डाले गये और फ्रांसका उससे कोई विशेष सम्बन्ध न रह गया। फिर भी फ्रांसने अपना दावा नहीं छोड़ा। जब एक फ्रांसीसी अन्वेषकने वहाँकी प्राकृतिक सम्पत्तिकी ओर लोगोंका ध्यान आकर्षित किया, तब फ्रांसके मनमें पुनः उसपर अपना प्रभाव स्थापित करनेकी इच्छा जागरित हो उठी।

सन् १८६१ में जब रदामा द्वितीय वहाँका राजा हुआ, तब फ्रांसीसियोंने उसे फुसलाकर एक सन्धिपत्रपर हस्ताक्षर करनेके लिए राजी कर लिया, जिससे मदागास्करमें उनका प्रभाव शीघ्र ही बढ़ जानेकी सम्भावना थी। सन् १८६३ में राजाकी हत्या हो जानेके बाद शासनसूत्र उसकी रानीके हाथमें आया। उसने फ्रांसीसियोंके साथ किये गये समझौतेको रद्द कर दिया, क्योंकि उसमें गैरक़ानूनी तरीकोंसे काम लिया गया था। पाँच वर्षतक शासन करनेके बाद उसकी मृत्यु हो गयी। तब रानावा लोना वहाँकी रानी हुई। इसके शासनकालमें फ्रांसीसियोंके साथ कुछ झगड़ा होगया। मामला तय करानेके लिए दो राजदूत फ्रांस भेजे गये, किन्तु उनके वापस आनेके पहले ही फ्रांसीसी सेनाने लड़ाई शुरू कर दी और किनारेके एक दो नगरोंपर क़ब्ज़ा कर लिया। निदान १७ दिसम्बर १८८५ को एक सन्धि हुई, जिससे फ्रांसको एक करोड़ फ्रैंकका हरजाना मिला और वहाँकी परराष्ट्रनीतिपर उसका नियंत्रण स्थापित हो गया। इसके अतिरिक्त डाइगो स्वारेज़ नामक बन्दर स्थान भी उसके सिपुर्द कर दिया गया। सन्धिके अनुसार यह भी तय हुआ कि वहाँके भीतरी शासनमें कोई हस्तक्षेप न किया जायगा और न रानीके पद एवं प्रतिष्ठामें ही कोई अन्तर पड़ेगा।

रानीने फ्रांसीसियोंके हस्तक्षेपका विरोध बराबर जारी रखा और वह ब्रिटिश अफ्सरोंकी सहायतासे देशी सेनाको सुसज्जित एवं सुशिक्षित बनानेका प्रयत्न भी करती रही। जब सन् १८९४ के अन्तमें फ्रांस द्वारा पेश की गयी मांगोको भी उसने ठुकरा दिया, तब फ्रांसने उसपर चढ़ाई कर दी। परिणाम यह हुआ कि विपुल धन-जनका विनाश होनेके बाद मदागास्करमें फ्रांसका संरक्षण स्थापित हो गया। शीघ्र ही वहाँकी रानी गद्दीसे उतार दी गयी और व्यापारपर फ्रांसका एकाधिकार जमानेके उद्देश्यसे मदागास्कर स्पष्ट रूपसे फ्रांसीसी साम्राज्यमें मिला लिया गया।

चौथा अध्याय

दक्षिण आफ्रिका और ब्रिटेन

पश्चिमी और पूर्वी आफ्रिकामें यूरोपीय राष्ट्रोंके बीच जो प्रतिद्वन्द्विता दृष्टिगोचर होती थी, दक्षिण आफ्रिकामें प्रायः शुरूसे ही उसका अभाव था। जब सन् १८७० ईसवीमें इंग्लैण्डके एक प्रतिष्ठित घरानेका नवयुवक सेसिल रोड्ज़ दक्षिण आफ्रिकाके डर्बन बन्दरमें पहुँचा, तब वहाँ किम्बरले तथा ग्रीकुआलैण्डकी हीरेकी खानोंका पता लगे बहुत दिन नहीं हुए थे। ट्रांसवालमें सोनेकी खानोंकी खोज भी उसके पहुँचनेके बाद शीघ्र ही की गयी। दो चार स्थानोंकी यात्रा करनेके बाद वह वहाँ ब्रिटिश साम्राज्यकी स्थापनाका स्वप्न देखने लगा,
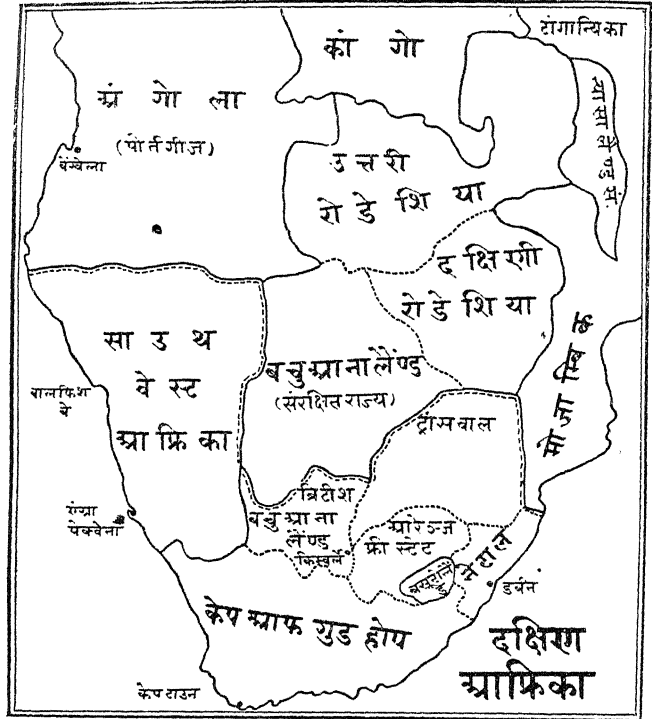
पृ० १९५
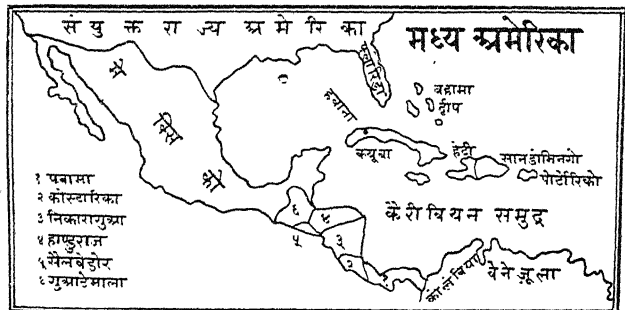
पृ० ३७३ (१९५)

किन्तु इस समय तो रुपया कमाना ही उसका प्रधान उद्देश्य था, अतः उसने इसीपर अपनी सारी शक्ति केन्द्रीभूत करनेका निश्चय किया।

सेसिल रोड्ज़ खानोंसे हीरे निकालनेका व्यवसाय करनेवाली एक कम्पनीका साझेदार बन गया। जब अन्य व्यवसायी निराश होकर अपना काम बन्द करने लगते या जब उनकी पूँजी चुक जाती, तब रोड्ज़ तथा उसका साझीदार उनके कारखानोंको स्वयं खरीद लेते अथवा उन्हें अपनी कम्पनीमें शामिल कर लेते थे। सोलह वर्षोंके भीतर रोड्ज़ डी बीयर्स माइनिंग कम्पनीका मालिक बन गया, जिसमें लगभग एक करोड़ डालरकी पूँजी लगी थी और जिसपर प्रायः २५ प्रतिशत मुनाफा होता था। इस प्रकार हीरेकी खानोंके दो बड़े केन्द्रोंमेंसे एकका इजारा उसे प्राप्त हो गया। अब उसका केवल एक ही प्रतिद्वन्द्वी रह गया। यह सेन्ट्रल कम्पनीका मालिक बारनैटो था, जिसका प्रधान क्षेत्र किम्बरलेकी खानों तथा उनके आसपासका देश था। कुछ समयकी प्रतिद्वन्द्विताके बाद उसे भी रोड्ज़के सामने सिर झुका देना पड़ा। सन् १८९० में रोड्ज़की कम्पनीको, जिसका नाम अब डी बीयर्स कानसालिडेटेड माइन्ज़ था और जिसमें बारनैटो भी शामिल हो गया था, सारे दक्षिण आफ्रिकाकी खानोंपर एकाधिकार प्राप्त हो गया।

ट्रांसवालमें सुवर्णकी जो खानें थीं, उनसे सोना निकालनेके लिए भी रोड्ज़ने सवा लाख पौण्डकी पूँजीसे एक कम्पनी स्थापित की थी, जो बड़ी शीघ्रतासे बढ़ने लगी। इजारा प्राप्त हो जाने पर उसका नाम 'कानसालिडेटेड गोल्डफील्ड्ज़ आफ

साउथ आफ्रिका' पड़ा। इन दोनों कम्पनियों तथा और भी छोटे मोटे कार्योंसे सन् १८९० तक रोड्ज़को लगभग ५० लाख डालर (कोई १·५६ करोड़ रुपये) की वार्षिक आय होने लगी और वह थोड़े ही समयमें मालामाल हो गया।

दक्षिण आफ्रिकाकी हीरे और सोनेकी खानोंसे रोड्ज़ने जो रुपया कमाया, उसका प्रयोग उसने ब्रिटिश साम्राज्यवाद-का प्रसार करनेमें विशेष रूपसे किया। वह एक विचारशील व्यक्ति था। उसने ख़याल किया कि यदि संसारमें कोई ईश्वर है तो वह मानव-समाजका विकास अवश्य ही चाहता होगा। रोड्ज़ समझता था कि इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिए ऐसे उपाय करना जिनसे अंग्रेज जातिका प्रभाव बढ़े, अत्यन्त आवश्यक है। उसकी धारणा थी कि अंग्रेज़ जाति ही एक ऐसी जाति है जो मनुष्य-समाजके विकासमें सबसे योग्य प्रमाणित होगी। इसीसे वह चाहता था कि इस जातिकी उन्नतिके लिए संसारमें जितनी ज़मीन प्राप्त हो सके, सबपर अधिकार स्थापित करने-का प्रयत्न किया जाना चाहिये।

रोड्ज़ने युवावस्थामें ही जो दानपत्र तैयार किया था, उसकी कई बातें बड़ी मनोरंजक हैं। उसने लिखा था कि मैं जो सम्पत्ति छोड़ जाऊँगा, उससे एक ऐसी गुप्त संस्थाकी स्थापना की जानी चाहिये जिसका उद्देश्य सारे संसारमें ब्रिटिश उपनिवेश बसाना और ब्रिटिश सत्ताका प्रसार करना हो। उसे आशा थी कि एक दिन सारे आफ्रिका महाद्वीपपर ब्रिटिश साम्राज्य फैल जायगा और आस्ट्रेलिया, चीन, भारत, मलाया प्रायद्वीप, ईराक, फिलिस्तीन आदि भी पूर्णतया ब्रिटेनके क़ब्ज़ेमें आ जायँगे। उसका यह भी अनुमान था कि अमेरिकाका संयुक्त

राज्य पुनः ब्रिटेनसे मिल जायगा, तब दक्षिण अमेरिकामें भी सर्वत्र ब्रिटिश झंडा 'फहरा सकेगा। इतने बड़े साम्राज्यका स्वप्न देखते हुए भी रोड्ज़ यह नहीं चाहता था कि ब्रिटेनका शासन बिलकुल स्वेच्छाचारपूर्ण हो। कमसे कम ब्रिटिश उपनिवेशोंके सम्बन्धमें उसकी राय थी कि उन्हें स्वायत्त शासनका अधिकार दे दिया जाय और वे अपने कुछ प्रतिनिधि ब्रिटिश पार्लिमेण्टमें भी भेज सकें। वाणिज्य-व्यवसायके क्षेत्रमें वह साम्राज्यान्तर्गत-संरक्षण-नीतिका समर्थक था।

केपसे-काहिरा तक रेल निकालनेकी योजना रोड्ज़के ही दिमागकी उपज थी। उसकी सफलताके लिए उसने केप-कालोनीसे उत्तरकी ओर ब्रिटिश राज्यकी सीमा बढ़ाना आवश्यक समझा। इस सम्बधमें उसने शीघ्र ही प्रयत्न करना आरम्भ कर दिया। सबसे पहले उसने बेचुआनालैण्डकी ओर नज़र डाली। यह भूभाग केपकालोनीके ठीक उत्तरमें ट्रांसवाल तथा आरेंज नदीके प्रजातन्त्र और दक्षिण-पूर्व जर्मन आफ्रिकाके बीचमें पड़ता था। इसे ब्रिटिश राज्यमें मिला लेना नितान्त आवश्यक था, क्योंकि एक तरफसे जर्मन साम्राज्यवादी तथा दूसरी तरफसे उक्त डच प्रजातन्त्र इसे हड़प लेना चाहते थे। यदि यह प्रान्त इनमेंसे किसीके भी अधिकारमें चला जाता, तो फिर ब्रिटिश साम्राज्यकी सीमा उत्तरकी ओर बढ़ाना प्रायः असम्भव हो जाता। इसीसे रोड्ज़ने उसपर क़ब्ज़ा करनेके लिए ज़ोरोंसे आन्दोलन शुरू किया। परिणाम यह हुआ कि अक्टूबर १८८४ में ब्रिटिश सरकारकी ओरसे सर चार्ल्सके नेतृत्वमें एक सेना भेजी गयी और उसने बेचुआनालैण्डको अपना संरक्षित राज्य बना लिया।

इसके उत्तरमें एक उच्च समभूमि थी, जो अत्यन्त उवरा होनेके साथ साथ श्वेतांग जातियोंके निवास-योग्य भी थी। इसके दक्षिण भागमें लो बेंग्यूला नामक एक हब्शी राजाका राज्य था। रोड्ज़ने देखा कि ट्रांसवालके बोअर लोग बेचुआनालैण्डपर प्रभुत्व स्थापित न कर सकनेके कारण अब इस भूमिपर कब्जा जमानेकी फिक्रमें हैं। उधर पोर्तगीज़ लोग भी चाहते थे कि उसपर पोर्तगालका अधिकार हो जाय, जिसमें अंगोलासे लेकर मोज़ाम्बिकतक सारे देशपर पोर्तगालका राज्य फैल जाय। रोड्ज़ने बड़ी कोशिश कर ब्रिटिश हाई कमिश्नरको इस बातके लिए राज़ी किया कि वे एक अंग्रेज पादरीको राजा लो बेंग्यूलासे बातचीत करनेकी अनुमति दे दें। रोड्ज़ने इसका सारा खर्च स्वयं अपने ऊपर ले लिया।

रोड्ज़का प्रयत्न सफल हुआ। बेंग्यूलाने एक सन्धिपत्र-पर हस्ताक्षर कर दिये, जिसके अनुसार उसने ब्रिटिश हाई कमिश्नरकी पूर्व स्वीकृति लिये बिना अन्य विदेशियोंसे किसी तरहकी सन्धि न करने और अपने राज्यका कोई भाग उनके हाथ न बेचनेका वचन दिया। इस सन्धिके कारण यह भूभाग जर्मनी, पोर्तगाल या बोअरोंके हाथमें जानेसे बच गया। इसके कुछ ही समयके बाद एक हजार बन्दूकों, एक लाख बन्दूककी गोलियों और बारह सौ पौण्ड वार्षिक करके बदले उसने अपने राज्यमें प्राप्त हो सकनेवाली धातुएँ तथा अन्य खनिज वस्तुएँ रोड्ज़के प्रतिनिधियोंके हाथ बेच दीं। लो बेंग्यूलाने बादमें जो पत्र महारानी विक्टोरियाके पास भेजवाया था, उससे मालूम होता है कि इस सन्धिपत्रमें क्या लिखा हुआ है, यह उसे साफ साफ नहीं बताया गया था और उसपर चालाकीसे

उसके हस्ताक्षर करा लिये गये थे। जो हो, रोड्ज़ने सन्धिका यह अर्थ लगाया कि हमें उससे उक्त राज्यका आर्थिक शोषण करनेका ही नहीं, वरन् उसपर शासन करनेका भी अधिकार प्राप्त हो जाता है।

अब उसने दस लाख पौण्डकी पूँजीसे ब्रिटिश साउथ आफ्रिका कम्पनीकी स्थापना की। इसका एक उद्देश्य उक्त देशके मूलनिवासियोंकी दशा सुधारना तथा उन्हें सभ्य बनाना भी बताया गया। उसने ब्रिटिश प्रधान मंत्रीको फुसलाकर अपने पक्षमें कर लिया और सन् १८८९ में एक अधिकारपत्र भी प्राप्त कर लिया, जिसके अनुसार पच्चीस वर्षके लिए उक्त कम्पनीको बेचुआनालैण्डके उत्तर तथा पोर्तगीज़ मोज़ाम्बिकके पश्चिममें कानून बनवाने, सन्धि करने, पुलिस रखने, रेलकी सड़क तथा बन्दर स्थान बनाने, खानोंसे सोना आदि निकालने और व्यवसाय करनेका अधिकार मिल गया। रोड्ज़ तथा उसके साथियोंने धीरे धीरे वहाँ अपना प्रभाव जमा लिया और अन्तमें राजा लो बेंग्यूलाको भी वहाँसे निकाल बाहर किया। अब इस देशका नाम रोड्ज़के नामपर 'रोडेशिया' पड़ा।

रोडेशियाकी उत्तरी सीमा निश्चित नहीं की गयी थी, इसीसे वह शीघ्र ही इधर कांगो फ्री स्टेट और उधर टंगान्यिका झील तक जा पहुँची। इसी समय (सन् १८९० में) आंग्ल जर्मन सन्धिके कारण कांगो फ्री स्टेट और जर्मन पूर्व-आफ्रिकाकी सीमा परस्पर मिल गयी, जिससे रोडेशियाका विस्तार रुक गया। सन् १८९३ में न्यासा झीलके पश्चिमी किनारेपर ब्रिटिश संरक्षण स्थापित हो गया। कुछ समयके बाद इस प्रदेशका नाम न्यासालैण्ड पड़ा।

यहाँकी भूमि अत्यन्त उपजाऊ थी और यह देश श्वेतांग जातियोंके रहने योग्य भी था, अतः शीघ्र ही बहुतसे अंग्रेज यहाँ आकर बसने लगे। बढ़ियासे बढ़िया भूमि तो गोरे लोगोंमें बाँट दी गयी और रद्दी तथा अनुपजाऊ ज़मीन मूलनिवासियोंके बाँटे पड़ी। मूलनिवासियोंपर हर आदमी पीछे एक पाउण्ड टैक्स लगा दिया गया, जिससे उन्हें मामूली मजूरी लेकर गोरे मालिकोंका काम करनेके लिए बाध्य होना पड़े। दक्षिण भागमें फलोंके बाग़ीचोंकी संख्या बढ़ाने तथा कृषि करानेका प्रयत्न सफल नहीं हुआ, अतः खानोंसे सोना निकालनेका काम ही वहाँका प्रधान उद्योग हुआ। सन् १९२१ में यहाँ रहनेवाले गोरोंकी संख्या कोई ३३½ हजार ही थी। उत्तर रोडेशियामें जाकर बसनेवाले श्वेतांगोंकी संख्या तो इससे भी कम, लगभग ३½ हजार ही, थी। यहाँ सीसा, जस्ता, और ताम्बेकी खानोंके उद्योगकी प्रधानता थी।

लगभग तीस वर्षतक दक्षिण आफ्रिका कम्पनीके अधिकारोंमें विशेष रूपसे कोई हस्तक्षेप नहीं हुआ और वह अपनी इच्छाके अनुसार रोडेशियाका शासन करती रही। सन् १९२३ में कम्पनीका शासनाधिकार छिन गया। अब उत्तर रोडेशिया तो शाही उपनिवेश (क्राउन कालोनी) बना दिया गया और दक्षिण रोडेशियामें दायित्वपूर्ण शासन स्थापित कर दिया गया।

फी आदमी एक पाउण्डके हिसाबसे जो टैक्स लगाया गया था, उससे कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। वहाँकी श्वेतांग जातियोंको मजदूरोंकी कमीके कारण इस समय भी अनेक कठिनाइयाँ उठानी पड़ती थीं। अब उन्होंने मूल-निवासियोंके बालकोंको फाँसनेका प्रयत्न किया। सन् १९२६ में

"जूव्हेनाइल्स एम्प्लायमेंट ऐक्ट" नामक क़ानून बना, जिसके अनुसार दक्षिण रोडेशियामें रहनेवाली अश्वेतांग जातियोंके बच्चोंको जन्मसे ही शर्त्तबन्दीकी प्रथा द्वारा बाँध लेना सम्भव हो गया। इस क़ानूनके अनुसार चौदह वर्षसे कम उम्रवाले लड़कोंको, काम करनेसे इनकार करने पर, कोड़े लगाना जायज़ ठहरा दिया गया।

अब रोड्ज़का ध्यान बोअर लोगोंके प्रजातन्त्र राज्यों, आरेंज फ्री स्टेट और ट्रांसवाल, की तरफ गया। इनकी स्वतंत्रता तो पहले ही स्वीकार कर ली गयी थी, किन्तु सन् १८८६ में जब ट्रांसवालमें सोनेकी कई खानोंका पता चला, तब शीघ्र ही उनके साथ छेड़छाड़का अवसर उपस्थित हो गया। रोड्ज़की इच्छा थी कि दक्षिण आफ्रिकाके सब राज्यों तथा उपनिवेशोंको मिलाकर एक संघ-राज्यकी स्थापना की जाय। इसीसे उन्होंने रेलोंकी ऐसी योजना तैयार की थी, जिसमें ये सब देश एक दूसरेसे सम्बद्ध हो जायँ। उन्होंने इस बातका भी प्रयत्न किया कि इन सब राज्यों तथा उपनिवेशोंमें एकसी तटकर-व्यवस्था हो। ट्रांसवाल इन दोनों बातोंका विरोधी था। सोनेकी खानोंसे लाभ उठानेके लिए ब्रिटिश पूँजीपतियों और व्यापारियोंको बड़ी संख्यामें आकर बसते देखकर वहाँके बोअर कृषकोंका रोष बढ़ने लगा। वे समझते थे कि यह ज़मीन तो हमारी है, क्योंकि हमने इसे फतह किया है और हम यहाँ पहलेसे आबाद हैं; ये अजनबी हमारे देशकी खानोंसे लाभ उठानेवाले कौन होते हैं। इसी तरह बाहरसे आनेवाले पूँजीपतियों और व्यवसायियोंके मनमें भी असन्तोषकी मात्रा बढ़ रही थी, जिसका कारण यह था कि वे राजनीतिक अधिकारोंसे

वञ्चित रखे गये थे और रेलोंमें ऐसे एकाधिकारोंकी स्थापना कर दी गयी थी जिससे उनके कामकाजमें बाधा पड़ती थी। इसके सिवा बोअर शासक चाहते थे कि देशी मज़दूर कृषि-सम्बन्धी काम ही करें, खानोंका काम न करें। उन्होंने बाहरसे मजदूरोंका बुलाया जाना भी रोक दिया।

ट्रांसवालमें बसे हुए अंग्रेजोंने अपनी दिक्कतोंको दूर कराने के लिए काफी आन्दोलन किया। समाचार-पत्रोंमें लेख लिखे गये, अनेक सभाएँ की गयीं, अर्जियाँ दी गयीं और ट्रांसवालके राष्ट्रपति क्रूज़रके पास प्रतिनिधि-मण्डल भी भेजा गया।

अब खानोंसे सोना निकलवानेवाले ब्रिटिश पूँजीपतियोंने, जिनके अगुआ रोडज़ महाशय ही थे, क्रान्ति कराने और ट्रांसवालकी बोअर सरकारको उलट देनेकी तैयारी की। डाक्टर जेमसन नामक क्रान्तिके एक नेताने उतावलीमें आकर २९ दिसम्बर १८९५ को पाँच सौ आदमी साथ लेकर ट्रांसवाल पर आक्रमण कर दिया। यह प्रयत्न विफल हो गया और सब लोग पकड़ लिये गये। रोड्ज़की बड़ी बदनामी हुई। उन्हें केपकालोनीके प्रधान मंत्रीका पद छोड़ देना पड़ा और पार्लिमेण्ट द्वारा नियुक्त की गयी जाँच-समितिके सामने इज़हार देनेके लिए बाध्य होना पड़ा। इसके सिवा, उन्हें अपने साथियोंके मुकदमेकी पैरवी करानेका खर्च खुद उठाना पड़ा और उनपर किये गये जुर्मानेकी एक बहुत बड़ी रक़म भी अपने पाससे देनी पड़ी।

इस आक्रमणके समाचार पाकर जर्मनी उत्तेजित हो उठा। वहाँके परराष्ट्र-सचिवने ब्रिटिश राजदूतसे साफ साफ कह दिया कि दक्षिण आफ्रिकाकी स्थिति ज्योंकी त्यों बनी रहे, इस

बातपर ज़ोर देना जर्मनी आवश्यक समझता है और यदि ब्रिटिश मंत्रिमण्डल यह समझता हो कि हम अन्य शक्तियोंकी उपेक्षा कर वहाँ मनमानी नीतिका अवलम्बन ग्रहण कर सकते हैं, तो वह निस्सन्देह बड़े भारी भ्रममें पड़ा हुआ है। जब जर्मनीने ट्रांसवालपर अपना संरक्षण स्थापित करनेकी चेष्टा की, तब युद्ध छिड़ जानेकी संभावना प्रतीत होने लगी, किन्तु यूरोपके अन्य राज्योंको ब्रिटेनकी नीतिका विरोध करनेके लिए तैयार न देखकर जर्मनी चुप रह गया।

ज़ेमसनके आक्रमणका एक परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजों और बोअरोंमें आपसका मनोमालिन्य बढ़ गया। ट्रांसवालके बोअर राष्ट्रपतिने अंग्रेज़ोंके साथ अब और भी अधिक सख्तीका व्यवहार करना शुरू कर दिया। ट्रांसवालमें खानोंसे सोना आदि निकलवानेका व्यवसाय करनेवाले ब्रिटिश पूँजीपतियोंने इंग्लैडकी जनताको बोअरोंके ख़िलाफ भड़कानेमें कोई कोशिश बाक़ी न रखी। निदान मताधिकारके प्रश्नको लेकर ब्रिटेन और ट्रांसवालमें झगड़ा खड़ा होगया। ९ अक्टूबर १८९९ को राष्ट्र-पति क्रूगरने ब्रिटेनके पास अन्तिम सूचना भेजी और ४८ घण्टे के भीतर जवाब माँगा। इसमें यह माँग रखी गयी थी कि विवादग्रस्त मामलोंका निपटारा आपसकी पंचायत द्वारा कर लिया जाय और ट्रांसवालकी सीमाके पास जो ब्रिटिश सेना लाकर खड़ी कर दी गयी है, वह वहाँसे हटा ली जाय। ब्रिटे-नने इस सूचनाकी उपेक्षा करनेमें ही अपना गौरव समझा और ११ तारीखको युद्धकी घोषणा कर दी।

बोअर सेनामें लगभग ४० हज़ार मनुष्य थे, किन्तु ब्रिटिश सेनापति लार्ड राबर्ट्सकी अधीनतामें कोई ढाई लाख सेना

थी। फिर भी बोअर सैनिक बड़ी दृढ़तासे लड़े और उन्हें परास्त करनेमें अंग्रेजोंको काफी कठिनाई उठानी पड़ी। राष्ट्रपति क्रूगरको लाचार होकर यूरोप भाग जाना पड़ा, किन्तु उसके चले जानेके बाद भी बोअर सेनाके अनेक उत्साही योद्धा लुक छिप कर ब्रिटिश सैनिकोंपर आक्रमण कर उनके नाकोंदम करते रहे। इनका दमन करनेके लिए अब मिश्रमें ख्याति पाये हुए लार्ड किचनर भेजे गये। अन्तमें चार हजार योद्धाओंके मारे जाने और ४० हजार बन्दी बना लिये जानेके बाद ३१ मई १९०२ को सन्धिपर हस्ताक्षर हुए। बोअरोंने इस शर्त्तपर ब्रिटिश सम्राट्की अधीनता स्वीकार की कि ट्रांसवालके स्कूलों और अदालतोंमें डच भाषाका ही प्राधान्य रहने दिया जाय और दोनों विजित राज्यों (ट्रांसवाल तथा आरेंज फ्री स्टेट) को शीघ्रातिशीघ्र औपनिवेशिक स्वराज्य दे दिया जाय। इसके सिवा सन्धिमें एक शर्त्त यह भी रखी गयी थी कि युद्धके कारण बोअरोंके खेतोंको जो क्षति पहुँची, उसकी पूर्त्तिके लिए ब्रिटेन उन्हें तीस लाख पौण्ड देगा।

अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिसे बोअर-युद्धको एक विशेष महत्त्वपूर्ण घटना समझना चाहिये, क्योंकि उसीके कारण बादमें ब्रिटेनको अपनी परराष्ट्रनीति बदल देनी पड़ी, जिसका अन्तिम परिणाम गत महायुद्धके रूपमें प्रकट हुआ। बोअरोंके प्रति ब्रिटिश साम्राज्यवादियोंने जैसा व्यवहार किया था, उसका समर्थन यूरोपके किसी राष्ट्रने नहीं किया, यहाँतक कि अनेक राष्ट्रोंने ब्रिटिश नीतिके सम्बन्धमें स्पष्ट रूपसे अपनी असम्मति प्रकट की। अभीतक ब्रिटेन यूरोपीय राष्ट्रोंके साथ घनिष्ठता स्थापित करनेकी ज़रा भी परवाह न कर स्वतंत्र रूपसे अपनी नीतिका

अनुसरण किया करता था, किन्तु अब उसने अनुभव किया कि अन्य राष्ट्रोंके साथ गुप्त समझौते या मित्रताकी सन्धियाँ करना आवश्यक है।

जब बोअर-युद्ध जारी था, तब ब्रिटिश जंगी जहाजोंने जर्मनीके तीन पोत पकड़ लिये थे। इस घटनाके कारण जर्मनीमें बड़ा भारी असन्तोष फैल गया और उसने अपना जहाजी बेड़ा बढ़ाकर ब्रिटेनकी टक्करका बनानेका निश्चय किया। इस प्रकार जो प्रतिद्वन्द्विता शुरू हुई, उससे जर्मनी और ब्रिटेनका पारस्परिक मनोमालिन्य बढ़ता ही गया। अन्तमें सन् १९१४ में और भी कई कारणोंके उपस्थित हो जाने पर इन दोनों राष्ट्रों तथा इनके मित्रोंमें युद्ध छिड़ ही गया।

बोअर युद्धकी समाप्तिके बाद भी आर्थिक कठिनाइयाँ दूर नहीं हुईं। कृषिके काममें लगे हुए वहाँके बोअर अधिवासी अब भी यह चाहते थे कि मजदूर कृषिका काम करें, खानोंका नहीं। लार्ड मिलनरने, जो अब ट्रांसवालके गवर्नर नियुक्त हो गये थे, शर्त्तबन्दीकी प्रथाके अनुसार चीनी कुलियोंको बुलानेका निश्चय किया। तीन वर्षतक काम करनेकी जिन शर्त्तोंपर चीनी मजदूर बुलाये गये थे, उनके कारण उनकी अवस्था गुलामोंसे बेहतर नहीं रह गयी थी, अतः इंग्लैण्डके उदार दलवालोंने इस प्रथाका विरोध किया।

जब सन् १९०५ में इंग्लैण्डका शासन-सूत्र लिबरलों (उदारदलवालों) के हाथमें चला गया, तब बोअरोंको स्वायत्त शासन प्रदान करनेका जो वचन पहले दिया गया था उसे पूरा करनेकी फिक्र की जाने लगी। सन् १९०६ में ट्रांसवालको और १९०७ में आरेंज नदीके उपनिवेशको प्रातिनिधिक शासन-प्रणालीके

आधारपर बहुत कुछ अधिकार दे दिये गये। निर्वाचन होने पर इन दोनों देशोंमें बोअरोंके प्रतिनिधि बड़ी संख्यामें चुने गये। कुछ समयके बाद केपकालोनीमें भी उन्हें बहुमत प्राप्त हो गया। अब दक्षिण आफ्रिकाके चारों उपनिवेशोंको एकमें मिला देनेका प्रयत्न किया जाने लगा। ट्रांसवालके बोअर प्रधान मंत्री जनरल बोथा इस सम्बन्धमें खास दिलचस्पी लेते थे। सन् १९०८ में चारों उपनिवेशोंकी ओरसे एक सम्मेलन किया गया जिसमें संघ-शासन-विधानका एक मसौदा तैयार हुआ। ब्रिटिश पार्लिमेण्टकी स्वीकृति मिल जाने पर सन् १९१० में उक्त चारों उपनिवेशोंका संघ स्थापित हो गया और उसका नाम दक्षिण आफ्रिकाका संघराज्य (यूनियन आफ साउथ आफ्रिका) पड़ा।

जनरल बोथा सन् १९१० से १९१९ तक अर्थात् मृत्यु पर्यन्त संघ राज्यके प्रधानमंत्री रहे। उसके बाद जनरल स्मट्सको वह पद मिला। बोअर जातिके इन दोनों नेताओंका खयाल था कि ब्रिटेनके साथ सहयोग करनेमें ही दक्षिण आफ्रिकाकी भलाई है और ब्रिटिश साम्राज्यके संरक्षणमें रहनेसे बोअरोंकी उन्नति अधिक आसानीसे एवं अपेक्षाकृत कम समयमें हो सकती थी। यूरोपीय युद्धके समय बोथाने जर्मन साउथवेस्ट आफ्रिका पर विजय प्राप्त की और स्मट्सने जर्मन ईस्ट आफ्रिकाको ब्रिटिश साम्राज्यमें मिला लेनेके लिए प्रयत्न किया।

जनरल बोथा और जनरल स्मट्सको ब्रिटिश साम्राज्य-वादियोंका पक्ष ग्रहण करते देखकर बहुतसे लोग उनके विरोधी हो गये। शीघ्र ही जनरल हर्टज़ोग नामक बोअर नेताने एक 'राष्ट्रीय दल' की स्थापना की, जिसका मुख्य उद्देश्य

सबसे पहले दक्षिण आफ्रिकाके हितकी ओर ध्यान देना था। सन् १९२४ में इस दलने काफी शक्ति प्राप्त कर ली, यहाँ तक कि मजदूर दलके साथ मिलकर उसने जनरल स्मट्सको प्रधान मंत्रीके पदसे हट जानेके लिए विवश कर दिया।

दक्षिण आफ्रिकामें काले-गोरेका भेद विशेष रूपसे दृष्टिगोचर होता रहा है। वहाँके गोरे चमड़ेवालोंकी संख्या १५-१६ लाख है, पर काले या अन्य रंगवाले ५५ लाखसे कम नहीं हैं। जहाँ श्वेतांगोंके अधिकारमें २३ करोड़ एकड़ ज़मीन है, वहाँ अश्वेतांग जातियोंके क़ब्ज़ेमें मुश्किलसे पौने तीन करोड़ एकड़ ज़मीन निकलेगी। सन् १९१३ के क़ानूनके अनुसार मूल-निवासियोंको, निर्धारित क्षेत्रके बाहर, गोरे चमड़ेवालोंसे ज़मीन खरीदनेकी भी मनाही कर दी गयी है। इसी तरह औद्योगिक क्षेत्रमें भी उनके साथ भेद-भाव किया जाता है।

दक्षिण आफ्रिकाके अन्य देश, जो संघराज्यमें शामिल नहीं हैं, रोडेशिया, बेचुआनालैण्ड, बसूटोलैण्ड तथा स्वाज़ीलैण्ड हैं। इनमेंसे रोडेशियाका उल्लेख हम पहले कर ही चुके हैं। बसूटोलैण्ड एक सुन्दर पहाड़ी देश है जहाँ मुख्यतया काले चमड़ेवाले ही रहते हैं। खनिज द्रव्योंका प्रायः अभाव होनेके कारण यह श्वेतांग जातिके लोगोंकी लूट-खसोटसे बचा रहा। यहांकी सारी ज़मीन मूलनिवासियोंके ही हाथमें है। वे शान्तिपूर्वक अपने खेत जोतते, और पशु-पालनका काम करते हैं। यहाँवाले आस पासके अन्य राज्योंके मूल-निवासियोंकी अपेक्षा अधिक सुखी हैं। इसीसे गत साठ वर्षोंमें उनकी आबादी बढ़कर चौगुनी हो गयी है।

पाँचवाँ अध्याय

सूदान और उत्तरी आफ्रिका

पूर्वी आफ्रिकाके बँटवारेके सम्बन्धमें ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस आदि राष्ट्रोंमें जो संघर्ष शुरू हो गया था, उसका वर्णन हम पिछले अध्यायमें कर चुके हैं। शीघ्र ही ब्रिटेन और फ्रांसके बीच सूदान (मध्य आफ्रिका) में भी इस तरहकी प्रतिद्वन्द्विता दृष्टि-गोचर होने लगी। ब्रिटेनकी इच्छा उत्तरसे दक्षिणतक अपना प्रभुत्व स्थापित करनेकी थी, किन्तु फ्रांस पूरबसे पश्चिमतक अपना राज्य फैलाना चाहता था। अतः सूदानमें, जहाँ दोनों राज्योंकी सीमा मिलनेकी सम्भावना थी, उक्त दोनों राष्ट्रोंमें परस्पर मुठभेड़ होना अनिवार्य था।

सन् १८८२ में ब्रिटेनने मिश्रपर क़ब्ज़ा कर लिया था। फ्रांसके मंत्रिमण्डलने यद्यपि उस समय कोई आपत्ति नहीं की थी, फिर भी उसने ब्रिटनके इस कार्यको निश्चित रूपसे स्वीकार नहीं किया था। चुप रहनेका एक कारण यह भी था कि ब्रिटिश प्रधानमंत्री ग्लैडस्टनने ज़ोर देकर यह बात कही थी कि इंग्लैण्डकी इच्छा मिश्रमें अधिक दिनोंतक ठहरनेकी नहीं है।

सूदानके पूर्वी भाग अर्थात् मिश्री सूदानपर अभीतक किसी यूरोपीय देशका प्रभुत्व स्थापित नहीं हुआ था और अबी-सीनिया भी एक तरहसे स्वतंत्र ही था। इसीसे फ्रांसने ख़याल किया कि उनपर शीघ्र क़ब्ज़ा कर लेनेसे अन्य किसी राष्ट्र द्वारा उसके मनसूबेकी पूर्त्तिमें बाधा उपस्थित किये जानेकी सम्भा-

वना न रह जायगी। अदनकी खाड़ीके पास उसके पैर जम ही चुके थे। सन् १८६२ में एक स्थानीय सरदारसे ओबक नामक नगर ५० हजार फ्रैंकमें खरीद लिया गया था। जब टानकिन युद्धके समय (१८८३ में) अंग्रेजोंने फ्रांसीसी जहाजोंको अद-नमें नहीं घुसने दिया, तब फ्रांसने अपने लिए जिबूती नामक स्थानमें एक नया पोताश्रय बनानेका निश्चय किया। फ्रांसने वहाँसे अबीसीनिया होकर नील नदीतक रेलकी सड़क निका-लनेका भी विचार किया, किन्तु इटलीकी महत्त्वाकांक्षा उसकी इच्छा-पूर्तिमें बाधक थी। इटली अबीसीनियापर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता था। उसने इस सम्बन्धमें जो प्रयत्न किया, उसकी चर्चा हम पृष्ठ १९१ पर कर आये हैं।

जुलाई १८९० में जर्मन ईस्ट आफ्रिकाकी सीमाके सम्बन्ध-में ब्रिटेन और जर्मनीके बीच जो समझौता हुआ था, उससे ब्रिटेनकी केप-काहिरा-रेल सम्बधी प्रस्तावित योजनाको कार्यमें परिणत करनेकी कोई सम्भावना नहीं रह गयी थी, किन्तु चार वर्ष बाद कांगोके शासक बेलजियम-नरेश लिओपोल्डके साथ जो सन्धि हुई, उससे अंग्रेजोंको पुनः स्वकार्य-सिद्धिकी आशा हो गयी। इस सन्धिके अनुसार यह तय हुआ कि कांगो फ्री स्टेटके अधिपतिकी हैसियतसे लिओपोल्डको मिश्री सूडानके दक्षिण-पूर्ववाले भाग बहरेगज़लका पट्टा दे दिया जायगा और वह इसके बदलेमें कांगो फ्री स्टेटकी सीमाके भीतर १५$\frac{1}{2}$ मील चौड़ा एक लम्बा सा टुकड़ा आलबर्ट एडवर्ड झीलके दक्षिणी भागसे टंगान्यिका झीलके उत्तरी भागतक पट्टेके रूपमें ब्रिटेनको न देगा।

इस सन्धिके कारण जर्मनी और फ्रांस, दोनोंने असन्तोष

प्रकट किया। जर्मनीने देखा कि सन् १८९० में उसने जो कोशिश की थी कि कांगो फ्री स्टेट और जर्मन ईस्ट आफ्रिकाके बीच अन्य किसी राष्ट्रका आधिपत्य न होने पावे, वह ब्रिटेन और कांगोके इस नये समझौतेसे व्यर्थ हो जाती है। उसी प्रकार फ्रांस यह देखकर नाराज हुआ कि जिस भूभागपर वह स्वयं क़ब्ज़ा करना चाहता था, उसका पट्टा कांगोको मिल जानेसे उसके लिए केप वर्डसे सोमालीलैण्ड तक अपना राज्य फैलाना मुश्किल हो गया। इन दोनों राष्ट्रोंके विरोधका परिणाम यह हुआ कि ब्रिटेन तथा कांगो फ्री स्टेट दोनोंने एक दूसरेको दिये जानेवाले पट्टोंकी शर्त्तें रद्द कर देनेमें ही अपनी भलाई समझी।

अब फ्रांसने अबीसीनियाके सम्राट् मेनेलेकसे मैत्री स्थापित करनेका प्रयत्न किया। अक्सिआलीकी सन्धिका जो अर्थ इटली ने लगाया था, उससे चिढ़कर मेनेलेकने सन् १८९३ में उसके रद्द किये जानेकी घोषणा कर दी और फ्रांसीसी अफ्सरोंकी सहायतासे अपनी सेनाका संघटन करानेकी ओर विशेष रूपसे ध्यान देना शुरू किया। सन् १८९५ में जब इटलीने अबीसीनियाके एक प्रान्तपर आक्रमण किया, तब फ्रांसकी कृपासे प्राप्त नये तरहकी बन्दूकों तथा अन्य अस्त्रशस्त्रोंसे सुसज्जित नब्बे हजार सैनिकोंको लेकर सम्राट्ने अडोवाकी लड़ाईमें बड़ी दृढ़ताके साथ इटैलियन सेनाका सामना किया और उसे ऐसी गहरी शिकस्त दी कि जिसके कारण इटलीके तत्कालीन प्रधान मंत्री क्रिस्पीको बाध्य होकर पद-त्याग कर देना पड़ा। इस युद्ध में इटलीके छः हजार सैनिक मारे गये और दो हजार सैनिक तथा दो सेनानायक गिरफ्तार कर लिये गये। बीस लाख डालर हरजानेके रूपमें दे कर इटलीने अबीसीनियासे सन्धि

कर ली और वह प्रान्त भी उसे लौटा दिया जिसपर इटैलियन सैनिकोंने क़ब्ज़ा कर लिया था।

इस प्रकार अबीसीनियापर संरक्षण स्थापित करनेका प्रयत्न निष्फल हुआ और उसकी स्वतंत्रता ज्योंकी त्यों बनी रही। महायुद्धके समय वहाँके नवयुवक सम्राट् लिज यासूने ईसाई धर्मका परित्याग कर मुसलिम धर्म ग्रहण कर लिया और तुर्की-के सुलतानको मुसलमानोंका खलीफा मान लिया। इसके बाद वह मित्रराष्ट्रोंके विरुद्ध लड़ाईमें शामिल होनेका विचार करने लगा। इसमें सन्देह नहीं कि यदि वह अपने इस विचारको कार्यमें परिणत करने पाता तो युद्ध समाप्तिके बाद तुर्कीकी तरह उसके साम्राज्यका भी अंग-भंग कर दिया जाता, किन्तु सौभाग्यसे ऐसा नहीं हुआ। राजवंशके अन्य लोगोंने मेनेलेक-की पुत्री राजकुमारी ज़ाओदितोको सम्राज्ञी बना दिया और लिज यासूको युद्धमें गिरफ्तार कर लिया। सन् १९२३में अबी-सीनिया राष्ट्रसंघका सदस्य बना लिया गया।

इधर इटलीके परास्त हो जानेके बाद शीघ्र ही मिश्री सूदान की ओर अग्रसर होनेके लिए फ्रांस तथा ब्रिटेनमें होड़ाहोड़ी शुरू हो गयी। मिश्रमें स्थित ब्रिटिश सेनापति सर हर्बर्ट किच-नरको लन्दनसे आदेश मिला कि मिश्री सूदानमें प्रवेश कर डंगोलापर अधिकार जमा लें। उन्होंने कूच तो कर दिया, पर वे रास्ता तय करनेके साथ साथ रेलकी सड़क भी बनवाते चलते थे जिसमें मिश्रकी सेनासे उनका सम्बन्ध न टूटने पावे। इस कारण उक्त स्थानतक पहुँचनेमें उन्हें बहुत देर होने लगी।

इधर फ्रांसीसी सरकारका आदेश पाकर कप्तान मारचन्द

पहले ही फ्रेंच कांगोसे रवाना हो चुके थे। इनके सिवाय दो और फ्रांसीसी अफसर अबीसीनियाके रास्तेसे भी नील नदीकी ओर चल पड़े थे। इनकी सहायताके लिए सम्राट् मेनेलेक-ने पाँच हजार आदमी अपनी ओरसे साथ कर दिये थे। जङ्गलोंको काटकर रास्ता बनाते हुए, नदी-नालों और दल-दलोंको पार करते हुए तथा भूख-प्यास और ज्वरादि व्याधि-योंका कष्ट उठाते हुए कोई दो वर्षके बाद अर्थात् १० जुलाई १८९८ को मारचन्द तथा उनके साथी नील नदीके तटपर स्थित फैशोदा नामक गाँवमें पहुँचे। तुरन्त ही एक पुराने किलेपर फ्रांसीसी झण्डा फहरा दिया गया और सब लोग खुशी-आनन्द मनानेमें मग्न हो गये।

मारचन्दने बहुत दिनोंतक उन दोनों फ्रांसीसी अफ्सरों-का इन्तज़ार किया जो पूरबकी ओरसे आ रहे थे, किन्तु वे लोग वहाँतक नहीं पहुँच सके। एक दल तो ज्वराक्रान्त हो जानेके कारण आगे न बढ़ सका और दूसरेके लिए नावोंका प्रबन्ध न होनेके कारण नदी-नालोंका पार करना कठिन हो गया। मारचन्दने स्थानीय सरदारसे सन्धि कर ली जिसके फलस्वरूप नील नदीके वाम तटपर फ्रांसका संरक्षण स्थापित हो गया। इधर सर किचनरने २ सितम्बर १८९८ को खारटूम पर कब्ज़ा कर लिया और खलीफाकी सेनाको तितर-बितर कर दिया। सन् १८८६ में यहाँपर ब्रिटिश अफ्सर गोर्डनकी जो हत्या की गयी थी, उसका बदला उन्होंने मेहदीकी समा-धिको नष्ट भ्रष्ट कर लिया। इसी समय मूल-निवासियोंके ज़रिए उन्हें खबर मिली कि फ्रांसीसियोंके एक दलने दक्षिणमें नील नदीके तटपर अधिकार कर लिया है और वहाँ अपना

झण्डा भी गाड़ दिया है। इस पर उन्होंने तुरन्त ही थोड़ी सी सेना लेकर फैशोदाके लिए प्रस्थान कर दिया।

उनके आनेके समाचार पाकर कप्तान मारचन्द् उनसे मिलनेके लिए गये और शिष्ट व्यंगके साथ कहने लगे "मैं अपने देश फ्रांसके नामपर आपका स्वागत करता हूँ।" किचनरने उन्हें आफ्रिकाके बियाबान जङ्गलोंकी यात्रा सफलतापूर्वक पूरी करनेके कारण बधाई दी और कहा कि मैं यहाँपर ब्रिटेन और मिश्रके झण्डे फहराना चाहता हूँ। "किन्तु फ्रांसका तिरङ्गा झण्डा तो यहाँ पहलेसे ही फहरा रहा है"—मारचन्द्ने जवाब दिया। तब किचनरने शिष्टतापूर्वक अपनी बड़ी सेनाकी तरफ फ्रांसीसी कप्तानका ध्यान आकर्षित किया। मारचन्द्ने निर्भीक भावसे उत्तर दिया "मैं अपने किलेके खँडहरके नीचे दबकर गड़ जाना पसन्द करूँगा, पर अपने देशकी सरकारका आदेश पाये बिना तिरङ्गा झण्डा न हटाऊँगा।" किचनरने ख़याल किया कि इस समय ज़बर्दस्ती करनेसे महायुद्ध छिड़ जानेकी सम्भावना है, अतः वे चुप हो गये। उन्होंने मारचन्द्के साहसकी प्रशंसा की और लन्दनसे जवाब आते तक ठहरनेका निश्चय किया। कहते हैं, किचनरकी सेनाके कुछ देशी अफसरोंने आकर मारचन्द्से कहा कि यदि आप स्वीकार करें तो हम धोखा देकर अपने सेनापतिको आपके हाथ पकड़ा देनेको तैयार हैं, किन्तु मारचन्द्ने ऐसा करनेसे इनकार कर दिया।

इस घटनाके कुछ दिन पहले ही फ्रांसके परराष्ट्र-सचिव थीओफिली डेलकासीने ब्रिटिश राष्ट्रदूतको सूचित कर दिया था कि फैशोदामें कप्तान मारचन्द्के साथ किचनरकी भेंट हो जानेकी सम्भावना है। उन्हें आशा थी कि सूदानमें नील नदी-

के वाम तटपर फ्रांसका अधिकार अवश्य मान लिया जायगा, किन्तु ब्रिटेनवाले इसके लिए तैयार न थे। वे समझते थे कि विजयी होनेके नाते ब्रिटेनको ही सूदानपर कब्ज़ा करनेका अधिकार है। इस सम्बन्धमें ब्रिटिश प्रधान मंत्री लार्ड सैलिसबरीने बड़ी दृढ़ता प्रदर्शित की। ब्रिटेनकी जनता भी इस मामलेमें उनके साथ थी। लार्ड रोज़बरीने अपने भाषणमें कहा था "स्पष्ट रूपसे चेतावनी दे देने पर भी कि इस तरहका कार्य शत्रुतासूचक समझा जायगा, जान बूझकर यह किया गया है। सारा राष्ट्र गवर्नमेण्टकी नीतिका समर्थक है। यदि कोई सरकार वर्त्तमान नीतिसे पीछे हटनेका प्रयत्न करेगी, तो वह एक सप्ताह भी न टिक सकेगी।......मैं आशा करता हूँ कि इस मामलेका निपटारा शान्तिपूर्वक हो जायगा, किन्तु यह समझ लेना चाहिये कि मिश्रके अधिकारोंके सम्बन्धमें कोई समझौता नहीं हो सकता।"

परिस्थिति शीघ्र ही जटिल हो गयी और ऐसा प्रतीत होने लगा कि ब्रिटेन तथा फ्रांसमें युद्ध होना अनिवार्य है। फ्रांसने अपने मित्र रूससे यह प्रतिज्ञा करानेकी कोशिश की कि युद्ध छिड़ जाने पर वह फ्रांसकी सहायता करेगा। रूसको टालमटोल करते देखकर डेलकासेने ब्रिटेनकी बात मान लेनेका निश्चय किया। उसने लार्ड सालिसबरीको लिख दिया कि मारचन्दको हम वापस चले आनेका आदेश भेज रहे हैं। तदनुसार मारचन्दको ज़हरका घूँट पीकर फैशोदासे लौट आना पड़ा।

इस प्रकार जब ब्रिटेनकी ज़िद रह गयी, तब उसने फ्रांसकी बात सुनना स्वीकार किया। २१ मार्च १८९९ को दोनों देशोंमें एक समझौता हुआ, जिसके अनुसार कांगो और नील

नदीके प्रान्तोंके बीचकी विभाजक-रेखा उनके प्रभावक्षेत्रोंको पृथक् करनेवाली सीमा मान ली गयी। फ्रांसने इस रेखाके पूर्वकी ओर तथा ब्रिटेनने पश्चिमकी ओर न बढ़नेकी प्रतिज्ञा की। इसके अनुसार समस्त मिश्री सूदानपर, जिसमें बहरे-गज़ल भी शामिल था, अंग्रेजोंका आधिपत्य स्थापित हो गया और फ्रांसको उत्तरी, पश्चिमी तथा मध्य आफ्रिकाके अपने भूभागोंको परस्पर सम्बद्ध करनेकी सुविधा प्राप्त हो गयी।

मिश्री सूदानमें करभार घटाकर तथा यूरोपीय सभ्यताका जबर्दस्ती प्रचार करना छोड़कर और साथ ही मुसलिम धर्मके प्रति आदर प्रकट कर ब्रिटिश अधिकारियोंने वहाँके हबशी तथा अरब निवासियोंकी सहानुभूति प्राप्त कर ली। इसीसे महासमरके समय वहाँ विशेष अशान्ति नहीं होने पायी, केवल सुलतान अलीदिनारने बलवा किया था, जो शीघ्र ही शान्त कर दिया गया।

यद्यपि कहनेके लिए सूदानपर ब्रिटेन और मिश्र दोनोंके सम्मिलित शासनकी घोषणा की गयी थी, फिर भी वस्तुतः वहाँ ब्रिटेनका ही प्राधान्य था। सन् १९१९ में मिश्रको स्वायत्त शासनके कुछ अधिकार दिये गये किन्तु सूदानपर शासन करनेका उसका दावा अस्वीकृत कर दिया गया। इसका एक कारण यह है कि यहाँकी भूमि रुईकी उत्पत्तिके लिए विशेष रूपसे उपयुक्त प्रमाणित हुई। नहरों तथा रेलोंके निर्माणके कारण सन् १९०५ के बाद केवल २० वर्षोंमें यहाँका व्यापार छः गुना और आबादी तिगुनी हो गयी।

अब हम उत्तरी आफ्रिकाके बँटवारेका वर्णन करेंगे। यहाँ मुख्यतया फ्रांस और ब्रिटेनने ही अपना प्रभाव स्थापित कर-

नेकी चेष्टा की, यद्यपि इटली तथा स्पेन भी इस प्रयत्नमें पीछे न रहे। अठारहवीं शताब्दीके पहले उत्तरी आफ्रिकाके देशों-में प्रभुत्व स्थापित करनेके लिए स्पेन तथा तुर्कीमें परस्पर खूब होड़ाहाड़ी हुआ करती थी। अन्तमें अलजीरियाके किनारेके केवल दो ही नगर स्पेनके क़ब्ज़ेमें रह गये। सन् १७९१ में स्पेनने इनका भी परित्याग कर दिया।

उन्नीसवीं शताब्दीमें यहाँ जो मुसलिम राज्य फैले हुए थे, वे बिलकुल कमज़ोर और मरणासन्न अवस्थामें पड़े हुए थे। उनकी भूमि तो उपजाऊ थी, किन्तु न तो उनमें शान्ति और सुव्यवस्था थी और न आत्मरक्षा करनेकी ताक़त। वे यूरोपके साम्राज्यवादी देशोंके चकमेमें आ जाते थे और ऐश-आराममें उड़ानेके लिए उनसे कर्ज़ लेना स्वीकार कर लेते थे, जिससे उनपर ऋणदाता राष्ट्रोंका प्रभाव अनायास ही स्थापित हो जाता था। फ्रांसने सन् १८३० में ही भूमध्य सागरमें लूटमार करने-वाले जलदस्युओंको दण्ड देनेके बहाने अपना बेड़ा भेजकर अलजीयर्स नगरको घेर लिया और उसपर क़ब्ज़ा कर लिया। ऐसा करनेका एक कारण यह भी था कि तीन वर्ष पहले अल-जीयर्सके अरब शासक 'दे' ने फ्रांसीसी राष्ट्रदूतके मुँहपर पंखा फेंककर मार दिया था। इस राष्ट्रीय अपमानका बदला लेनेके लिए फ्रांसने 'दे' को निर्वासित कर नेपिल्ज़ भेज दिया और ब्रिटेनके विरोधकी परवाह न कर उसका राज्य पूरी तौर-से हड़प लिया।

शुरू शुरूमें अलजीरियाके आर्थिक महत्त्वकी ओर ध्यान नहीं गया किन्तु उन्नीसवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें शान्ति और अमन स्थापित हो जाने पर कृषि आदिकी उन्नतिका प्रयत्न

किया जाने लगा। इस समय अलजीरियामें फ्रांसका बहुत काफी माल खपने लगा है और यह उसका एक बहुमूल्य उपनिवेश बन गया है।

अलजीरिया ले चुकनेके बाद फ्रांसका ध्यान समीपवर्त्ती राज्य 'ट्यूनिस' की ओर गया। यहाँका मुसलमान शासक 'बे' कहलाता था, जो कहनेके लिए तो तुर्कीके सुलतानके अधीन था पर था पूरा पूरा स्वेच्छाचारी। समुद्रमें चलनेवाले जहाजोंको लूटनेसे जो आमदनी होती थी, मुख्यतया उसीसे उसका खर्च चलता था, किन्तु जब १८१९ में कई राष्ट्रोंने सम्मिलित रूपसे उसके पास एक पत्र भेजा, जिसमें उससे समुद्री लूटमार बन्द करनेको कहा गया था, तब उसे लाचार होकर उनकी बात मान लेनी पड़ी। परिणाम यह हुआ कि राज्यका खर्च चलाना उसके लिए कठिन हो गया। सेना तथा अन्य विभागोंमें यूरोपीय कर्मचारियोंको नियुक्त करने तथा यूरोपीय ढंगसे उनके संघटनका प्रयत्न करनेसे खर्च और भी बढ़ गया। इधर राज्यकी आन्तरिक अवस्था सुधारनेकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। उन्नीसवीं शताब्दीके तीसरे चरणमें उपजाऊ ज़मीनका केवल दशमांश ही खेतीके काममें लाया गया था, शेष भाग बेकार पड़ा था।

जब आर्थिक स्थिति बहुत खराब हो गयी, तब 'बे' को लाचार होकर यूरोपीय महाजनों और व्यापारियोंसे कर्ज लेना पड़ा। कर्ज़की रक़म तथा उसका सूद, जिसकी तादाद शीघ्र ही बढ़ गयी, अदा करनेके लिए उसे प्रजापर नये नये कर लगाने पड़े। इसके परिणामस्वरूप सर्वसाधारणमें असन्तोष फैल गया और उन्होंने बलवा कर दिया। बलवेका दमन कर-

नेके लिए फिर रुपयेकी आवश्यकता पड़ी। लाचार होकर 'बे' को पुनः ऋण लेना पड़ा। धीरे धीरे उसकी हालत इतनी खराब हो गयी कि उसे सूदकी रकम यथासमय अदा करनेमें कठिनाई होने लगी। यह अवस्था देखकर फ्रांसने बेके खर्चका नियंत्रण करनेके लिए एक समिति बना दी, जिसमें पीछेसे इटली तथा ब्रिटेनके प्रतिनिधि भी शामिल कर लिये गये।

अब ट्यूनिसपर प्रभाव जमानेके लिए फ्रांस, ब्रिटेन, तथा इटलीमें प्रतिद्वन्द्विता होने लगी। फ्रांस-जर्मनीका युद्ध (१८७०-७१) हो जानेके बाद ऐसा प्रतीत होने लगा मानो वहाँ शीघ्र ही ब्रिटेनका संरक्षण स्थापित हो जायगा। रेलकी सड़क निकालने, तार लगाने तथा अन्य कई कामोंका ठेका ब्रिटिश कम्पनियोंको दे दिया गया और ट्यूनिसमें ब्रिटेनका प्रभाव बढ़ने लगा, किन्तु इसी समय बर्लिनकी कांग्रेस (सन् १८७८) में ब्रिटेनकी ओरसे यह घोषणा कर दी गयी कि यदि फ्रांस साईप्रसमें ब्रिटेनके पट्टेकी बात स्वीकार कर ले, तो ब्रिटेन फ्रांसको ट्यूनिसपर अपना संरक्षण स्थापित करनेकी स्वतंत्रता दे सकता है।

कुछ ही दिनोंके बाद ट्यूनिसकी ब्रिटिश रेल कम्पनीने अपनी सम्पत्ति बेचनेकी इच्छा प्रकट की। उसे खरीदनेके लिए फ्रांस और इटली, दोनों ही उत्सुक थे। फ्रांसकी एक कम्पनीने दस लाख फ्रैंक उसके दाम लगाये। इस पर इटलीकी रूबाटिनो कम्पनी २५ लाख फ्रैंक देनेको तैयार हो गयी और अन्तमें उसीके हाथ ४१$\frac{3}{4}$ लाख फ्रैंकपर सौदा तय हुआ। इटलीकी सरकारने इस कम्पनीको छः लाख लीरा (= लगभग तीन लाख रुपये) की वार्षिक सहायता देना स्वीकार किया।

साम्राज्यवादी राष्ट्रोंकी एक विशेषता यह है कि वे अनेक विघ्नबाधाओंके होते हुए भी सहज ही पराजय स्वीकार नहीं करते। इसीसे रेल लाइन खरीदनेमें असमर्थ होकर भी फ्रांसके साम्राज्यवादी निराश नहीं हुए। एक ही महीनेके बाद पेरिसमें यह खबर पहुँची कि अलजीरियाकी सीमापर रहनेवाली ट्यूनिसकी कुछ जातियोंने उपद्रव मचाना शुरू कर दिया है। सीमापर किये गये आक्रमणोंका बहाना लेकर सन् १८८१ में फ्रांसने ३५ हजार सैनिक ट्यूनिसपर चढ़ा दिये और १२ मईको वहाँके शासकसे बार्डोके सन्धिपत्रपर हस्ताक्षर करा लिये। इसके अनुसार फ्रांसको यह अधिकार मिल गया कि वह जिस भूमिपर चाहे उसपर क़ब्जा कर ले और 'बे' ने यह प्रतिज्ञा की कि अन्तर्राष्ट्रीय मामलोंके सम्बन्धमें फ्रांसकी सलाह लिए बिना वह अन्य देशोंसे बातचीत न करेगा। इस प्रकार ट्यूनिसपर भी फ्रांसका संरक्षण स्थापित हो गया।

फ्रांसकी राष्ट्रसभामें मंत्रिमण्डलके इस कार्यकी बड़ी तीव्र आलोचना हुई। प्रधान मंत्री जुलीज़ फेरीने आलोचकोंको उत्तर देते हुए जो बातें कही थीं, उनसे साम्राज्यवादियोंकी तर्क-शैलीका परिचय मिलता है। आपने कहा था "क्या राष्ट्रसभा यह बरदाश्त कर सकती है कि जो भूभाग हमारे लिए इतना महत्त्वपूर्ण है, उसपर किसी अन्य राष्ट्र (उदाहरणार्थ इटली) का क़ब्जा हो जाय ?" आपने यह भी बतलानेकी कृपा की कि पिछले दस वर्षोंके भीतर अलजीरियाकी सीमापर ट्यूनिसीय योद्धाओं द्वारा कोई २३६५ बार आक्रमण हुआ है। अवश्य ही ट्यूनिसके साथ किये गये हस्तक्षेपकी न्यायपूर्णता सिद्ध करनेके लिए यह संख्या काफी बड़ी है।

यद्यपि इस मामलेकी आलोचनाके कारण फेरीको पदत्याग कर देना पड़ा, फिर भी ट्यूनिसके प्रति फ्रांसकी नीति नहीं बदली और उसपर जो संरक्षण स्थापित हुआ था, वह बराबर जारी रहा। इटलीको फ्रांसकी यह कारखाई पसन्द नहीं आयी, क्योंकि वह ट्यूनिसपर स्वयं अधिकार जमाना चाहता था। फ्रांस से बदला लेनेको सामर्थ्य तो उसमें थी नहीं, इसलिए जर्मनी तथा आस्ट्रिया हंगरीके गुटमें शामिल होकर ही उसने सन्तोष कर लिया। सन् १८८७ में उसने जर्मनीसे एक गुप्त सन्धि की जिसके अनुसार यह तय हुआ कि यदि फ्रांस उत्तरी आफ्रिकामें अपना राज्य और आगे बढ़ानेकी चेष्टा करेगा, तो जर्मनी तथा इटली, दोनों मिलकर उसका विरोध करेंगे।

अलजीरिया और ट्यूनिसपर क़ब्ज़ा कर लेने पर भी जब फ्रांसकी भूख शान्त नहीं हुई, तब उसका ध्यान मोरक्कोकी उपजाऊ और स्वास्थ्यप्रद भूमिकी ओर गया। उसे अपने अधिकारमें ले लेनेके लिए अत्यन्त उत्सुक होते हुए भी सन् १९१२ तक फ्रांस ऐसा नहीं कर सका। इसका एक कारण यह था कि इस प्रश्नके सम्बन्धमें स्पेन, फ्रांस, इंग्लैण्ड, जर्मनी आदि राष्ट्रोंमें बड़ा मतभेद था। ये लोग नहीं चाहते थे कि कोई एक राष्ट्र इसे हड़प ले, इसीसे यह काफी समयतक स्वतंत्र बना रहा।

फ्रांसके परराष्ट्र-मंत्री डेलकासेने अपने देशके लिए मोरक्को प्राप्त करनेका संकल्प कर लिया था, अतः उसने इटली आदि राष्ट्रोंको धीरे धीरे मनानेका प्रयत्न शुरू कर दिया। सन् १९०० में इटलीके साथ उसने एक गुप्त समझौता किया, जिसके अनुसार उसने ट्रिपोली और साइरेनाइकामें प्रभुत्व स्थापित करने

का इटलीका हक मान लिया और इटलीने इसके बदलेमें फ्रांसको मोरक्कोमें मनमानी कारखाई करनेकी स्वीकृति दे दी। संभवतः इसी गुप्त समझौतेके कारण आस्ट्रिया और जर्मनीके गुटमें शामिल होते हुए भी इटलीने सन् १९१४ में फ्रांसके विरुद्ध लड़ाईकी घोषणा नहीं की और जर्मनीका पक्ष छोड़कर फ्रांसका साथ देनेका निश्चय किया।

सन् १९०४ में उसने इंग्लैण्डसे भी समझौता कर लिया। फ्रांसने साफ साफ कह दिया कि मोरक्कोपर प्रभुत्व स्थापित करनेका हमारा इरादा नहीं है। उसकी ओर से प्रतिज्ञा की गयी कि जिब्राल्टरके सामने वह कोई किलेबन्दी न करेगा और मोरक्कोके सम्बन्धमें शीघ्र ही स्पेनसे समझौता कर लेगा। इंग्लैण्डको मिश्रमें मनमानी कारखाई करने देने और उसमें कोई बाधा न डालनेका भी वचन उसने दिया। इसके बदलेमें इंग्लैण्डने यह स्वीकार किया कि मोरक्कोमें शान्ति स्थापित करने तथा शासन सम्बन्धी एवं आर्थिक और सैनिक सुधार करनेका अधिकार फ्रांसको है।

फ्रांसने जो यह घोषणा की थी कि वह मोरक्कोपर अपना प्रभुत्व स्थापित नहीं करना चाहता, वह उसकी एक चाल थी। उसकी वास्तविक इच्छाका पता तब लगा, जब उसने स्पेनसे यह गुप्त सन्धि कर ली कि यदि स्पेनके सुलतानका प्रभुत्व उस परसे हट जाय, तो उसका उत्तरी भाग स्पेनका प्रभावक्षेत्र मान लिया जायगा। शेषांश फ्रांसने स्वयं अपने लिए रख छोड़ा।

सुलतान अबदुल अज़ीज़को, जिसने सन् १९०० में केवल सोलह वर्षकी उम्रमें शासन-भार ग्रहण किया था, इन गुप्त समझौतोंकी कुछ भी खबर न थी। उसे धोखेमें डालनेके

लिए फ्रांस तथा स्पेन दोनोंने ही खुले आम यह घोषणा कर दी थी कि "हम लोग सुलतानके आधिपत्यमें स्थापित मूरवंशके साम्राज्यकी अविच्छेद्यताके साथ अपने आपको दृढ़तापूर्वक सम्बद्ध समझते हैं।" ट्यूनिसके 'बे' की तरह उसे भी पेरिसके महाजनोंसे कर्ज़ लेनेके लिए फुसलानेका प्रयत्न किया गया, यहाँ तक कि अन्तमें उसकी स्थिति इतनी खराब हो गयी कि उसके लिये समयपर ब्याज देना भी कठिन हो गया।

साम्राज्यवादी राष्ट्रोंका इतिहास देखनेसे पता चलता है कि जब कोई देश किसी नये भूभागपर क़ब्ज़ा कर लेता है और अपने प्रतिद्वन्द्वियोंको भी किसी अन्य भूभागपर अधिकार कर लेनेका मौका नहीं देता, तब वे लोग उससे चिढ़ जाते हैं और उसके मार्गमें बाधा उपस्थित करते हैं। यही बात मोरक्कोके मामलेमें हुई। फ्रांसने इटली, इंग्लैण्ड तथा स्पेनके साथ तो समझौता कर लिया था, पर जर्मनीकी ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया था। अतः सन् १९०५ में जर्मनीने मोरक्कोकी स्वतंत्रतापर ज़ोर देना शुरू किया। एक जर्मन कूटनीतिज्ञकी सलाह मानकर सुलतानने सुधार सम्बन्धी फ्रांसीसी कार्यक्रमका समर्थन करनेसे इनकार कर दिया। परिस्थिति जटिल होती जा रही थी और ऐसा प्रतीत हो रहा था कि युद्ध होना अनिवार्य है। निदान इस प्रश्नको लेकर डेलकासेने प्रधान मंत्रीके पदसे इस्तीका दे दिया।

अब फ्रांसके नये प्रधान मंत्री रूवियरने जर्मनीकी यह माँग स्वीकार कर ली कि इस मामलेपर विचार करनेके लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन किया जाय। सम्मेलन जनवरीसे अप्रैल (१९०६) तक अलजेसिरसमें होता रहा। इसमें मोरक्कोके अति-

रिक्त अमेरिका तथा ग्यारह यूरोपीय राष्ट्रोंके प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। बहुत वादविवादके पश्चात् ७ अप्रैल १९०६ को जो निश्चय हुआ, उसके अनुसार मोरक्कोकी स्वतंत्रता स्वीकार कर ली गयी। वहाँकी सरकारकी अर्थनीतिका नियंत्रण करनेके लिए एक ऐसा स्टेट बैंक स्थापित करनेका निश्चय किया गया, जिसमें सबसे अधिक पूँजी फ्रांसकी ही रहे तथा जिसके प्रबन्धमें जर्मनी, इंग्लैण्ड और स्पेनका भी हाथ रहे। इसके अतिरिक्त समुद्र-तटवर्ती नगरोंकी रक्षाके लिए आवश्यक पुलिसका संघटन फ्रांसीसी तथा स्पेनिश अफ्सरोंके सिपुर्द किया गया।

अलजेसिरसमें जो निश्चय किया गया था, उसमें एक बड़ा दोष था। उसमें यह नहीं बतलाया गया था कि यदि मोरक्कोमें अशान्ति फैल जावे और यूरोपियनोंकी हत्या होने लगे तो ऐसी अवस्थामें क्या किया जाय। यदि फ्रांस या अन्य कोई देश यूरोपियनोंके जीवनकी रक्षाके उद्देश्यसे वहाँ सेना भेजनेका निश्चय करे, तो उसका यह कार्य सन्धिकी शर्तोंका उल्लंघन करना समझा जायगा। सन्धि होनेके कुछ ही दिनोंके बाद मोरक्कोमें अशान्तिसूचक घटनाएँ होने लगीं। प्रसिद्ध डाकू रायसुलीने सर हेनरी मैकक्लीनको पकड़ लिया और उनके छुटकारेके लिए वह बीस हजार पौंड माँगने लगा। इधर सुलतानके बड़े भाई मुल्ला हफीदने कुछ लोगोंको बटोरकर बलवा कर दिया। उसके असन्तोषका कारण सुलतान द्वारा यूरोपीय देशोंका नियंत्रण स्वीकार किया जाना था। इसके सिवा अटलांटिक समुद्रके किनारे रहनेवाली जातियाँ भी यह अफवाह सुनकर बिगड़ खड़ी हुईं कि एक फ्रैंको-स्पेनिश कंपनी कैसे-

ब्लैंकाके क़ब्रिस्तानमेंसे होकर रेलकी सड़क निकालने जा रही है। उन्होंने नगरपर आक्रमण कर पाँच फ्रांसीसियोंको मार डाला। इसपर फ्रांसने एक लड़ाऊ जहाज़ भेजकर विद्रोहियों तथा निरपराध जनताको गोलोंकी वर्षा कर भून डाला और "शान्ति स्थापित करनेके उद्देश्यसे" तीन हजार सैनिकोंने नगरपर क़ब्ज़ा कर लिया।

इससे असन्तोष और भी बढ़ गया। फ्रांसने मुल्ला हफीदके विरुद्ध सुलतानको प्रायः कोई सहायता नहीं दी। परिणाम यह हुआ कि सुलतानको हटाकर वह स्वयं मोरक्कोका शासक बन बैठा। फ्रांसके दबाव डालने पर उसे भूतपूर्व सुलतानका कर्ज़ अदा करनेके लिए फ्रांससे १० करोड़ फ्रैंकका ऋण लेना पड़ा और कैसेब्लैंकापर क़ब्ज़ा करनेमें जो खर्च पड़ा था तथा जो हानि हुई थी, उसके लिए छः करोड़ फ्रैंककी रक़म हर जानेके रूपमें देना स्वीकार करना पड़ा। इन सब कारणोंसे सुलतानकी आर्थिक स्थिति खराब होने लगी। तट-करसे जो आमदनी होती थी, वह सारीकी सारी विदेशी ऋणका व्याज चुकानेमें खप जाती थी। राज्यका खर्च चलानेके लिए उसे सार्वजनिक करोंमें वृद्धि करनी पड़ी, जिससे सर्वसाधारणमें असन्तोष फैल गया और उन्होंने विद्रोह कर दिया।

बलवाइयोंका दमन करनेके लिए सुलतानने फ्रांससे मदद माँगी। फ्रांसने दस हजार सैनिक भेजकर उन्हें परास्त किया और प्रधान नगर फेज़पर अधिकार कर किया (१९११)। इधर फ्रांसीसी तथा जर्मन पूँजीपतियोंके सहयोगकी जो योजना बनी थी, उसके अनुसार कार्य नहीं किया गया और न उससे जर्मनीको कोई लाभ हुआ। तब जर्मनीने लूटका

उचित हिस्सा पानेके लिए दुबारा माँग पेश की। साथ ही उसने अपना जहाज भेजकर अटलाण्टिक समुद्रके किनारेपर स्थित 'अगाडिर' नामक स्थानपर क़ब्ज़ा कर लिया। इंग्लैण्डने फ्रांसके पक्षका समर्थन किया। निदान फ्रांसके यह प्रतिज्ञा करने पर कि मोरक्कोमें सब देशोंको व्यापार करनेकी समान रूपसे स्वतंत्रता रहेगी और फ्रांसीसी कांगोकी कोई एक लाख वर्गमील भूमि जर्मनीको सौंप दी जायगी, झगड़ा किसी तरह शान्त हुआ, किन्तु वास्तवमें शान्तिका वातावरण अब भी स्थापित न हुआ।

जर्मनीके विरोधसे किसी तरह छुटकारा पाकर फ्रांसने अब खुल्लमखुल्ला मोरक्कोपर अपना प्रभुत्व स्थापित करनेका प्रयत्न शुरू कर दिया। २७ नवम्बर १९१२ की सन्धिके अनुसार उत्तरी भागका लगभग २०० मील लम्बा तथा ६० मील चौड़ा प्रदेश स्पेनका प्रभावक्षेत्र मान लिया गया। इसके सिवा दक्षिणमें भी कुछ भूमि उसे दे दी गयी। शेषांश अर्थात् समस्त मोरक्को देशका ११/१२ भाग फ्रांसके हिस्सेमें पड़ा।

अलजीरियाके अनुभवसे लाभ उठाकर फ्रांसीसी सरकारने मोरक्कोको सीधे सीधे अपने साम्राज्यका अंग नहीं बनाया। सुलतानके हाथमें शासनाधिकार तो रहने दिया गया, किन्तु ३० मार्च १९१२ की सन्धिके अनुसार उसे फ्रांसका संरक्षण स्वीकार करनेको बाध्य होना पड़ा।

मोरक्कोकी वीर जातियोंको फ्रांसका इतना हस्तक्षेप भी पसन्द नहीं आया। उन्होंने जहाँ तहाँ विद्रोह करना शुरू कर दिया। फ्रांसने विद्रोहका दमन कर असन्तुष्ट जनताको अपने अनुकूल बनानेका प्रयत्न किया। मुस्लिम संस्थाओंकी रक्षाका

उपाय किया जाने लगा। अनेक मुस्लिम विद्यालयोंकी स्थापना की गयी और पक्की सड़कें तथा रेलमार्ग निकालनेकी ओर भी ध्यान दिया गया। इन उपायोंका सहारा लेनेके कारण सर्व-साधारणके असन्तोषकी मात्रा बहुत कुछ कम हो गयी और फ्रांसके व्यापारादिको भी विशेष लाभ हुआ।

स्पेनको अपने अधीन भागमें शान्ति स्थापित करने तथा शासनका सन्तोषजनक प्रबन्ध करनेमें उतनी सफलता नहीं मिली, जितनी फ्रांसको मिली। जेबोला प्रान्तकी पहाड़ी जातियोंने, जिनका नेता प्रसिद्ध डाकू सरदार राइसुली था, स्पेनकी अधीनता स्वीकार करनेसे इनकार कर दिया। उन्होंने अपनी छेड़छाड़से स्पेनिश अधिकारियोंके नाकोंदम कर दिया। उनकी हरकतोंके कारण स्पेनको जन-धनकी विशेष हानि उठानी पड़ी।

ऊपर हम कह आये हैं कि सन् १९०० में फ्रांस और इटलीके बीच एक गुप्त समझौता हुआ था, जिसके अनुसार फ्रांसने ट्रिपोली तथा साइरेनाइकामें इटलीके स्वार्थकी बात स्वीकार की थी। एक तो ये स्थान इटलीसे बहुत दूर नहीं थे, दूसरे इनमें अन्य यूरोपियनोंकी अपेक्षा इटैलियन लोगोंकी ही संख्या ज्यादा थी। इसीसे कच्चे माल तथा प्राकृतिक साधनोंके अभाव एवं जनसंख्याकी वृद्धिसे प्रेरित होकर इटलीने इन्हें अपने क़ब्ज़ेमें ले लेनेका निश्चय किया।

ब्रिटेन, जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी आदि राष्ट्रोंकी स्वीकृति प्राप्त कर उसने पहले शान्तिमय उपायोंसे उक्त स्थानोंपर अपना प्रभाव स्थापित करनेका प्रयत्न किया। इटैलियन बैंकों द्वारा वहाँ कई तरहके उद्योग-व्यवसाय चलाने या खेती करा-

नेमें पूँजी लगायी जाने लगी। सन् १९११ में 'अगाडिर' की समस्या उपस्थित होते ही इटलीको ट्रिपोलीमें स्पष्ट रूपसे हस्तक्षेप करनेका मौक़ा मिल गया। उसने तुर्की सरकारसे ट्रिपोली तथा साइरेनाइकाकी अशान्ति और गड़बड़ीकी शिकायत की और यह भी लिखा कि इसके कारण इटलीके व्यापार तथा अन्य स्वार्थोंमें बाधा पड़ती है। इसके बाद उसने ट्रिपोलीपर आक्रमण कर दिया। यह युद्ध सन् १९१३ के बालकन युद्धका आरम्भ होतेतक चलता रहा। इस युद्धमें फँस जानेके कारण तुर्कीने विवश होकर उक्त दोनों प्रान्तोंपर इटलीका क़ब्ज़ा हो जाने दिया।

इटलीने इन प्रान्तोंको एकमें मिलाकर इनका नाम लीबिया रखा। वहाँके लोगोंको सन्तुष्ट करनेके लिए उसने उन्हें इटैलियन लोगोंकी ही तरह नागरिकताके अधिकार दे दिये और यथासम्भव देशी सरदारोंकी ही सहायतासे शासन-कार्य चलानेका निश्चय किया।

लीबियापर अधिकार करनेमें इटलीको लगभग ८० करोड़ रुपये खर्च करने पड़े थे और वहाँके सैनिक व्ययका भार भी वहन करना पड़ता था। वहाँके शासनमें जितना खर्च पड़ता था, उसकी अपेक्षा आमदनी बहुत कम होती थी, अतः यह घटी भी इटलीके ही मत्थे पड़ती थी। इन्हीं सब कारणोंसे सन् १९२४ तक लीबियाके कारण इटलीको कोई ६० करोड़ डालर (लगभग २४० करोड़ रुपये) का घाटा उठाना पड़ा। फिर भी वहाँवालोंको इस बातका अभिमान था कि हमारे अधिकारमें भी इतना बड़ा उपनिवेश है।

अब हम लीबियाके पूर्वमें स्थित मिश्र देश अंग्रेजोंके अधि-

कारमें कैसे आया, इसका वर्णन करेंगे। नैपोलियनके समयसे ही फ्रांसवाले इस देशके मामलोंमें खास दिलचस्पी लेने लगे थे। सन् १८५६ में यहाँके शासक सैयद पाशाने फ्रांस देश-निवासी डीलेसेप्सको स्वेज डमरूमध्यको खोदकर नहर बनानेका ठेका दे दिया था। यह नहर इसमाइल पाशाके शासन-कालमें बनकर तैयार हुई और सन् १८६९ में जहाजोंके आने-जानेके लिए खोल दी गयी। इसी समयसे ब्रिटेन भी यहाँ अपना प्रभाव स्थापित करनेकी चेष्टा करने लगा। इसका कारण और कुछ नहीं भारतको जानेवाले जलमार्गसे स्वेज़ नहरका घनिष्ठ सम्बन्ध ही है।

इसमाइल पाशाका खर्च बहुत बढ़ा हुआ था। १२ वर्षोंके भीतर उसने कोई दो अरब रुपये खर्च किये थे। जब स्वेज़-नहरका उद्घाटन किया गया, तब उसने आस्ट्रियाके सम्राट् तथा यूरोपके अन्य शासकों और प्रसिद्ध व्यक्तियोंका शाही-ठाटबाटके साथ स्वागत किया और अपने मेहमानोंकी सुविधाके लिए काहिरासे पिरामिड (प्राचीन स्तूपों) तक एक खास सड़क बनवायी थी। तुर्कीके सुलतानको अभीतक जो कर दिया जाता था, उसे बढ़ाकर उसने 'पाशा' के स्थानमें 'खदीव' की उपाधि प्राप्त कर ली।

इन सब कामोंके लिए उसे यूरोपीय देशोंसे ऋण लेनेके लिए बाध्य होना पड़ा। सन् १८६५ से १८७३ के बीच इस ऋणकी तादाद लगभग दस करोड़ पौण्ड तक जा पहुँची। इसका अधिकांश फ्रांस तथा इंग्लैण्डसे लिया गया था। प्रजाका कर-भार बढ़ाते रहने पर भी जब काम नहीं चला, तब उसे लाचार होकर स्वेज़ नहरके अपने हिस्से बेच देने पड़े।

भारतको जानेवाले मार्गसे स्वेज़ नहरका घनिष्ठ सम्बन्ध होनेके कारण सन् १८७५ में ब्रिटेनकी ओरसे डिज़रेलीने उन्हें ३६ लाख ८० हजार पौण्डमें खरीद लिया।

इसके बाद भी जब इसमाइल पाशाकी आर्थिक अवस्था सुधरनेके कोई लक्षण नहीं दिखाई दिये, तब एक अन्तर्राष्ट्रीय ऋण कमेटीकी योजना की गयी और इसमाईलने अपनी अर्थनीतिका सुधार करनेमें सहायता देनेके लिए एक फ्रांसीसी तथा एक अंग्रेज मंत्रीकी नियुक्ति करना स्वीकार किया। सन् १८७९ में उसने इन मंत्रियोंको पदच्युत कर दिया और नये सिरेसे मंत्रिमण्डलकी रचना की। यह हालत देखकर विदेशी ऋणदाताओंने चिल्लपों मचाना शुरू किया। उनके दबावमें पड़कर फ्रांस तथा ब्रिटेनकी सरकारोंने इसमाइल पाशाको बहुत समझाया कि वह मिश्रके शासन-भारसे छुट्टी ले ले। जब उसने ऐसा करनेसे इनकार कर दिया, तब उन लोगोंने तुर्कीके सुलतानसे कहकर उसे पदच्युत करा दिया। अब उसकी जगहमें जो नया खदीव नियुक्त हुआ, उसने मिश्रपर पुनः ब्रिटेन और फ्रांसका आर्थिक नियंत्रण स्थापित करना स्वीकार कर लिया। उसे यह भी चेतावनी दी गयी कि यदि मिश्रमें फ्रांस और इंग्लैण्डको छोड़ कर अन्य किसी राष्ट्रका राजनीतिक प्रभाव स्थापित करनेका प्रयत्न किया गया, तो यह ऐसी बात है जो अक्षम्य समझी जायगी। मिश्रपर इन दोनों राष्ट्रोंका संयुक्त नियंत्रण सन् १८७९ से १८८३ तक बराबर क़ायम रहा।

इस बीचमें वहाँ यूरोपियनोंके हस्तक्षेपके विरुद्ध भावोंका प्रचार ज़ोरोंसे होने लगा। सन् १८८२ में राष्ट्रीय आन्दोलनका

नेतृत्त्व एक सैनिक अफसर अहमद अरबीके हाथमें आया। अब "मिश्र मिश्रवासियोंके लिए ही है" की पुकार चारो ओरसे सुनाई देने लगी और ऐसा प्रतीत होने लगा कि अरबी के अनुयायियोंकी शक्ति शीघ्र ही बढ़ जानेकी सम्भावना है। कुछ लोगोंने यह भी कहना शुरू किया कि मिश्रको तुरन्त इस बातकी घोषणा कर देनी चाहिये कि वह विदेशी ऋणकी अदायगीका जिम्मा अपने ऊपर लेनेको तैयार नहीं है। यह देखकर ब्रिटेन तथा फ्रांसने मिश्रवालोंके सामने अपनी शक्तिका प्रदर्शन करनेकी गरजसे मई १८८२ में जहाजोंका एक सम्मिलित बेड़ा भेजनेका निश्चय किया। उन्होंने यह माँग भी पेश की कि मंत्रिमण्डलमें अरबीको जो पद दिया गया है, उससे वे हटा दिये जायँ।

देशकी आन्तरिक बातोंमें विदेशियोंको इस तरह हस्तक्षेप करते देखकर मिश्रके राष्ट्रवादियोंकी क्रोधाग्नि और भी भड़क उठी। नतीजा यह हुआ कि अलेग्जण्ड्रिया नगरमें बलवा हो गया, जिससे कई यूरोपियनोंके प्राण गये। विदेशियोंका सामना करनेके लिए अरबीने एक सेना तैयार की और नगरकी क़िलेबन्दी कराना भी शुरू कर दिया। तब जुलाई १८८२ में ब्रिटिश जहाजोंने गोले बरसा कर अलेग्ज़ैण्ड्रियापर कब्ज़ा कर लिया। इसके बाद शीघ्र ही ब्रिटिश सेनाने मिस्रपर विजय प्राप्त कर ली। फ्रांसने जनताका रुख साम्राज्यवादके विरुद्ध देखकर एवं ब्रिटेनसे झगड़ा हो जानेके भयसे अपने जहाज वापस बुला लिये और मिश्रके प्रति उदासीनताका भाव धारण कर लिया।

इस समय उदार दलके नेता ग्लैडस्टन ब्रिटेनके प्रधान

मंत्री थे। वे साम्राज्यवादके विरोधी थे, किन्तु पार्लिमेण्टके सदस्यों, परराष्ट्र-विभागके कर्मचारियों तथा अनेक अर्थनीतिज्ञोंके दबावके कारण उन्हें अपनी इच्छाके विरुद्ध ब्रिटिश सेनाको मिश्रमें प्रवेश करनेकी आज्ञा देनी पड़ी। साम्राज्यवादियोंकी नीतिके अनुसार परोपकारिता, न्याय तथा कर्त्तव्यकी दोहाई देकर इस कार्यका समर्थन किया जाने लगा। स्वयं ग्लैडस्टनने कहा था कि "हम मिश्रमें सब प्रतिष्ठित अधिकारोंकी रक्षा करना चाहते हैं, चाहे वे अधिकार तुर्कीके सुलतानके या मिस्रके खदीवके हों और चाहे इंग्लैण्डके लोगों या विदेशी ऋणदाताओंके हों।" किन्तु दरअसलमें ये सब ऊपरी बातें थीं।

मिश्रपर ब्रिटिश प्रभुत्व स्थापित होनेके मुख्यतः तीन कारण थे। एक तो आयर्लैण्डके राष्ट्रीय आन्दोलनके मारे ग्लैडस्टन इस समय बहुत परेशान थे, अतः मिश्रके राष्ट्रवादियोंके विरुद्ध काररवाई करनेकी माँग उन्हें शीघ्र ही स्वीकार कर लेनी पड़ी। दूसरा कारण यह था कि इंग्लैण्डके जिन महाजनोंने मिश्रको लगभग तीन करोड़ पौण्डका कर्ज़ दिया था, उनके मनमें मिश्रके राष्ट्रवादियोंके रंग-ढंग देखकर यह शंका उत्पन्न हो गयी थी कि वे लोग कर्ज़ अदा करनेकी जिम्मेदारीसे पीछे हटना चाहते हैं। तीसरा कारण, जिसका सम्बन्ध स्वेज़ नहरसे था, कदाचित् और भी अधिक महत्त्वपूर्ण था। परराष्ट्रविभागके सहायक मंत्री सर चार्ल्स डिल्केने साफ साफ कह दिया था कि "काहिरामें ऐसे दलका प्रभाव स्थापित हो जानेसे, जो हमसे लड़ना चाहता है, भारत तथा पूरबके अन्य देशोंके साथ हमारे गमनागमनका सम्बन्ध अवश्य ही खतरेमें

पड़ जायगा।" इसीसे सन् १८८३ में ब्रिटेनने मिश्रपर अधिकार जमा लिया और उसके लिए ऐसी-शासन व्यवस्था तैयार कर दी जिसके अनुसार खदीव तथा उसकी व्यवस्थापक सभा और प्रतिनिधि-सभापर ब्रिटिश "सलाहकारों" का नियंत्रण स्थापित हो गया, जो काहिरामें स्थित ब्रिटिश राजदूतके आदेशमें चलते थे।*

इसी समय सूदानमें मुहम्मद अहमद नामक एक व्यक्तिने अपनेको "मेहदी" ।(पथ-प्रदर्शक) कहना शुरू किया, जिसका मुख्य काम मुसलिम धर्मका पुनरुद्धार तथा यूरोपियनों और मिश्रियोंको निकाल बाहर करना था। थोड़े ही समयके भीतर उसकी शक्ति इतनी अधिक बढ़ गयी कि मिश्री सूदानमें जो ब्रिटिश सेना पहुँच चुकी थी, उसे ग्लैडस्टनने वापस बुला लेनेका निश्चय किया। इसी उद्देश्यसे गोर्डन वहाँ भेजा गया।

गोर्डनने मेहदीको सूदानके एक भागका सुल्तान मान लिया और यह प्रतिज्ञा की कि शेष भाग भी शीघ्र ही स्वतंत्र कर दिया जायगा। उसने अरबोंको गुलामोंका व्यापार फिर शुरू करनेकी बात भी कही, किन्तु इतना करने पर भी वे लोग प्रसन्न न हुए। उन्होंने गोर्डनको चारो ओरसे घेर लिया। गोर्डनने और सहायता भेजनेके लिए इंग्लैण्डको पुनः पुनः लिखा। बहुत कुछ आगा-पीछा करनेके बाद ग्लैडस्टनने सहायता भेजनेका निश्चय किया, किन्तु देर काफी हो जानेके कारण कोई लाभ नहीं हुआ। २५ जनवरी १८८५ को खार्टूम पर अरबी दरवेशोंका क़ब्ज़ा हो गया और गोर्डन मार डाला गया। इसका बदला किचनरने सन् १८९८ में लिया। (दे० पृ० २१२)

ब्रिटिश संरक्षण स्थापित होनेके बाद मिश्रकी आर्थिक

उन्नतिके लिए कई उपाय किये गये। इनमें कदाचित् सबसे मुख्य आस्वानमें नील नदीके बाँधका बनाया जाना है। इससे किसानोंको सिंचाईके लिए आवश्यक पानी नियमित रूपसे मिलने लगा और उनकी एक बड़ी कठिनाई दूर हो गयी। इसी तरह रेलकी सड़कें निकालने तथा स्कूल खोलनेकी ओर भी विशेष ध्यान दिया गया और सार्वजनिक कामोंमें बेगारसे काम लेना बन्द कर दिया गया।

खेतीकी पैदावार तथा व्यापार बढ़ जानेसे किसानों और मामूली लोगोंकी अवस्था कुछ सुधर गयी किन्तु केवल इतनेसे ही मिश्रवासियोंका सन्तोष नहीं हुआ। उनमें राष्ट्रीयताका जो अङ्कुर जम गया था, वह बराबर बढ़ता ही गया। सन् १९०८ में तुर्कीके आन्दोलनकारियोंकी सफलतासे प्रोत्साहित होकर मिश्रके राष्ट्रवादियोंने स्वतंत्रता-प्राप्तिके लिए जोरोंसे प्रयत्न करना शुरू कर दिया। परिणाम यह हुआ कि वहाँ एक व्यवस्थापक सभा स्थापित कर दी गयी। चुनाव होने पर राष्ट्रीय दलको काफी अच्छी विजय प्राप्त हुई और उसने असेम्बलीमें पहुँचते ही पहला काम यह किया कि स्वेज़ नहर कम्पनीको दी गयी सुविधाओंकी अवधि बढ़ानेसे इनकार कर दिया।

उस समय व्यवस्थापक सभाको वस्तुतः बहुत थोड़े अधिकार ही प्राप्त थे। सन् १९१४ में युद्धका प्रारंभ होते ही विरोधकी आशंकासे उसकी बैठक तबतकके लिए स्थगित कर दी गयी, जबतक निर्वाचनकी अवधि समाप्त न हो जाय। इसके बाद २ नवम्बरको वहाँ फौजी क़ानून जारी कर दिया गया और १७ दिसम्बर (१९१४) को यह घोषणा कर दी गयी कि तुर्कीसे युद्ध छिड़ जानेके कारण मिश्र अब ब्रिटेनका संरक्षित

राज्य माना जायगा। इसके दूसरे ही दिन तत्कालीन खदीव "सम्राट्के दुश्मनों" का अनुयायी होनेके कारण पदच्युत कर दिया गया और उसके स्थानपर उसका चाचा प्रिंस हुसेन कमाल मिश्रका सुलतान बना दिया गया।

यद्यपि मिश्रपर प्रभुत्व स्थापित करते समय ब्रिटिश प्रधान मंत्री ग्लैडस्टनने साफ साफ कह दिया था कि "हम लोग संसारमें और चाहे जो कुछ करें पर मिश्रपर हमेशाके लिए क़ब्ज़ा करनेका हमारा विचार नहीं है," और ३ जनवरी, १८८३ को ब्रिटेनकी ओरसे अन्य राष्ट्रोंको स्पष्ट शब्दोंमें यह सूचना दे दी गयी थी कि ज्यों ही देशकी स्थिति सुधर जाय तथा खदीवके शासनका उचित प्रबन्ध हो जाय, त्यों ही ब्रिटिश सेना हटा ली जायगी, फिर भी अधिक आयुतक जीवित रहने पर भी उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा पूरी नहीं की। ऐसी अवस्थामें मिश्रवासियोंके असन्तोषका बढ़ते जाना स्वाभाविक ही था।

यूरोपीय युद्धके समय राष्ट्रीय आन्दोलनको दबानेका जो प्रयत्न किया गया, उससे राष्ट्रवादियोंकी शक्ति कम होनेके बजाय और बढ़ गयी। युद्ध-समाप्तिके बाद मिश्रके नेताओंने पेरिस सम्मेलनमें अपने देशका मामला उपस्थित करने तथा राष्ट्रपति विलसनकी घोषणाके अनुसार आत्मनिर्णयके अधिकारका दावा पेश करनेके लिए एक प्रतिनिधिमण्डल नियुक्त किया। मिश्रके ये प्रतिनिधि उक्त सम्मेलनमें सम्मिलित नहीं हो सके। ८ मार्च १९१९ को ब्रिटिश पुलिस द्वारा गिरफ्तार किये जाकर ये लोग मालटा द्वीपको भेज दिये गये।

अब असन्तोषकी आग और भी ज़ोरोंसे भड़क उठी। जहाँ तहाँ गोरे सैनिकों और सिविल कर्मचारियोंपर हमले होने लगे,

कई स्थानोंपर रेलकी पटरियाँ उखाड़ डाली गयीं और तार भी काटे गये। दाइरुत स्टेशनपर जेलखानोंके ब्रिटिश इन्स-पेक्टर, दो अफ्सर तथा पाँच अन्य व्यक्तियोंपर आक्रमण कर भीड़ने उन्हें रेलके डब्बेमें ही मार डाला। मिश्रके ब्रिटिश हाई कमिश्नर सर विंगेट इस समय लन्दन गये हुए थे, अतः स्थिति क़ाबूमें लानेके लिए सेनापति लार्ड एलनबी थोड़े समयके लिए हाई कमिश्नर बना दिये गये और उन्हें पेरिससे मिश्रको तुरन्त लौट जानेका आदेश दिया गया। एलनबीने सौम्य नीतिसे काम लिया जिसके परिणाम स्वरूप जगलुलपाशा तथा उनके साथियोंको छुटकारा मिला।

राष्ट्रवादियोंको फुसलानेकी गरजसे वहाँकी स्थितिकी जाँच करनेके लिए लार्ड मिलनरकी अध्यक्षतामें एक कमीशन नियुक्त किया गया। राष्ट्रवादियोंने इसके बहिष्कारकी घोषणा कर दी। कमीशन ७ दिसम्बर १९१९ को काहिरा पहुँचा। सार्वजनिक विरोधका खयाल कर इसके सदस्योंकी रक्षाका प्रबन्ध करना आवश्यक समझा गया। इसीसे ये लोग जहाँ जहाँ जाते थे, वहाँ वहाँ पुलिसका खास इन्तज़ाम रहता था।

जब कमीशन लन्दन वापस लौट गया, तब लार्ड मिलनरने रिपोर्ट तैयार करनेके पहले पेरिस गये हुए मिश्री प्रतिनिधियों-से भी परामर्श कर लेना ठीक समझा। ज़गलुलपाशा तथा सात और प्रतिनिधि जून १९२० में लन्दन पहुँचे। शीघ्र ही उनमें और लार्ड मिलनरमें समझौता हो गया। अँग्रेज़ राजनीतिज्ञोंने समझौतेकी तीव्र आलोचना शुरू की, जिसका परिणाम यह हुआ कि लार्ड मिलनरने पदत्याग कर दिया और जगलुलके साथ जो समझौता हुआ था, उसकी अवहेलना की गयी॥

मिश्रमें असन्तोषकी आग फिर बढ़ गयी। इधर उधर दंगा-फसाद तथा उपद्रव होने लगे। बहुतसे लोग गिरफ्तार किये जाकर जेलमें ठूँस दिये गए और १६० व्यक्तियोंको फाँसीकी सज़ा मिली। परिस्थिति सुधारनेके विचारसे लार्ड एलनबीने एक प्रस्ताव तैयार किया और लन्दन जाकर उसे ब्रिटिश सरकारके सामने पेश कर दिया। उन्होंने यह भी कह दिया कि यदि प्रस्ताव अस्वीकृत किया जायगा तो मैं पद-त्याग कर दूँगा। सौभाग्यसे ब्रिटिश सरकारने प्रस्ताव मान लिया और कुछ शर्त्तोंके साथ मिस्रको स्वाधीनता देना मंजूर किया। आन्तरिक तथा बाह्य रक्षाका विषय और विदेशी नागरिकोंकी रक्षा तथा स्वेज़ नहर सम्बन्धी दायित्व ब्रिटिश सरकारने अपने ही हाथमें रखा। उसने सूदानपर मिश्रका अधिकार स्वीकार नहीं किया और इस बातपर भी ज़ोर दिया कि नयी शासन-व्यवस्था जारी होनेके पहले एक क्षमादानका क़ानून भी बनना चाहिये। इस कानूनका असली उद्देश्य उन अफ्सरोंको दण्डित होनेसे बचाना था, जिन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलनका दमन करते समय कई तरहकी ज़्यादतियाँ की थीं।

निदान १९ अप्रैल १९२३ से नया शासन-विधान जारी हो गया। इसके अनुसार जो नया निर्वाचन हुआ, उसमें जगलुल पाशाके दलकी पूर्ण विजय हुई। कुछ ही समयके बाद जब ब्रिटेनका शासनसूत्र मजदूर दलके हाथमें आया, तब मिश्र-वालोंको यह आशा होने लगी कि संभवतः अब सूदानपर मिश्रका अधिकार मान लिया जायगा, किन्तु उनकी यह आशा व्यर्थ हुई। सरदार सभामें लार्ड पारमूरने साफ साफ कह दिया कि ब्रिटिश सरकार सूदानको नहीं छोड़ना चाहती।

इस प्रश्नको लेकर ब्रिटेन और मिश्रमें तनातनी चल ही रही थी कि १९ नवम्बर १९२४ को सूदानके गवर्नर-जनरल सर ली स्टैकपर किसीने दिन दहाड़े गोली चला दी, जिससे उनका प्राणान्त हो गया। ब्रिटिश सरकारने तुरन्त ही एक पत्र द्वारा मिश्रकी राष्ट्रीय सरकारके सामने कई माँगे पेश कीं और चौबीस घण्टोंके भीतर उनकी पूर्ति करनेको कहा। उक्त माँगों-मेंसे कुछ ये थीं—हत्याके सम्बन्धमें भरपूर माफी माँगी जाय, मामलेकी जाँच पूरी शक्तिके साथ की जाय, राजनीतिक प्रदर्शन रोक दिये जायँ, पाँच लाख पौण्ड हरजाना दिया जाय और सूदानसे मिस्रकी सेना तुरन्त हटा ली जाय।

मिश्रकी सरकारने लाचार होकर ब्रिटेनकी आधीसे अधिक माँगें मंजूर कर लीं, किन्तु इतनेसे उसका सन्तोष न हुआ। ब्रिटिश सैनिकोंने पोर्ट सईद और अलेग्ज़ैण्ड्रिया पहुँच कर चुंगीपर अधिकार कर लिया। अन्य स्थानोंमें भी अंग्रेज़ोंने खूब ऊधम मचाया, किन्तु इस कठिन परिस्थितिमें भी जो नया निर्वाचन हुआ, उसमें राष्ट्रवादी पुनः विजयी हुए।

ब्रिटिश हाई कमिश्नरकी उद्दण्डताके कारण मिश्रकी सरकारने विवश होकर इस बातपर ज़ोर देना शुरू किया कि मिश्रको स्वाधीनता प्रदान करते समय जो चार बातें अंग्रेज़ोंने अपने अधीन रखी थीं, उनके सम्बन्धमें शीघ्र ही अन्तिम निर्णय कर दिया जाय। इसी उद्देश्यसे मिश्रके सम्राट् और मंत्री इंग्लैण्ड गये। सन्धिका जो मसविदा तैयार हुआ, उसे मिश्रने मार्च १९२८ में अस्वीकृत कर दिया। यह प्रश्न अभीतक हल नहीं हुआ है। मिश्रवालोंकी स्वातंत्र्याभिलाषा इतनी बढ़ गयी है कि अब अधिक समयतक इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

मिश्रकी परिस्थितिका ज्ञान कराने तथा यथोचित निर्णय करनेमें ब्रिटिश मंत्रिमण्डलकी सहायता करनेके उद्देश्यसे वहाँके हाई कमिश्नर सर पर्सी लोरेन मार्च १९३३ से लन्दन गये हुए हैं। संभव है, उनके लौटने पर इस मामलेके सम्बन्धमें ब्रिटिश सरकार अपना मत प्रकट करे। जो हो, ब्रिटेनकी वर्त्तमान राष्ट्रीय सरकार जिसमें अनुदारदलवालोंका ही ज़ोर है, मिश्र-की माँग मंजूर कर लेगी, इसमें सन्देह है।

छठाँ अध्याय

तुर्कीका अंगभंग

अब हम एशियामें साम्राज्यवादके प्रसारका वर्णन करेंगे। एशियाके लोग आफ्रिकावालोंकी तरह जंगली और असभ्य नहीं थे, प्रत्युत यह कहना चाहिये कि मानव सभ्यताके विकासमें एशियाने पर्याप्त सहायता पहुँचायी है। इसीसे यहाँके रहनेवालोंके साथ उतनी ज़्यादती नहीं की गयी, जितनी आफ्रिकावालोंके साथ हुई है और यहाँके देशोंको प्रायः सीधे सीधे साम्राज्यमें न मिलाकर अप्रत्यक्ष रूपसे उन पर आर्थिक या व्यापारिक प्रभुत्व स्थापित करनेकी चेष्टा की गयी है।

सोलहवीं शताब्दीसे अठारहवीं शताब्दीतक तुर्कीका साम्राज्य उन्नतिकी पराकाष्ठापर पहुँच चुका था, किन्तु उन्नीसवीं शताब्दीमें शीघ्रतापूर्वक उसका पतन होने लगा।

साम्राज्यवाद

पश्चिमी एशिया

पृ० २३८
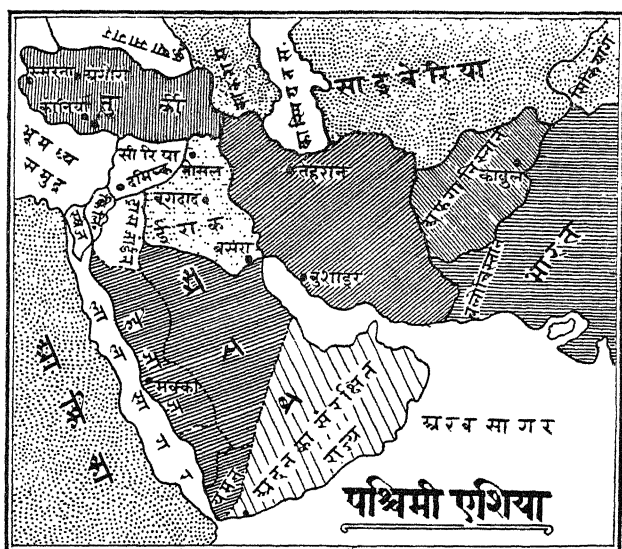
यूरोपमें बालकन राज्य तथा आफ्रिकामें मिश्र और मोरक्को उससे पृथक् होकर स्वतंत्र हो गये। रूसकी आँखें कुस्तुन्तुनिया पर लगी हुई थीं। ब्रिटेनने साइप्रसपर अधिकार कर लिया और फ्रांस सीरियामें अपना प्रभाव बढ़ाता रहा तथा ट्यूनिस-पर भी उसने क़ब्ज़ा कर लिया। इसके सिवा आस्ट्रिया हंगरी-ने भी तुर्कीके बोस्निया-हरज़ेगोविना प्रान्तोंपर अधिकार जमा लिया

जर्मनीके राजसिंहासनपर द्वितीय विलियम (कैसर) के आरूढ़ हो जानेके बाद निकट पूर्व (तुर्की आदि) का प्रश्न विशेष महत्त्वपूर्ण हो गया। जर्मनीने साम्राज्यवादकी नीति अख्तियार करनेमें कुछ देरी कर दी थी, जिसके कारण आफ्रिकाके बँटवारेमें उसे पर्याप्त हिस्सा नहीं मिल सका, अतः इसके बदले में उसने सुदूर पूर्वमें अपना प्रभाव बढ़ानेका निश्चय किया। कैसरने तुर्कीके सुलतान अब्दुल हमीदसे दो बार भेंट की, एक बार सन् १८८९ में और दूसरी बार १८९८ में। इसके परिणाम स्वरूप तुर्कीमें जर्मन पूँजीसे रेलोंकी सड़क बनानेका निश्चय हुआ। सन् १८८८ में जर्मन बैंकोंकी पूँजीसे रेलकी एक सड़क कुस्तुन्तुनियासे अंगोरातक बनायी गयी थी। सुलतानकी इच्छा थी कि जर्मन पूँजीपतियोंकी सहायतासे यह लाइन बग़दादतक बढ़ा दी जाय, किन्तु फ्रांस, ब्रिटेन तथा रूस इस योजनाके विरोधी थे। उनकी इच्छाके अनुसार प्रस्तावित रेल-मार्गमें कई परिवर्त्तन करने पड़े और ठेकेकी शर्त्तोंपर ५ मार्च १९०३ तक हस्ताक्षर नहीं हो सके। योजनाके अनुसार रेलकी सड़क लघु एशियाके भीतरसे कोनिया, अदाना, नेसीबिन और मोसल होते हुए बग़दादतक और उसके बाद ईरानकी

खाड़ीपर स्थित बसरातक ले जानेका विचार था। २४०० माल रेलकी यह सड़क बनानेका ठेका जर्मन पूँजीसे स्थापित कम्पनीको दिया गया। शर्त्तोंके अनुसार निश्चित हुआ कि यह तुर्की सरकारके हाथ बंधक रहेगी। फी मील सड़कके लिए पौने तीन लाख फ्रैंकके हिसाबसे ऋणपत्र निकाले जायँगे, जो यूरोपियनोंके हाथ बेचे जा सकेंगे। यह भी तय हुआ कि तुर्की-की सरकार रेलकी आमदनीका जिम्मा अपने ऊपर लेगी और लाइन निकालनेके लिए आवश्यक ज़मीन मुफ़्त देगी। उसने यह भी स्वीकार किया कि रेलकी सड़कके दोनों तरफ कोई १३ मील तककी सीमाके भीतर निकलनेवाली खानोंसे लाभ उठानेका अधिकार भी उक्त कम्पनीको होगा।

तुर्कीकी सरकारने रेलवे लाइन बनानेकी यह रियायत किसी तरहके दबावमें पड़कर नहीं दी थी, बरन् इस आशासे दी थी कि उसके कारण देशको विशेष लाभ होगा। सुलतान अब्दुल हमीदने खयाल किया कि रेलकी सड़क तैयार हो जाने पर एशियाई तुर्कीकी उन्नतिमें सहायता मिलनेकी विशेष संभावना है, जिससे सरकारी आमदनी भी बढ़ जायगी। सुलतान यह भी खूब समझता था कि उसके कारण सुदूर प्रान्तोंमें क़ानून और अमनकी रक्षाके लिए आवश्यक सेना भेजनेमें सुभीता होगा और ठेकेकी शर्त्तोंके अनुसार ९९ वर्षके बाद वह तुर्कीके क़ब्ज़ेमें आ जायगी।

जर्मन लोगोंने इस बातकी कोशिश की कि फ्रांस और ब्रिटेनके पूँजीपति भी इस काममें उनका हाथ बँटावें। तदनुसार यह निश्चय हुआ कि कम्पनीके समस्त हिस्सोंमेंसे २५ प्रति शत जर्मनोंको तथा पच्चीस पच्चीस प्रति शत ब्रिटिश एवं फ्रांसीसी

पूजीपतियोंको बाँट दिये जायँ। इसी प्रकार सञ्चालकमण्डलमें भी इन दोनों देशोंको जर्मनीके बराबर ही स्थान देनेकी बात तय हुई। किन्तु बादमें न जाने क्या सोचकर उक्त देशोंने इस सुअवसरसे लाभ उठाना अस्वीकार कर दिया। संभव है, ब्रिटेन को इस बातका भय हुआ हो कि इस रेलवे लाइनके कारण स्वेज नहरपर उसके आधिपत्यको धक्का पहुँच सकता है, यहाँ-तक कि अन्तमें उससे भारतमें ब्रिटिश शासनके लिए भी खतरा उपस्थित हो सकता है। फ्रांसके इनकार करनेका क्या कारण था, कहना कठिन है। पहले तो फ्रांसीसी पूँजीपतियोंने बग़दाद रेल कम्पनीके ३० प्रति शत हिस्से खरीद लिये थे, किन्तु सन् १९०३ में फ्रांसकी सरकारका रुख बदल गया। कौन जाने, इसका कारण फ्रांसका यह भय हो कि तुर्कीमें जर्मनोंका अधिक प्रवेश हो जानेसे सीरियामें फ्रांसीसी पाद-रियों तथा व्यापारियोंका प्रभाव कम हो जायगा। यह भी हो सकता है कि रूसके कहनेमें आकर ही उसने अपनी नीति बदली हो। जो हो, इस समय इन देशोंने प्रकट रूपसे उक्त योजनाका विरोध नहीं किया।

रूसको बग़दाद रेलवेके सम्बन्धमें कदाचित् सबसे अधिक आपत्ति थी। कुस्तुन्तुनिया तथा अर्मेनियापर उसके दाँत बहुत पहलेसे लगे हुए थे और यह निश्चित था कि जर्मनीकी इस रेल-योजनाके सफल हो जाने पर तुर्कीसे उन स्थानोंको छीनना अत्यन्त कठिन हो जायगा। तात्पर्य यह है कि उक्त योजना रूसके साम्राज्यवादके लिए बाधक थी, अतः उसके लिए उस-का विरोध करना स्वाभाविक था।

बग़दाद रेलवेके पीछे जर्मन साम्राज्यवादियोंका कौनसा

उद्देश्य छिपा हुआ था, यह स्प्रेंजरके इन शब्दोंसे स्पष्ट है "यहाँ ऐसे जंगल नहीं हैं जहाँ अन्य लोगोंने अभीतक प्रवेश न किया हो और जिन्हें काटना आवश्यक हो, और न यहाँ आपको प्राकृतिक कठिनाइयोंका ही सामना करना है। आपको तो सिर्फ ज़मीन जोतकर बीज बोना और फसल काटना है। संसारमें 'निकटपूर्व' ही एक ऐसा भूभाग है, जिसपर अभीतक किसी बड़े राष्ट्रने क़ब्ज़ा नहीं किया है। फिर भी उपनिवेश बसानेके लिए वह सबसे उपयुक्त भूमि है। यदि जर्मनी इस मौक़ेको हाथसे न जाने दे और रूसके उस ओर अग्रसर होनेके पहले ही इससे लाभ उठानेका प्रयत्न करे, तो संसारके बँटवारेमें उसे सर्वोत्तम स्थान प्राप्त हो सकता है।" एक महाशयने अपने जर्मन भाइयोंका ध्यान आकर्षित करते हुए लिखा था कि "अकेला ईराक ही समस्त जर्मनीके लिए आवश्यक गेहूँ तथा रुईकी पूर्त्ति कर सकता है।" कुछ लोगोंने यह भी कहा कि तुर्कीमें लोहे, ताँबे, कोयले आदिकी अनेक खानोंके पाये जानेकी संभावना है। तात्पर्य यह है कि इन सबके मूलमें साम्राज्यवादका भाव ही मुख्य रूपसे विद्यमान था।

रेलवे लाइनका प्रथम भाग तो १९०४ तक पूरा हो गया, किन्तु दूसरा भाग तैयार करनेके लिए, पहाड़ी मार्ग होनेके कारण, अधिक रुपयेकी ज़रूरत थी। फ्रांस तथा इंग्लैण्डसे तो कोई मदद मिलनेकी आशा ही न थी, साथ ही तुर्की सरकार भी इस समय आर्थिक कठिनाईमें पड़ी हुई थी। निदान जून १९०८ तक रेलका काम आगे बढ़ानेका प्रबन्ध किया गया, किन्तु इसी समय नवयुवक तुर्कोंकी क्रान्ति शुरू हो गयी।

जब नवयुवकसंघने सुलतान अब्दुल हमीद्को गद्दीसे उतार दिया, तब जर्मनीको विशेष चिन्ता हुई, क्योंकि तुर्कीके नवयुवक जर्मनीके विरोधी थे। इसी समय जर्मनीकी सम्मति एवं सहायतासे आस्ट्रिया हंगरीने तुर्कीके दो प्रान्तों, बोस्निया और हर्ज़ेगोविनाको स्पष्ट रूपसे अपने राज्यमें मिला लिया, जिससे तुर्की नवयुवक-समाजमें उसके विरुद्ध और भी अधिक असन्तोष फैल गया। नवयुवकोंमें उत्साह तो खूब था, किन्तु न तो उन्हें शासन सम्बन्धी बातोंका तजुर्बा था और न वे यूरोपीय देशोंकी कूटनीतिक चालोंसे ही परिचित थे। परिणाम यह हुआ कि अनेक विघ्न-बाधाओंके सामने खड़े रहना उनके लिए कठिन हो गया। सन् १९०९ में अब्दुल हमीद पुनः अपने भाईकी सहायतासे सिंहासनारूढ़ हो गया।

सन् १९११ में इटलीने तुर्कीके विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी और उसके त्रिपोली प्रान्त तथा ईजियन समुद्रके द्वीपोंपर क़ब्ज़ा कर लिया। सन् १९१२ में बलगेरिया, ग्रीस, सर्विया तथा मांटीनिग्रो, इन चार बालकन राष्ट्रोंने रूसके बहकानेसे तुर्कीपर आक्रमण कर दिया। बालकन युद्धका परिणाम यह हुआ कि तुर्कीका पश्चिमी भाग भी उसके हाथसे निकल गया। यूरोपकी ओर तुर्कीके पास केवल वह भाग शेष रह गया, जो कुस्तुन्तुनिया और एड्रियानोपलके बीचमें है।

जर्मनीने अब बग़दाद् रेलवेके सम्बन्धमें रूस आदि देशोंसे समझौता करनेका प्रयत्न किया। रूसने इस शर्त्तपर जर्मनीकी योजनाका विरोध न करना स्वीकार किया कि जर्मनी ईरानके उत्तर-पश्चिम भागको रूसका प्रभाव-क्षेत्र मान ले। फ्रांसके साथ फरवरी १९१४ में जो समझौता हुआ, उसके

अनुसार जर्मनीके ड्यूश बैंकने बग़दाद रेलवेके फ्रांसीसी हिस्से खरीद लिये और इसके बदलेमें जर्मनीने सीरिया तथा अनाटोलियामें रेल निकालनेका फ्रांसका अधिकार मान लिया। इसी प्रकार जुलाई १९१४ में ब्रिटेनके साथ भी एक गुप्त समझौता हुआ। इसके अनुसार यह तय हुआ कि रेलवे लाइन बसरामें समाप्त कर दी जायगी और ईराकमें तेल निकालनेका ठेका एक ऐसी कम्पनीको दिया जायगा, जिसमें प्रधानतया ब्रिटेनकी ही पूँजी लगी हो। इस समझौतेपर अन्तिम हस्ताक्षर नहीं होने पाये थे कि युद्ध शुरू हो गया।

इन समझौतोंसे स्पष्ट हो गया कि यूरोपके साम्राज्यवादी राष्ट्रोंने आपसमें एशियाई तुर्कीका बँटवारा करनेकी बात पक्की कर ली थी और यदि उन्हें काफी अवसर मिला होता तो वे अभीष्ट-सिद्धिके प्रयत्नमें कोई बात उठा न रखते। जो हो, युद्ध शुरू हो जानेके बाद भी इस सम्बन्धमें साम्राज्यवादी राज्योंके हथकण्डे जारी रहे। मित्र-राष्ट्रोंने आपसमें गुप्त समझौता कर निकट पूर्वकी लूटमें हिस्सा बँटानेकी दूसरी योजना स्वीकृत की।

रूसके साथ यह समझौता हुआ था कि वह कुस्तुन्तुनिया, दरेदानियल, बास्फोरस तथा निकटवर्त्ती प्रदेशपर अपना अधिकार जमा सकता है, किन्तु युद्ध समाप्त होनेके पहले ही वहाँ राज्यक्रान्ति हो जानेके कारण यह समझौता कार्यमें परिणत नहीं किया जा सका। फिर भी तुर्कीको कमज़ोर बनानेका जो प्रयत्न यूरोपके देश शुरूसे करते आ रहे थे, उसके परिणामस्वरूप अरब, सीरिया आदि देश उससे पृथक् होने-की चेष्टा करने लगे। १९१५ में अंग्रेजी हवाई जहाजोंने हजारों इश्तिहार अरबिस्तानमें गिराये थे। इनमें कहा गया था कि

लड़ाई खत्म हो जानेपर जो सन्धि होगी, उसमें एक शर्त्त यह भी रखी जायगी कि अरबिस्तान और उसके पवित्र स्थान पूर्ण रूपसे स्वतंत्र कर दिये जायँ। वहाँके शासक हुसेनसे कहा गया कि अरब, सीरिया, ईराक आदि देश तुम्हारे अधीन कर दिये जायँगे, तुम एक स्वतंत्र राष्ट्रके अधिपति बन जाओगे और यदि तुम तुर्कीके विरुद्ध लड़ाई छेड़ दोगे, तो ब्रिटिश सरकार भी तुम्हारी सहायता करेगी। इस प्रलोभनमें पड़कर हुसेनने तुर्कीके विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी और स्वयं अरबका सम्राट बन गया।

इधर ईराक़ और सीरियामें भी ब्रिटेनने अपनी सेनाएँ भेजना शुरू कर दिया। मार्च १९१७ में बग़दादपर कब्ज़ा कर अंग्रेज सेनापतिने जो सूचना निकाली थी, उससे साम्राज्यवादियोंकी कूटनीतिका अच्छा परिचय मिलता है। उसमें कहा गया था कि "बग़दाद-निवासियो, आप यह मत समझ लेना कि अंग्रेज लोग जबरदस्ती आपके यहाँ अपनी संस्थाएँ स्थापित करेंगे। अंग्रेज सरकारकी अभिलाषा है कि आपके कवि और दार्शनिकोंका सम्मान बना रहे और फिर आप सम्पन्न और स्वस्थ बनें। आप लोगोंके हितके लिए ऐसी संस्थाएँ जारी की जावेंगी जो आपके धर्म और क़ानूनके अनुकूल होंगी। अंग्रेज सरकार और उसके मित्र यह चाहते हैं कि अरबी राष्ट्र फिर उन्नत और सबल हो और संसारकी सभ्य जातियोंके सामने अपना मस्तक ऊँचा कर सके। आपको अंग्रेज प्रतिनिधियोंके साथ सहयोग करना चाहिये और अरब देशोंके साथ मित्रता स्थापित करनी चाहिये।"*

* चाँद, सितम्बर १९३२ (पृ० ४९८)

महायुद्धकी समाप्ति पर पेरिसमें जो सम्मेलन हुआ, उसमें तुर्कीके बँटवारेके सम्बन्धमें मतभेद हो गया। मित्र-राष्ट्रोंने तुर्कीके अरब आदि प्रान्तोंपर पूर्ण रूपसे कब्जा तो कर लिया था, पर आर्थिक कठिनाइयोंके कारण वे शीघ्र ही वहाँका बढ़ा हुआ सैनिक व्यय घटाना चाहते थे, अतः उन्होंने सैनिक प्रभुत्व क़ायम रखनेके कार्यमें ग्रीससे सहायता लेनेका निश्चय किया। ग्रीसने दरेदानियलके जल विभाजकपर क़ब्ज़ा करनेमें मित्र-राष्ट्रोंकी सहायता की थी और अब वह स्मरनापर आक्रमण करना चाहता था। ब्रिटेन तथा इटलीके प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष समर्थनसे ग्रीसकी हिम्मत बढ़ गयी और उसने शीघ्र ही स्मरना पर अधिकार जमा लिया। इसके बाद वह उन भागोंपर भी क़ब्ज़ा करने लगा जिनमें ग्रीक लोगोंकी आबादी न थी, किन्तु इसी समय देशभक्त कमालपाशाकी राष्ट्रीय सेनाने दृढ़तापूर्वक सामना कर उसकी गति रोक दी।

इस वीचमें तुर्कीके बँटवारेके सम्बन्धमें विजयी राष्ट्रोंने परस्पर सलाह कर शर्तें तय कर ली थीं। जब ये शर्तें कुस्तुन्तुनियाकी सरकारके प्रतिनिधियोंके सामने पेश की गयीं, तो उन्होंने इनका विरोध किया, किन्तु उनके विरोधकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। निदान १० अगस्त १९२० को सेवरमें सन्धि-पत्रपर हस्ताक्षर होगये। इसके अनुसार सीरिया (शाम देश), फिलिस्तीन, ईराक आदि प्रान्तोंको ब्रिटेन और फ्रांस द्वारा आपसमें बाँट लिये जानेका निश्चय हुआ और यह भी तय हुआ कि थ्रेसका पूर्वी हिस्सा ग्रीसको सौंप दिया जाय तथा स्मरना-के आसपासके भूभागका शासन-प्रबन्ध भी पाँच वर्षतक उसीके हाथमें रहे, जिसके बाद राष्ट्रमतके आधारपर उसके

भविष्यका निर्णय किया जाय। इसके अतिरिक्त सन्धिमें एक शर्त यह भी रखी गयी थी कि तुर्कीके उत्तर-पूर्वका भाग अर्मीनियाके नामसे एक स्वतंत्र राज्य बना दिया जायगा।

यद्यपि कुस्तुनतुनियाकी सरकारने इस सन्धि-पत्रपर हस्ताक्षर कर दिये थे, फिर भी तुर्कीके राष्ट्रवादियोंने उसे माननेसे साफ इनकार कर दिया। जिस दिन सन्धि हुई थी, उस दिन सारे देशमें हड़ताल की गयी। आमोद-प्रमोद बन्द हो गया और तमाम दिन देशोद्धारके निमित्त ईश्वरसे प्रार्थना की गयी। इधर ग्रीक सैनिकोंको आगे बढ़ते देखकर कमाल पाशाने चारों ओर घूम घूम कर नवयुवकोंको देश-सेवाके लिए आमंत्रित किया। उसका यह प्रयत्न निष्फल नहीं गया। उसके नेतृत्वमें शीघ्र ही देशभक्त युवकोंकी सेनाने स्मरनासे ग्रीकोंको मार भगाया और सिलीशिया (सीरियाके उत्तर) से फ्रांसीसियोंको भी निकाल बाहर किया। इसके सिवा उसने पूर्वी थ्रेसपर भी पुनः अधिकार कर लिया और अर्मीनियाको भी फिरसे जीत लिया। अब अंगोरा नगर तुर्कीकी राजधानी बना दिया गया और प्रजातंत्रकी घोषणा कर दी गयी।

राष्ट्रीय तुर्कीका यह रुख देखकर विजेताओंको उसके साथ दूसरी सन्धि करनेकी आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इसी उद्देश्यसे सन् १९२२-२३ में लोसानमें एक सम्मेलन किया गया। इसमें कमालपाशाने अपने सहायक इस्मतपाशाको तुर्कीका प्रतिनिधि बनाकर भेजा। तुर्कीके आर्थिक संघटनमें अमेरिकाकी सहायता लेनेका निश्चय कर कमालपाशाने विजेताओंकी लोभवृत्ति जगा दी। उसने सोवियट रूससे भी सम्बन्ध स्थापित कर लिया और उन अफगान-नरेश श्री

अमानुल्लाखाँका धूम-धामसे स्वागत किया जो ब्रिटेनके विरोधी समझे जाते थे। इस सबका परिणाम यह हुआ कि मित्र-राष्ट्रोंमें परस्पर ईर्ष्या पैदा हो गयी और वे इस उद्देश्यसे तुर्कीकी नयी सरकारका सद्भाव प्राप्त करनेके लिए होड़ा-होड़ी करने लगे कि ऐसा करनेसे शायद हमें भी किसी तरहका आर्थिक लाभ उठानेका मौक़ा मिल सके। जो हो, कमाल-पाशाकी दृढ़ताके सामने विजेताओंको बहुत कुछ झुकना पड़ा और उसकी कई माँगे प्रायः ज्योंकी त्यों स्वीकार कर ली गयीं।

सन्धिकी शर्त्तोंके अनुसार कुस्तुन्तुनियापर पुनः तुर्कीका अधिकार हो गया और स्मरना, पूर्वी थ्रेस, सिलीशिया तथा आर्मीनिया भी तुर्कीके अधीन रहने दिये गये। जल-विभाजकों-पर अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार क़ायम रहा, किन्तु उसमें कुछ शर्त्तें लगा दी गयीं। मित्र-राष्ट्रोंने जिन आर्थिक तथा अन्य बन्धनोंसे तुर्कीको जकड़ दिया था, वे सब हटा लिये गये। साथ ही यूरोपके साम्राज्यवादी राज्योंको कुछ न मिला हो, ऐसी बात नहीं है। ईराक, फिलिस्तीन, सीरिया, अरेबिया आदि देश तुर्कीसे अलग कर दिये गये और उनका शासनादेश यूरोपीय राष्ट्रोंको दे दिया गया।

अब यह देखना चाहिए कि युद्ध-समाप्तिके बाद बग़दाद रेलवेका क्या हुआ। सन्धिकी शर्त्तोंके अनुसार इस रेल लाइन परसे जर्मनीका अधिकार छीन लिया गया। उसका वह अंश जो सीरियामें पड़ता था, फ्रांसीसी कम्पनीको और ईराकवाला भाग ब्रिटिश कम्पनीको दे दिया गया। तुर्की प्रजातंत्रके भीतर जितना हिस्सा पड़ता था, वह मुस्तफा कमालपाशाकी सर-कारके अधीन हो गया। इस प्रकार ब्रिटेनकी इच्छा पूरी हुई

और बग़दाद रेलवेके कारण उसके पूर्वी साम्राज्यके लिए जो ख़तरा उत्पन्न हो गया था, वह दूर हो गया।

जर्मनीके हट जानेसे रास्ता साफ हुए अभी अधिक समय नहीं बीतने पाया था कि अमेरिकाके रूपमें एक और नयी बाधा आ खड़ी हुई। यूरोपीय राष्ट्रोंका शत्रुतापूर्ण व्यवहार देखकर कमालपाशाने सन् १९२३ में चेस्टर कम्पनी नामक एक तुर्की-अमेरिकन कम्पनीको रेल सम्बन्धी ठेका देनेका निश्चय किया। इस रेल लाइन द्वारा अंगोराका सम्बन्ध कृष्ण सागर, भूमध्य सागर, तथा मोसल होकर ईराक़के साथ स्थापित करनेका विचार था। यह मोसलवाली शर्त्त ब्रिटिश हितके लिए बाधक थी।

मोसल होकर जानेवाली रेलकी इस शाखासे एक नयी कम्पनीको सड़कके दोनों ओर बीस बीस मील तक प्राप्त होनेवाले खनिज द्रव्योंसे लाभ उठानेका हक मिल जाता था, किन्तु मोसलकी खानोंसे तेल निकालनेका अधिकार सन् १९१४ में जर्मनी, ब्रिटेन तथा तुर्कीके बीच की गयी सन्धिके अनुसार तुर्की तैल कम्पनीको, जिसमें अधिकतर हिस्से ब्रिटेनके ही थे, दिया जा चुका था। यह कम्पनी समझौतेकी उक्त शर्त्तोंका परित्याग करनेको तैयार नहीं थी। अमेरिकाने ब्रिटेनको दी गयी रियायतकी बात माननेसे इनकार कर दिया और ब्रिटेनने भी चेस्टर कम्पनीको दी जानेवाली सुविधाका विरोध किया।

इस गत्यवरोधको दूर करनेके लिए अब एक चाल चली गयी। ब्रिटेनने ख़याल किया कि यदि किसी तरह मोसल भी उसके अधीन हो जाय तो फिर ठेकेकी शर्त्तोंमें उसे शामिल

करनेका कोई हक़ तुर्कोंको न रह जायगा। इसीसे उसने इस बातपर ज़ोर देना शुरू किया कि मोसल तो ईराक़का ही एक भाग है, जिसका शासनादेश उसे राष्ट्रसंघसे मिल चुका था। इसपर तुर्कीकी ओरसे यह कहा गया कि मोसलके निवासी कर्ड लोग हैं, अतः आत्मनिश्चयके सिद्धान्तके अनुसार मोसलको तुर्कीका ही अंग मानना चाहिये। मामला राष्ट्रसंघमें पेश किया गया। उसने फैसला किया कि मोसल ईराक़का ही भाग है और वह ब्रिटेनको मिलना चाहिये। निदान ईराक़की सरकारने ब्रिटेन द्वारा नियंत्रित तुर्की तेल कम्पनीको ७५ सालके लिए मोसल तथा बग़दादके तेलका ठेका दे दिया।

तेलके लिए संसार व्यापी संघर्षका यह एक पहलू था, जिसमें ब्रिटेन और अमेरिका विशेष रूपसे भाग ले रहे थे। सन् १९२० में सान रीमोका समझौता कर जब ब्रिटेन तथा फ्रांसने मोसल ही नहीं, समस्त 'निकट पूर्व' में प्राप्त हो सकनेवाले तेलका बँटवारा आपसमें कर लेनेका निश्चय किया, तब अमेरिकाने ज़ोरोंसे इस कारर्वाईका विरोध किया। उसने कहा कि जर्मनी आदि देशोंसे जो भूभाग हम लोगोंने मिलकर जीते हैं, उनके सम्बन्धमें जो कुछ निर्णय किया जाय, उसमें अमेरिकाकी सलाह अवश्य ली जानी चाहिये।

अमेरिकन तेल कम्पनियोंसे सलाह मशविरा होनेके बाद सन् १९२५ में यह तय हुआ कि तुर्की पेट्रोलियम कम्पनीके २५ प्रति शत हिस्से अमेरिकन कम्पनियोंको बाँट दिये जायँगे। शेष हिस्सोंमेंसे २५ फी सदी ब्रिटिश सरकार द्वारा नियंत्रित ऐंग्लो पर्शियन आयल कम्पनीके, २५ प्रतिशत रायल डच शेल

कम्पनी (डच और ब्रिटिश) तथा २५ प्रतिशत फ्रांसीसी कम्पनियोंके होंगे। इस प्रकार इस प्रश्नका निपटारा हुआ।

तुर्कीकी राष्ट्रीय जागृतिके कारण यूरोपके साम्राज्यवादी देशोंकी यह अभिलाषा कि यूरोपमें तुर्कीका राज्य नामके लिये भी न रह जाय, पूरी न हो सकी। जैसा कि हम लिख चुके हैं, तुर्कोंने मुस्तफा कमालपाशाके नेतृत्वमें बड़ी बहादुरीके साथ ग्रीक सेनाओंका सामना किया और उन्हें पीछे हटा दिया। उनकी देश-भक्ति और दृढ़तासे प्रभावित होकर विजयी राष्ट्रों-को तुर्कीके साथ अधिक सम्मानपूर्ण शर्तोंपर नयी सन्धि करनी पड़ी और प्रजातंत्रकी स्थापना हो जाने पर उसकी सत्ता शीघ्र ही स्वीकार कर लेनी पड़ी।

तुर्की प्रजातंत्रके प्रथम राष्ट्रपति मुस्तफा कमालपाशा ही हुए। वे तुर्कीको नये साँचेमें ढालना चाहते थे। इसीसे उन्होंने धर्मको राजनीतिसे बिलकुल अलग रखनेका निश्चय किया और खलीफाके पदका भी अन्त कर दिया। शीघ्र ही साधुओं और फकीरोंके अनेक मठ तोड़ दिये गये, क्योंकि वे धूर्त्तता और भ्रष्टाचारके अड्डे बन गये थे। पहले बालकोंकी शिक्षाका काम मुल्लाओंके सिपुर्द था, जिसका परिणाम यह होता था कि छोटी अवस्थामें ही विद्यार्थियोंके मस्तिष्कपर धर्मान्धता और संकु-चित विचारोंकी छाप लग जाती थी। इसीसे अब कमाल-पाशाने पश्चिमी शिक्षा-प्रणालीका प्रचार करना शुरू किया। सुलतानके शासन-कालमें लगभग ९५ प्रति शत जनता अशि-क्षित थी, किन्तु अब प्रत्येक ग्राममें पाठशालाएँ स्थापित हैं और प्रारंभिक शिक्षा सबके लिए अनिवार्य कर दी गयी है। इसके सिवाय और भी बहुतसे आवश्यक सुधार किये गये हैं, उदा-

हरणार्थ बुर्केका रिवाज उठा दिया गया है और स्त्रियोंको समाजमें स्वच्छन्दतापूर्वक चलने-फिरनेकी आज़ादी दे दी गयी है। उन्हें अब मताधिकार भी प्राप्त है। बहु-विवाहकी प्रथा तोड़ दी गयी है।

इन सब सुधारोंका थोड़ा-बहुत विरोध होना तो स्वाभाविक था, किन्तु साधारणतः जनताके एक बड़े भागने कमाल-पाशाके कार्योंका ज़ोरोंसे समर्थन किया। लोगोंने यह भली भाँति समझ लिया था कि यूरोपके साम्राज्यवादी राष्ट्रोंका सामना करनेके लिए उन्हींके तौर-तरीकों और उन्हींकी सभ्यताका अनुसरण करना आवश्यक है। इसीसे कमालपाशा इतने कम समयके भीतर ही तुर्कीका काया-पलट करनेमें समर्थ हो सके हैं।

तुर्कीके जो भाग उससे अलग कर दिये गये थे, उनमेंसे सीरियाका शासनादेश फ्रांसको और फिलिस्तीन तथा ईराकका ब्रिटेनको मिला। हेजाज़में एक स्वतंत्र राज्य क़ायम हुआ, यद्यपि वहाँका शासक भी ब्रिटेनके प्रभावसे सर्वथा मुक्त न था। सीरियामें जो ईसाई रहते थे, उनकी रक्षाके बहाने फ्रांस उसपर अपना संरक्षण स्थापित करना चाहता था, किन्तु सीरियाके राष्ट्रवादी इसका विरोध करते थे। वे अपने देशको पूर्ण रूपसे स्वतंत्र बनाना चाहते थे। सन्धि-परिषद् द्वारा स्थापित जाँच कमीशनके सामने वहाँकी राष्ट्रसभाने जो लिखित बयान दिया था, उसमें कहा गया था कि "सीरियाके मुसलमान, यहूदी और ईसाई पूर्ण स्वाधीनता चाहते हैं। हमारे शासनका स्वरूप नियंत्रित राजतंत्र होगा और हमारे शासक होंगे अमीर फैसल।...यदि सन्धि-परिषद्को यह बात मंजूर न हो तो हमें

अमेरिकाका संरक्षण स्वीकार होगा, किन्तु शर्त्त यह है कि संरक्षण नाम मात्रका हो और बीस वर्षमें उसका अन्त हो जाय।"

सीरियाके राष्ट्रवादियोंकी इच्छाकी अवहेलना कर वहाँ फ्रांसका संरक्षण स्थापित कर दिया गया, जिससे बड़ा असन्तोष फैला और स्वतंत्रताका आन्दोलन ज़ोर पकड़ने लगा। मार्च १९२० में राष्ट्रसभाकी बैठक हुई, जिसमें "विदेशियोंके संरक्षणसे रहित पूर्ण स्वतंत्रता" की घोषणा कर दी गयी। फैसल वहाँका राजा मान लिया गया। किन्तु जब जुलाईमें फ्रांसीसी सेनाने दमिश्कपर क़ब्ज़ा कर लिया, तब वह सीरिया छोड़कर भाग गया।

फ्रांसने राष्ट्रीय आन्दोलनकी उपेक्षा कर सीरियामें अपना प्रभाव बढ़ाने और अपने व्यापारकी उन्नति करनेका प्रयत्न किया। अपनी शक्ति सुदृढ़ बनानेके लिए साम्राज्यवादी राष्ट्र साधारणतया जिन उपायोंका प्रयोग किया करते हैं, उनका प्रयोग फ्रांसने भी किया। उसने वहाँवालोंके धार्मिक झगड़ोंको बढ़ाकर उनमें फूट पैदा करनेका प्रयत्न शुरू किया। लोकमतकी परवाह न कर फ्रांसीसी भाषा वहाँकी सरकारी भाषा बना दी गयी। अच्छी अच्छी जगहोंपर फ्रांसीसियोंकी नियुक्ति कर दी गयी और योग्य सीरिया-निवासियोंके अधिकारोंकी सर्वथा उपेक्षा की गयी।

इन सब अत्याचारोंके कारण १९२२ तथा १९२५ में दमिश्कवालोंने विद्रोह कर दिया। सन् १९२५ में द्रूज जातिके लोगोंने जो बलवा शुरू किया, उसने शीघ्र ही राष्ट्रीय विद्रोहका रूप धारण कर लिया। छः महीनेके भीतर लेबेनानको छोड़कर सारे देशपर राष्ट्रीय दलका आधिपत्य स्थापित हो गया। जब

दमिश्कपर भी विद्रोहियोंका क़ब्ज़ा हो गया, तब १८ से २० अक्टूबर तक फ्रांसीसियोंने गोलोंकी वर्षा कर सारे नगरको भून डाला। लगभग दो वर्षके बाद स्थिति क़ाबूमें आयी और किसी तरह शान्ति स्थापित हुई।

आन्दोलनकी प्रबलताका ख़याल कर जुलाई १९२८ में वहाँ नवीन शासन-व्यवस्था घोषित की गयी। इसके अनुसार जनता द्वारा निर्वाचित एक प्रतिनिधि-सभाकी स्थापना हुई और लोगोंको प्रसन्न करनेके लिए प्रायः सभी राजनीतिक क़ैदी रिहा कर दिये गये। सितंबर १९२८ में जब इस प्रतिनिधि-सभाकी बैठक हुई, तब उसे पूर्ण स्वतंत्रताका प्रस्ताव पास करते देखकर फ्रांसीसी उच्चाधिकारीको बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने आशा की थी कि नूतन शासन-सुधारके कारण सीरियावाले सन्तुष्ट हो जायँगे और स्वतंत्र होनेकी अभिलाषाका परित्याग कर देंगे, किन्तु ऐसा नहीं हुआ। अब उन्होंने नरम दलवालोंकी सहायतासे शासन चलानेकी नीति अख्तियार की है।

सन् १९२९ में फ्रांसीसी पार्लिमेण्टमें साम्यवादी दलकी ओरसे इस आशयका एक प्रस्ताव उपस्थित किया गया था कि फ्रांसको सीरियासे अपना संरक्षण हटा लेना चाहिये और उसे पूर्ण स्वाधीनता दे देनी चाहिये। इसके उत्तरमें वहाँके प्रधान मंत्रीने जो शब्द कहे थे, वे साम्राज्यवादियोंकी मनोवृत्तिके सूचक होनेके कारण विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं। उन्होंने कहा था "यदि हम सीरियासे हट जायँ, तो सम्भव है राष्ट्रसंघ किसी अन्य राष्ट्रको वहाँका संरक्षक बना दे। हम तो सीरियाको स्वतंत्र बनानेके लिए ही उद्योग कर रहे हैं;

पर दूसरा राष्ट्र कदाचित् ऐसा साम्राज्यवादी हो, जो संरक्षणके बन्धनोंको और भी मजबूत बनानेका प्रयत्न करे।"

पहले फ़िलिस्तीन सीरियाका ही एक भाग था, पर यूरोपीय युद्धके बाद यह उससे पृथक् कर दिया गया। प्राचीन कालमें यहाँ यहूदी लोग रहते थे। ईसाका जन्म यहीं हुआ था और ईसाई धर्मका प्रचार भी इसी देशसे शुरू हुआ था। जब यहाँपर तुर्कोंका प्रभुत्व स्थापित हो गया, तब ईसाई यात्रियोंको यहाँ प्रवेश करनेमें कठिनाई होने लगी। अपने पवित्र स्थानका उद्धार करनेके लिए यूरोपके ईसाई राजाओंने तुर्कोंसे समय समयपर 'शूलीकी लड़ाइयाँ' लड़ीं। उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तमें यहूदियोंने एक सम्मेलन करके यह प्रस्ताव स्वीकृत किया कि हमें अपने आदिदेश फिलिस्तीनमें पुनः जाकर बसना चाहिये।

यूरोपीय युद्धकी समाप्तिके बाद जब सीरियापर फ्रांसका संरक्षण स्थापित हो गया, तब भारतके मार्गकी सुरक्षाका ख़याल कर ब्रिटेनने उससे समझौता कर फिलिस्तीनको अपने संरक्षणमें ले लिया। बाहरसे नये नये यहूदियोंके आ बसनेके कारण अब वहाँ गृहकलहकी वृद्धि हो रही है, जिससे विदेशी संरक्षणके अधिक स्थायी होनेमें सहायता मिलती है। आपसके झगड़ोंमें व्यस्त होनेके कारण वहाँवालोंके मनमें पूर्ण स्वतंत्रताकी अभिलाषा उत्पन्न नहीं होने पायी है और वे विदेशी संरक्षणका स्पष्ट रूपसे कोई विरोध नहीं कर रहे हैं।

फिलिस्तीनकी तरह ईराकमें भी अंग्रेजोंने अपना संरक्षण स्थापित किया। वहाँवाले इसके लिए तैयार न थे। १९२० में सीरियाकी तरह ईराकमें भी राष्ट्रीय सभाका अधिवेशन कर विदेशी संरक्षणका विरोध किया गया और ईराककी स्वतंत्रता

घोषित की गयी। अंग्रेजोंने ईराकके राष्ट्रवादी नेताओंके साथ समझौता करनेकी चेष्टा की, किन्तु इसमें वे सफल न हो सके। ईराकवालोंका असन्तोष बढ़ता ही गया और वह रक्तमय उत्पातका रूप धारण करने लगा। अंग्रेजोंने फैसलको ईराकका बादशाह बना दिया और वहाँकी शासन-व्यवस्थाका नियंत्रण करने लगे। किन्तु वे राष्ट्रीय आन्दोलनको दबा न सके। सन् १९२३ में ब्रिटिश सरकारने ईराकसे एक सन्धि की जिसके अनुसार संरक्षण-कालकी अवधि बीस वर्षसे घटाकर चार वर्ष कर दी गयी। इस सन्धिके अनुसार सन् १९२७ में ब्रिटिश संरक्षण हटा लिया जाना चाहिये था, किन्तु ऐसा नहीं किया गया। उसी साल एक दूसरी सन्धि हुई और यह निश्चय हुआ कि संरक्षण सन् १९३२ में हटाया जायगा। तदनुसार गत वर्ष ईराकपरसे ब्रिटेनका संरक्षण उठा लिया गया और अब वह राष्ट्रसंघका सदस्य भी बन गया है।

सीरियाका वह भाग जो जार्डन नदीके पूर्वमें था, ट्रांस जार्डनके नामसे एक पृथक् राज्य बना दिया गया। यहाँका शासनसूत्र फैसलके भाई अमीर अब्दुल्लाके हाथमें दे दिया गया। यहाँकी राजधानी अम्मनमें एक अंग्रेज कर्मचारी रहता है, जिसके निरीक्षणमें यहाँका शासनकार्य होता है। इस प्रकार युद्ध-समाप्तिके बाद यूरोपके साम्राज्यवादी राष्ट्रोंने आपसमें तुर्कीका बँटवारा कर लिया। यदि राष्ट्रीय नेता कमालपाशाका उदय न हुआ होता तो इसमें सन्देह नहीं कि तुर्कीकी इससे भी अधिक दुर्गति होती और कमसे कम यूरोपमें तो उसका कोई अस्तित्व ही न रह जाता।

सातवाँ अध्याय

अफगानिस्तान, तिब्बत और ईरान

"निकट पूर्व" की तरह मध्य एशियामें भी साम्राज्यवादके प्रसारका कारण पूँजीवादी राष्ट्रोंकी कूटनीति तथा स्वार्थ-साधनके सम्बन्धमें उनकी आपसकी प्रतिद्वन्द्विता ही है। 'मध्य एशिया' से हमारा आशय तुर्की और चीनके बीचवाले इन देशोंसे है—ईरान, तुर्किस्तान, अफगानिस्तान और तिब्बत। ये देश भारतकी सीमासे प्रायः लगे हुए हैं। क्रीमियन युद्ध (१८५३-१८५६) से लेकर १९१४ के यूरोपीय युद्धतक सामान्यतया केवल ब्रिटेन तथा रूस ही इन देशोंके मामलेमें खास दिलचस्पी लेते रहे, क्योंकि भारतके साथ इन्हीं दोनोंका निकट सम्बन्ध था। ब्रिटेनने तो भारतमें राज्य ही स्थापित कर लिया था और रूस भी उसकी सीमापर अपना प्रभाव जमानेके लिए उत्सुक था। यूरोपके अन्य देश इस भूभागके प्रति उदासीनसे थे। यहाँकी भूमि अनुपजाऊ और यहाँके लोग पिछड़े हुए समझे जाते थे। गमनागमनकी कठिनाइयाँ भी यहाँ विशेष रूपसे विद्यमान थीं। इसीसे यहाँ अपना प्रभुत्व स्थापित करना उक्त देशोंकी दृष्टिमें लाभजनक न था। यही कारण है कि उन्होंने मध्य एशियाके देशोंपर अपना प्रभाव जमानेका कोई प्रयत्न नहीं किया।

ब्रिटेनकी नीति यूरोपके अन्य देशोंकी नीतिसे कुछ भिन्न थी। उसकी दृष्टिमें मध्य एशियाके इन देशोंका एक विशेष महत्त्व था, क्योंकि इनके कारण यूरोपके अन्य देशोंसे, खास

कर रूससे ब्रिटिश भारतकी सीमा बहुत कुछ सुरक्षित रह सकती थी। रूस भी अपने स्वार्थकी दृष्टिसे इस भूभागको अधिक महत्त्व देता था। उसकी इच्छा काकेशस और साइबेरियाके दक्षिणमें ही अपना प्रभाव फैलानेकी न थी, बरन् वह भारतको भी लालच भरी नज़रसे देखता था। इसके सिवा वह अपने समुद्री व्यापारके निकासके लिए ईरानकी खाड़ी तक पहुँचानेवाला मार्ग भी चाहता था।

यद्यपि यह कहा जाता है कि ब्रिटेनकी इच्छा अफगानिस्तानको ब्रिटिश साम्राज्यमें मिला लेने या उसके भीतरी मामलोंमें हस्तक्षेप करनेकी कभी न थी, फिर भी ऐतिहासिक घटनावलीको देखते हुए यह मानना ही पड़ता है कि सन् १८३९ से १९२० तक अर्थात् लगभग अस्सी वर्ष तक उसकी नीति उसे अपने ही संरक्षणमें रखनेकी थी। वह बराबर इस बातका खयाल रखता था कि अन्य कोई राष्ट्र अफगानिस्तानपर आक्रमण न करे और न वहाँ अपना प्रभाव जमाने पावे।

जब अफगानिस्तानके सिंहासनके लिए दोस्त मुहम्मद तथा शाहशुजामें झगड़ा चला, तब शाहशुजाका पक्ष लेकर भारत सरकारने अफगानिस्तानके मामलेमें हस्तक्षेप किया और अंग्रेजी सेना भेजकर उसे सिंहासनपर बैठा दिया। शीघ्र ही अफग़ानियोंने इस कारखाईके विरुद्ध बलवा कर दिया और अंग्रेज अफ्सरोंको मार डाला। धन-जनकी विशेष हानि उठा चुकनेके बाद बड़ी कठिनाईसे ब्रिटेन अपनी खोयी हुई 'इज्ज़त' की रक्षा करनेमें समर्थ हुआ। २६ जनवरी १८५७ को पेशावरमें जो सन्धि हुई, उसके अनुसार दोस्त मुहम्मद वहाँका अमीर मान लिया गया और ब्रिटेनने उसे दस हजार पौण्डकी वार्षिक

सहायता देना स्वीकार किया। इस सन्धिके अनुसार अफगानिस्तानपर ब्रिटेनका संरक्षण निश्चित रूपसे स्थापित हो गया।

दोस्त मुहम्मदकी मृत्युके बाद उसका लड़का शेरअली अपने अन्य भाइयोंको परास्त कर गद्दीपर बैठा। उसने ब्रिटेनसे सहायता माँगी थी किन्तु इस बार ब्रिटेन प्रायः उदासीन रहा। जब उन्नीसवीं शताब्दीके चतुर्थ चरणमें रूसकी सेना तुर्किस्तानकी छोटी छोटी रियासतोंपर क़ब्ज़ा करती हुई ईरान तथा अफगानिस्तानकी सीमापर आ उपस्थित हुई, तब ब्रिटेन चिन्तित होने लगा। शेरअलीने रूससे मित्रता कर ली और उसके दूतको काबुलमें रहनेकी अनुमति दे दी। सन् १८७८ में भारतकी रक्षाके खयालसे कई ब्रिटिश पलटनें अफगानिस्तान भेजी गयीं। शेरअलीको भागकर उत्तर अफगानिस्तानमें शरण लेनी पड़ी, जहाँ उसकी मृत्यु हो गयी। तब मुहम्मद याकूबखाँ नाम मात्रके लिए वहाँका अमीर बना दिया गया। परराष्ट्रनीतिके सम्बन्धमें हस्तक्षेप करनेका उसे कोई अधिकार न था, किन्तु इतना होते हुए भी इंग्लैण्ड सशंक बना रहा। इसके बाद सन् १८८४ तथा १८९५ में रूससे युद्ध होते होते बचा।

ब्रिटेनके बोअर-युद्धमें फँस जाने पर रूसने फिर ईरान, अफग़ानिस्तान आदिकी ओर अग्रसर होनेका प्रयत्न किया। तुर्किस्तानके आरपार रेलकी सड़क बनाकर और वहाँ रुईकी उत्पत्तिको प्रोत्साहन देकर अब उसने अफग़ानिस्तानमें भी रेल निकालनेका विचार किया। इस पर सन् १९०५ में ब्रिटेनने स्पष्ट रूपसे यह घोषणा कर दी कि यदि रूसी रेलोंसे सम्बन्ध स्थापित करनेके लिए अफगानिस्तानमें रेलोंके निर्माणका प्रयत्न रूसकी ओरसे किया जायगा, तो उसका यह कार्य ब्रिटिश

संरक्षित राज्यपर आक्रमणका सूचक समझा जायगा। परिणाम यह हुआ कि अफगानिस्तानमें रेलकी सड़कें न बन सकीं।

अफगानिस्तानके रहनेवाले धर्मान्ध और रक्त-पिपासु तो पहलेसे ही थे, इस्लामके संघटनका सन्देश पाकर उनका धार्मिक जोश और भी बढ़ने लगा। यूरोपीय युद्ध शुरू होनेपर ब्रिटेनको शंका होने लगी कि अफगानिस्तानवाले तुर्कीका पक्ष लेकर कहीं भारतपर आक्रमण न कर दें, किन्तु अमीर हबीबुल्लाखाँ अंग्रेजोंसे वृत्ति पाता था और उनका मित्र था। उसने अफगानिस्तानमें किसी तरहकी गड़बड़ न होने दी। जब तुर्कीके सुलतानने धर्मके नामपर सब मुसलमानोंको युद्धके लिए आमंत्रित किया, तब अफ़गानोंका रोष बढ़ने लगा। वे अमीर हबीबुल्लाकी नीतिसे बहुत असन्तुष्ट हुए। खासकर अंग्रेजोंकी तरफ़दारी करनेके कारण वे उससे चिढ़ गये। सर्वसाधारणके असन्तोषका परिणाम यह हुआ कि फरवरी १९१९ में हबीबुल्लाकी हत्या कर डाली गयी।

अब हबीबुल्लाके तृतीय पुत्र अमीर अमानुल्ला वहाँके शासक बने। उन्होंने रूसकी बोलशेविक सरकारसे सम्बन्ध स्थापित कर लिया और ब्रिटिश संरक्षणकी उपेक्षा कर अफ़गानिस्तानके स्वातंत्र्यकी घोषणा कर दी। रूसके प्रोत्साहनसे सन् १९२१ में उन्होंने अंग्रेजोंसे लड़ाई छेड़ दी। यद्यपि युद्धमें अमानुल्लाकी पराजय हुई, फ़िर भी अंग्रेजोंने समझ लिया कि अब अफ़गानिस्तानपर नियंत्रण क़ायम रखना संभव नहीं है। कुछ ही महीनोंके बाद नवम्बर १९२१ में रावलपिण्डीकी सन्धि हुई, जिसके अनुसार अंग्रेजोंने अफ़गानिस्तानकी पूर्ण स्वाधीनता मान ली। इसके बादसे वहाँके अन्तर्राष्ट्रीय मामलोंमें

हस्तक्षेप करनेका कोई अधिकार भारत सरकारको नहीं रह गया।

सम्राट् अमानुल्लाने अपने देशकी उन्नतिके लिए विशेष प्रयत्न किया। अन्तर्राष्ट्रीय जगत्में स्वदेशकी प्रतिष्ठा बढ़ानेमें वे पर्याप्त रूपसे कृतकार्य हुए। उनके द्वारा जारी किये गये अनेक सुधारोंके कारण अफ़गानिस्तानका कट्टरपंथी समुदाय उनसे चिढ़ने लगा और उसने विद्रोहका झंडा खड़ा कर दिया। गृह-कलह और खून-खराबीसे स्वदेशकी रक्षा करनेके उद्देश्यसे उन्होंने सिंहासनका परित्याग कर दिया। इसके बाद बच्चा सका नामका एक भिश्ती हबीबुल्ला गाज़ीके नामसे वहाँका शासक बन बैठा। उसके मारे जाने पर १६ अक्टूबर १९२९ को वहाँका शासनसूत्र वर्त्तमान सम्राट् नादिरखाँके हाथमें आया। सम्राट् अमानुल्लाकी तरह आप भी अफ़गानिस्तानको समुन्नत बनानेके लिए विशेष प्रयत्न करते रहते हैं, जिसका सुपरिणाम अफ़गानिस्तानकी वर्त्तमान अवस्थासे स्पष्ट ही है।

अब ईरानके साथ साम्राज्यवादियोंकी छेड़छाड़का वर्णन करनेके पहले थोड़ेमें तिब्बतका हाल लिख देना अधिक उपयुक्त होगा। अफ़गानिस्तानके पश्चिम और भारतके उत्तरमें स्थित यह देश चीन साम्राज्यके अन्तर्गत था। यहाँका शासक दलाई लामा चीन सम्राट्का सामन्त था। सन् १९०० के बाद यहाँ भी रूस तथा ब्रिटेनने अपना अपना प्रभाव स्थापित करनेकी चेष्टा की। पहले तो यहाँके शासक विदेशियोंको अपने यहाँ घुसने ही नहीं देते थे और न वे उनसे कोई सम्बन्ध रखना चाहते थे, किन्तु जब सन् १९०१ में ब्रिटेनको यह खबर लगी कि रूसका एक व्यक्ति, जो दलाई लामाका शिक्षक रह चुका

था, तिब्बतकी ओरसे राजदूत बनाया जाकर सेंट पीटर्सबर्ग (वर्त्तमान पेट्रोग्रेड) भेजा गया है, तब ब्रिटिश राजनीतिज्ञोंके मनमें तरह तरहकी शंकाएँ उठने लगीं।

उस समय लार्ड कर्ज़न भारतके वाइसराय थे। रूसी आक्रमणके हौएसे वे बहुत ज़्यादा परेशान हो उठे। उस समय रूसकी काररवाईको लक्ष्य कर उन्होंने जो शब्द कहे थे, वे उल्लेखनीय हैं। उन्होंने कहा था "भारतवर्ष एक क़िलेके समान है, जिसके दो ओर समुद्रकी विस्तृत खाई है और बची हुई सीमाकी तरफ पहाड़की दीवारें हैं, किन्तु इन दीवारोंके उस पार ढालू ज़मीन है, जिसकी लम्बाई चौड़ाई कहीं कम, कहीं ज़्यादा है। हमारी इच्छा उसपर क़ब्ज़ा करनेकी नहीं है, पर हम उसे अपने शत्रुओंके हाथमें नहीं जाने दे सकते। हम उसे अपने मित्रोंके हाथमें रहने देनेके लिए बिलकुल राज़ी हैं, किन्तु यदि वहाँ हमारे प्रतिद्वन्द्वियों या विरोधियोंका प्रभाव फैलने लगे और वे लोग हमारी इन दीवारोंके बिलकुल पास तक आकर जमने लगें, तो हमें बाध्य होकर हस्तक्षेप करना ही पड़ेगा, अन्यथा वहाँ ऐसा खतरा उपस्थित हो जायगा जिससे एक दिन हमारी रक्षाके सम्बन्धमें भी शंका उत्पन्न हो जानेकी संभावना है। अरेबिया, ईरान, अफ़गानिस्तान, तिब्बत और स्यामके पूर्वमें यही हमारी स्थितिका रहस्य है।"*

इसी नीतिसे प्रेरित होकर लार्ड कर्ज़नने तिब्बतमें रूसका प्रभाव रोकनेका प्रयत्न किया। उन्होंने दलाई लामाको स्वयं कई पत्र लिखे, किन्तु वे सब बिना खुले हुए ज्योंके त्यों वापस लौट आये। तब उन्होंने सन्धिकी बातचीत करने और तिब्बत-

* नार्मन ड्वाइट हैरिस कृत "यूरोप एण्ड दि ईस्ट" पृ० २८५

में ब्रिटिश दूत नियुक्त करनेके उद्देशसे एक सैनिक दल भेजनेका निश्चय किया। रूस इस समय जापानके साथ युद्धमें व्यस्त था, अतः मौका अच्छा था। सन् १९०४ में कर्नल यंग हजबैण्डके नेतृत्वमें सैनिक दल तिब्बत पहुँचा। लामाके भाग जानेके कारण उसने ७ सितम्बरको वहाँके स्थानापन्न शासकसे एक सन्धि की। इस यात्रामें जितना खर्च हुआ था, वह कुल रक़म तिब्बतसे हरजानेके रूपमें ली गयी † और यह भी तय हुआ कि तिब्बतके तीन व्यापारिक स्थान अंग्रेजोंके लिए खोल दिये जायँगे। इसके सिवाय तिब्बतने यह भी स्वीकार किया कि कोई ज़मीन या आर्थिक साधन किसी अन्य देशके सिपुर्द न किये जायँगे और न उसके प्रतिनिधियोंको तिब्बतमें प्रवेश करने की इजाज़त ही दी जायगी। इंग्लैण्डकी ओरसे यह आश्वासन दिया गया कि वह तिब्बतपर क़ब्ज़ा न करेगा और न उसकी ओरसे वहाँके शासनमें हस्तक्षेप किया जायगा। सन् १९०६ में चीनने भी इस सन्धिके सम्बन्धमें अपनी स्वीकृति दे दी।

जब सन् १९११ में चीनकी राज्य-क्रान्ति हुई, जिसके परिणाम स्वरूप चीनमें प्रजातंत्रकी घोषणा की गयी, तब चीनके अधिकारियोंने तिब्बतको प्रत्यक्ष रूपसे चीनमें मिला लेनेका विचार किया। इसपर तिब्बतमें विद्रोह हो गया। चीनी कर्मचारी तथा चीनी सैनिक वहाँसे मार भगाये गये। चीनने उसे पुनः जीतनेके लिए सेना भेजनेका निश्चय किया। तब ब्रिटेनने बीचमें पड़कर चीनको ऐसा करनेसे रोक दिया। उसने चीनको लिख दिया कि जिस देशके साथ ब्रिटेनने स्वतंत्र रूपसे संधियाँ

---

† लेफटनेण्ट कर्नल सर फ्रेडरिक ओकोनोरके कथनानुसार इस रक़मकी तादाद ७५ लाख रुपये थी—स्टेट्समैन ४-६-३२

की हैं, उसपर चीन अपना आधिपत्य स्थापित नहीं कर सकता। उसने इस बातपर भी ज़ोर दिया कि तिब्बतकी शासन-व्यवस्थामें परिवर्तन कराने या उसपर प्रभुत्व जमानेके उद्देश्यसे वहाँ चीनी सेनाका भेजा जाना १९०६ की सन्धिकी अवहेलना करनेवाला कार्य समझा जायगा।

इस प्रश्नका निपटारा करनेके लिए १९१३-१४ में चीन, तिब्बत तथा ब्रिटेनके प्रतिनिधियोंका एक सम्मेलन शिमलेमें हुआ। इसमें ब्रिटिश प्रतिनिधिने तिब्बत तथा चीनमें समझौता करानेके खयालसे यह प्रस्ताव किया कि तिब्बत दो भागोंमें बाँट दिया जाय—बाहरी तथा भीतरी। बाहरी तिब्बतपर नाम मात्रके लिए चीनका आधिपत्य रहे, वस्तुतः वह स्वशासित देश हो, जहाँ चीन अपना प्रतिनिधि तीन सौ सैनिकोंके साथ रखना चाहे तो रख सकता है, किन्तु वह उसे चीनी प्रजातंत्रका प्रान्त नहीं बना सकता। भीतरी तिब्बतके सम्बन्धमें उक्त प्रस्तावमें यह कहा गया कि वह प्रत्यक्ष रूपसे चीनके अधीन रहेगा। उसमें इस बातपर भी ज़ोर दिया गया था कि चीन तथा तिब्बतमें जब जब झगड़ा हो, तब तब उसका निपटारा करनेके लिए ब्रिटेन ही मध्यस्थ बनाया जाय। चीनको ये शर्तें मंजूर न थीं, किन्तु उसके विरोधकी उपेक्षा कर ३ जुलाई १९१४ को ब्रिटिश सरकार तथा तिब्बतके प्रतिनिधियोंने उक्त शर्तोंके आधारपर तैयार किये गये सन्धि-पत्रपर हस्ताक्षरकर दिये।

इस प्रकार तिब्बत अब चीनसे पृथक् होकर एक स्वतंत्र राज्य बन गया है। आन्तरिक अशान्ति तथा आर्थिक कठिनाइयोंके कारण चीनके लिए तिब्बतका शासन-प्रबन्ध अपने हाथमें लेना सम्भव न था। फिर, ब्रिटेनके व्यवहारके कारण

भी उसके लिए तिब्बतपर प्रत्यक्ष रूपसे प्रभुत्व कायम करना कठिन हो गया। ब्रिटिश सरकार तथा भारत सरकारने ख़याल किया कि तिब्बतपर चीनका आधिपत्य स्थापित हो जानेसे भारतीय सीमापर किसी भी समय ख़तरा उत्पन्न हो सकता है, इसीसे उन्होंने इस बातका प्रयत्न किया कि भारतके उत्तरमें एक ऐसे स्वतंत्र राज्यकी स्थापना की जाय, जिसका रुख ब्रिटेनके प्रति मित्रतापूर्ण हो और जिसके कारण भारतीय सीमापर बाह्य आक्रमणकी सम्भावना न रह जाय।

मई १९१९ में तिब्बतके मामलेमें चीन ब्रिटेनके साथ समझौता करनेको तैयार हो गया, किन्तु ब्रिटेनने जवाब देनेमें पूरे तीन महीने खर्च कर दिये। इसी बीचमें शान्तुंगके प्रश्नके कारण चीनमें बड़ा असन्तोष फैल गया। पेरिस-सम्मेलनमें चीनसे परामर्श किये बिना ही उसकी भूमिके बँटवारेका जो प्रयत्न किया गया, उससे चीनवालोंका रोष बढ़ गया और चीनकी सरकारने तिब्बतके सम्बन्धमें समझौता करनेसे इनकार कर दिया। इसके बाद तिब्बतके प्रश्नका निपटारा करनेके लिए और भी कई बार प्रयत्न किये गये किन्तु चीनके साथ कोई सन्तोषजनक समझौता न हो सका। तिब्बत एक तरहसे स्वतंत्र ही है और चीनमें इतनी शक्ति नहीं कि उसे दबाकर अपने अधीन रख सके।

अब ईरानको लीजिए। क्षेत्रफलकी दृष्टिसे यह फ्रांस, इटली तथा जर्मनी, इन तीन देशोंके बराबर है, किन्तु इसका अधिकांश या तो उजाड़ है या जंगलोंसे भरा हुआ है। किसी समय ईरानका साम्राज्य बहुत बढ़ा हुआ था। ईसाके पूर्व पाँचवीं तथा छठवीं शताब्दीमें अर्थात् साइरस तथा डेरियस (दारा) के शासनकालमें लघु एशिया, ईराक, अफगानिस्तान तथा

मिश्रतक इसकी सत्ता फैली हुई थी। यहाँके शासकोंमें अनेक वीर पुरुष तथा देशका गौरव बढ़ानेवाले व्यक्ति हुए हैं और बहुतसे अत्यन्त क्रूर, अत्याचारी, स्वार्थी तथा लम्पट भी हुए हैं। ईसाकी अठारहवीं शताब्दीमें यहाँ जो अशान्ति एवं अव्यवस्था फैली हुई थी, वह नासिरुद्दीन शाहके शासनकालमें बहुत कुछ दूर हो गयी, किंतु वह भी देशहितके कार्योंकी ओर विशेष ध्यान न दे सका। आर्थिक कठिनाइयोंसे छुटकारा पानेके लिए उसने विदेशियोंसे ऋण लेने और उन्हें तरह तरहकी सुविधाएँ देनेकी नीति अख्तियार की। सन् १८८९ में वहाँ बेरन जूलियस डी रूटर नामक अंग्रेज अर्थनीतिज्ञने ईरानी इम्पीरियल बैंक स्थापित किया। इन महाशयको वहाँकी खनिज वस्तुओंसे लाभ उठानेके सम्बन्धमें भी विशेष सुविधाएँ दी गयीं।

शाहको ऋण देनेके लिए उक्त अंग्रेजको इम्पीरियल बैंक स्थापित करते देखकर रूसने भी एक बैंक खोलनेकी अनुमति प्राप्त कर ली और यद्यपि रूसके पास ऋण देनेके लिए काफी रुपया न था, फिर भी फ्रांससे कर्ज़ लेकर वह शाहकी माँग पूरी करनेकी चेष्टा करने लगा। ऋण देनेके निमित्त रूस या ब्रिटेनकी इस उत्सुकताका एक कारण तो यह था कि ऋणकी रक़मपर ब्याज काफी मिलता था और दूसरा यह था कि उसकी सहायतासे राजनीतिक अधिकार तथा आर्थिक या व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त करनेमें आसानी होती थी। रूसको इसी तरह रूसी सीमासे तेहरानतक रेलकी सड़क तैयार करने तथा खानोंसे कोयला और तेल निकालनेकी अनुमति दी गयी थी और एक ब्रिटिश कम्पनीको तम्बाकूके व्यापारका पूर्णाधिकार दिया गया था।

विदेशियोंके साथ की गयी इन रियायतोंके कारण सर्व साधारणका असन्तोष बढ़ने लगा। लोग कहने लगे कि ईरानी व्यापारियों तथा नागरिकोंके अधिकारोंकी उपेक्षा कर विदेशियोंको लाभ उठानेका मौक़ा दिया जा रहा है। जमालुद्दीन नामक एक धार्मिक नेताने चारों ओर घूम घूमकर लोगोंसे उक्त ब्रिटिश तम्बाकू कम्पनीका बहिष्कार करनेका अनुरोध किया। जनतापर उसके अनुरोधका इतना प्रभाव पड़ा कि दिसम्बर (१८९०) में सारे ईरानमें एक आदमीने भी तम्बाकू नहीं खरीदा। यह अवस्था देखकर शाहने पाँच लाख पौण्ड हरजानेके देकर ब्रिटिश कम्पनीका ठेका रद्द कर दिया।

इतना होने पर भी विदेशियोंको सुविधाएँ देनेकी नीतिका परित्याग नहीं किया गया। परिणाम यह हुआ कि जनताका असन्तोष बढ़ता गया। निदान १ मई १८९६ को एक देशभक्त क्रान्तिकारीने नासिरुद्दीन शाहकी हत्या कर डाली। इसके बाद वैध शासनकी माँगपर अधिक ज़ोर दिया जाने लगा। जब आन्दोलनको दबानेके लिए सार्वजनिक नेताओंपर सख्ती की जाने लगी, तब उन्होंने "बस्त" करना शुरू किया। दिसम्बर १९०५ में तेहरानके कोई १४०० धार्मिक नेता तथा व्यापारी शहर छोड़कर ब्रिटिश दूतावासके निकट एक मसजिदके पास जा बसे और शहरमें हड़ताल कर दी। वहाँसे उन्होंने कहलाया कि जबतक मंत्री आइनुद्दौला पदच्युत न किये जायँगे, तबतक हम लोग वापस न लौटेंगे। जब शाहने ऐसा करनेकी प्रतिज्ञा की, तब वे लोग शहरमें पुनः चले आये। शाहने अपनी प्रतिज्ञाका पालन नहीं किया, अतः जुलाई १९०६ में फिर इसी तरीकेसे जिसे ईरानमें "बस्त" कहते हैं, काम लिया गया।

सारे शहरमें हड़ताल कर दी गयी और व्यापारी, मुल्ला, विद्यार्थी आदि बड़ी संख्यामें नगर छोड़कर बाहर रहने लगे। अन्तमें शाहने विवश होकर जनताकी वैध शासनकी माँग मंजूर कर ली और पार्लिमेण्टके चुनावके लिए सितम्बरकी नवीं तारीख मुकर्रर कर दी गयी।

३० दिसम्बरको मजलिस (ईरानी पार्लिमेण्ट) में नया शासन-विधान स्वीकृत हुआ और शाहने भी उसपर हस्ताक्षर कर दिये। इसके अनुसार राष्ट्रीय मामलोंके नियंत्रणका अधिकार प्रधानतया मजलिसके हाथमें आ गया। मंत्रिमण्डल अपने कार्योंके लिए मजलिसके प्रति उत्तरदायी बना दिया गया तथा लिखने और भाषण करनेकी स्वतंत्रता सर्वसाधारणको दे दी गयी। मजलिसने विदेशियोंके बढ़ते हुए प्रभावको भी रोकनेकी चेष्टा की, यद्यपि इस कार्यमें उसे शीघ्र ही अनेक विघ्नोंका सामना करना पड़ा।

रूस मजलिसकी काररवाइयोंसे बहुत चिढ़ता था और उसने उसकी शक्तिका दमन करानेमें शाहकी विशेष सहायता की। वह चाहता था कि समस्त ईरानपर उसका प्रभाव जम जाय। इस पारसे उस पारतक रेल बनाकर वह ईरानकी खाड़ीपर अपने लिए दो चार सुरक्षित बन्दर-स्थान बनाना चाहता था। जब सन् १९०६ में अलैग्जैण्डर इज़वोलसकी वहाँका परराष्ट्र मंत्री हुआ, तब उसने खयाल किया कि रूससे भारतकी सीमातक रेलवे लाइन बनाकर बगदाद रेलसे प्रतियोगिता करना ठीक न होगा, क्योंकि इंग्लैण्ड इसे कदापि पसन्द न करेगा। इज़वोलसकी की धारणा थी कि रूसका भला इंग्लैण्डसे मिलकर काम करनेमें ही है, उससे लड़ने-झगड़नेमें नहीं।

इसीसे ३१ अगस्त १९०७ को उसने ब्रिटिश दूतसे समझौता कर लिया। इसका सम्बन्ध ईरानके अतिरिक्त तिब्बत तथा अफगानिस्तानसे भी था।

समझौतेके अनुसार यह तय हुआ कि तिब्बतके शासनमें न ब्रिटेन दखल देगा और न रूस। साथ ही दोनोंने यह स्वीकार किया कि उनमेंसे कोई भी वहाँ रेलकी सड़क बनवाने, तार लगवाने या खनिज वस्तुओंसे लाभ उठानेके सम्बन्धमें किसी भी तरहकी रियायत प्राप्त करनेकी चेष्टा न करेगा और उन्हें जो कुछ बातचीत करनी होगी, वह चीनकी केन्द्रीय सरकारके जरिए ही की जायगी। अफगानिस्तानके सम्बन्धमें जो निर्णय हुआ, वह ब्रिटेनके पक्षमें था। रूसने यह स्वीकार कर लिया कि अफगानिस्तान उसके प्रभाव-क्षेत्रके बाहर है और उससे जो कुछ बातचीत की जायगी, वह ब्रिटेनके ही जरिए की जायगी। ब्रिटेनने प्रतिज्ञा की कि जबतक अफगानिस्तानका अमीर उसके कहनेमें चलता रहेगा और जबतक वह ब्रिटेनके प्रति मित्रता-पूर्ण रुख बनाये रहेगा, तबतक ब्रिटेन उसपर क़ब्ज़ा करने या उसे अपने साम्राज्यमें मिला लेनेका प्रयत्न न करेगा।

ईरानके सम्बन्धमें इस समझौतेमें यह आश्वासन दिया गया था कि ईरानका अंगभंग न किया जायगा और उसकी स्वतंत्रताकी रक्षाका ध्यान रखा जायगा, किन्तु साथ ही उसमें यह भी कहा गया था कि उत्तरी भाग रूसका तथा दक्षिणी भाग ब्रिटेनका प्रभाव-क्षेत्र समझा जायगा। अब इन दोनोंके बीचमें जो भूमि रह गयी, उसके सम्बन्धमें यह तय हुआ कि वह एक तरहका तटस्थ क्षेत्र मान ली जायगी, जिसमें दोनों देशों-को समानाधिकार प्राप्त होंगे।

ईरानके राष्ट्रवादियोंने ज़ोरोंसे इस सन्धिका विरोध किया। विरोधका कारण स्पष्ट ही था। सन्धिकी शर्तें तय करते समय ईरानवालोंसे ज़रा भी सलाह नहीं ली गयी थी, यद्यपि उन्हींसे इनका घनिष्ठ सम्बन्ध था, और न उसमें ईरानके हिताहितकी ओर ही कोई ध्यान दिया गया था। सन्धिमें ईरानके अधिकारोंकी पूर्ण उपेक्षा की गयी थी। उसमें यहाँतक गुञ्जाइश रखी गयी थी कि "कठिनाई" के समय यदि आवश्यकता हो तो दोनों राष्ट्र सम्मिलित रूपसे हस्तक्षेप कर सकेंगे! ईरानवालोंकी शंका दूर करनेके लिए तेहरानमें स्थित ब्रिटिश प्रतिनिधिने वहाँके परराष्ट्र मंत्रीके पास एक पत्र भेजा, जिसमें कहा गया कि "······दोनों राष्ट्रोंमेंसे कोई भी ईरानके मामलोंमें हस्तक्षेप न करेगा, बशर्त्तें कि उनके देशवासियोंके जान-मालको नुकसान न पहुँचाया जाय। साथ ही ब्रिटेन-रूसके समझौतेके सम्बन्धमें जो काररवाई की जायगी, वह ईरानकी स्वतन्त्रताके विरुद्ध न होगी।" इसी तरह रूसकी ओरसे कहा गया कि "······दोमेंसे किसी भी देशकी इच्छा ईरानसे कुछ प्राप्त करनेकी नहीं है, अतः ईरान अपने आन्तरिक मामलोंका निपटारा करनेमें अपनी सारी शक्ति केन्द्रीभूत कर सकता है।···दोनों देशोंको आशा है कि भविष्यमें ईरानको विदेशियोंके हस्तक्षेपसे हमेशाके लिए छुटकारा मिल जायगा और इस प्रकार उसे अपनी इच्छाके अनुसार अपने मामलोंका फैसला करनेकी आज़ादी रहेगी।"

उपर्युक्त शब्दोंमें रूस तथा ब्रिटेनने जो सद्भाव प्रकट किया था, उसके अनुसार कार्य करनेकी उनकी इच्छा न थी, जैसा कि उनकी नीतिसे शीघ्र ही प्रमाणित हो गया। मुहम्मद

अलीशाह तथा राष्ट्रवादियोंके बीच जबतक संघर्ष चलता रहा, तबतक दोनों राष्ट्रोंकी ओरसे बराबर इस बातकी चेष्टा होती रही कि देशमें किसी तरह शान्ति स्थापित न होने पावे और न किसी सुदृढ़ शासनकी जड़ जमने पावे। वे यह भली भाँति समझ गये थे कि प्रजापक्षके बलवान् होनेसे दोनोंको हानि पहुँच सकती है। मुहम्मदअलीसे वे जो चाहते थे, करवा लेते थे, किन्तु राष्ट्रीय सरकारकी स्थापना हो जाने पर ऐसा करा सकनेकी कोई संभावना न थी। १९०७ की सन्धिके बाद १८ महीनेके भीतर ही दोनों देशोंकी सेनाएँ ईरानमें जा पहुँचीं। मुहम्मदअलीको सिंहासनच्युत करनेके बाद उसका नाबालिग पुत्र सिंहासनपर बैठा दिया गया और शासन-सुधारका प्रयत्न किया जाने लगा। रूस तथा ब्रिटेनकी कूटनीतिक चालोंके कारण राष्ट्रवादियोंको अनेक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा।

निर्वासित होकर मुहम्मदअली शाह रूस चला गया था और उसकी गुप्त सहायतासे पुनः राज्य प्राप्त करनेकी चेष्टा कर रहा था। यद्यपि वह किसी तरह हरा दिया गया, फिर भी विदेशियोंकी धूर्त्तताके कारण कठिनाइयाँ अब भी कम नहीं होने पायी थीं। इधर लड़ाइयों इत्यादिके कारण राज्यका खजाना खाली हो गया था। विवश होकर नयी सरकारने रूस तथा ब्रिटेनसे ऋण लेनेका निश्चय किया, किन्तु जब उक्त राष्ट्रोंने यह शर्त्त लगानी चाही कि "....रेलकी सड़क बनाने या तार लगाने आदिका ठेका किसी विदेशीको देनेके पहले ईरान-की सरकारको उन (रूस तथा ब्रिटेन) से परामर्श कर लेना होगा", तब उसने इस अपमानजनक शर्त्तपर ऋण लेनेसे इनकार कर दिया।

जब अवस्था अधिक खराब होने लगी, तब फरवरी १९११ में मजलिसने अमेरिकाकी सहायता लेनेका निश्चय किया। ईरानका अनुरोध स्वीकार कर अमेरिकाने मार्गन शुस्टर नामक एक योग्य अर्थनीतिज्ञको ईरान भेज दिया। शुस्टर और उसके चारों सहकारियोंको "ईरान सरकारकी आर्थिक तथा अर्थ-नीति सम्बन्धी सभी विषयों" की पूरी जिम्मेदारी सौंप दी गयी। शुस्टरने बड़ी तत्परताके साथ कोष-विभागका पुनः संघटन करना शुरू कर दिया। साथ ही उसने ऐसी सशस्त्र पुलिसकी योजना की जो कर तथा चुङ्गी वसूल करनेमें सहायता देनेके साथ साथ देशमें शान्ति स्थापित करनेका काम भी भली भाँति कर सके।

शुस्टरको शीघ्र ही ब्रिटेन तथा रूसके विरोधका सामना करना पड़ा। जैसा कि हम अभी लिख चुके हैं, पदच्युत शाहने रूसकी सहायतासे पुनः सिंहासनारूढ़ होनेका प्रयत्न किया था, किन्तु वह सफल न हो सका। इस विद्रोहमें शामिल होनेके कारण शुस्टरने शाहके भाईकी कुल जायदाद जब्त कर लेनेकी घोषणा कर दी। रूसी राजदूतकी सलाहसे कोसक जातीय रूसी सवार इसकी रक्षा कर रहे हैं, यह जान कर भी शुस्टर अपने कर्त्तव्यसे विमुख न हुआ। उसने उक्त जायदाद-पर क़ब्ज़ा करनेके लिए सशस्त्र पुलिसका एक बड़ा दस्ता भेज दिया। इस पर रूसने ईरान सरकारको लिखा कि सशस्त्र पुलिस फौरन वापस बुला ली जाय तथा इस घटनाके कारण रूसका जो अपमान हुआ है, उसके सम्बन्धमें माफी माँगी जाय, नहीं तो इसका प्रतिकार करनेके लिए रूसको बाध्य होकर अपनी सेना भेजनी होगी। ईरान सरकारने रूसकी इस

अहम्मन्यतापूर्ण माँगकी उपेक्षा की। तब कुछ ही दिनोंके भीतर रूसी सेना उत्तरी ईरानमें घुस पड़ी। नवम्बरके अन्त तक ताब्रिज तथा कज़विनमें साढ़े चार हजार रूसी सैनिक पहुँच चुके थे।

अब रूसने यह माँग पेश की कि ईरान सरकार शुस्टरको शीघ्र ही पदच्युत कर दे तथा भविष्यमें रूस और ब्रिटेनकी पूर्व स्वीकृतिके बिना किसी विदेशी विशेषज्ञको सरकारी पदपर नियुक्त न करे। साथ ही उसने इस बातपर भी ज़ोर दिया कि रूसी सेनाको ईरान भेजनेमें जो खर्च उठाना पड़ा है, उसका भार भी ईरान सरकार ही वहन करे। एक दुर्बल राष्ट्रको अपनी मृत्युका आज्ञापत्र स्वयं जारी करनेके लिए विवश करनेवाली इससे अधिक अपमानजनक शर्तें और हो ही क्या सकती थीं?

जब मजलिसके राष्ट्रवादी सदस्योंने सर्वसम्मतिसे रूसकी माँगोंको ठुकरा दिया, तब उसने अपनी सेनाको राजधानीकी ओर अग्रसर होनेकी आज्ञा दे दी। ब्रिटेनने चेष्टा की कि मज-लिस किसी तरह उपर्युक्त मांगोंको मंजूर कर ले। इसी बीच-में रूससे आर्थिक सहायता पानेवाले कुछ ईरानी नेताओंने अन्य लोगोंको प्रभावित कर शुस्टरको पदच्युत करा दिया। उसी दिन प्रधान मंत्री तथा अन्य कई मंत्रियोंकी इच्छासे मज-लिस अनिश्चित कालके लिए भंग कर दी गयी।

ईरानके मामलोंमें रूस और ब्रिटेनके हस्तक्षेपका कारण स्पष्ट ही है। शुस्टरकी काररवाइयोंसे वे यह भली भाँति समझ गये थे कि ईरानकी अवस्थाका सुधार होनेमें अधिक देर न लगेगी और वहाँ शीघ्र ही सुदृढ़ एवं स्वतंत्र सरकारका

स्थापित हो जाना निश्चित है। इसीसे उन्होंने ख़याल किया कि प्रतिकारका उपाय तुरन्त करना चाहिये, अन्यथा भविष्यमें हमारे व्यापार-वाणिज्य तथा अन्य हितोंकी रक्षामें बाधा पड़नेकी संभावना है।

सन् १९११ से १९१४ तक ईरानमें निरंकुश शासनका ज़ोर रहा। वहाँका सारा प्रबन्ध रूस तथा ब्रिटेनने अपने हाथमें ले लिया। दक्षिणमें ब्रिटेन तथा पश्चिमोत्तरमें रूसका विशेष प्रभाव था। रूसी प्रभावक्षेत्रके भीतर रहनेवाली जनताने तो ईरानी अधिकारियोंको कर देना तक बन्द कर दिया था। ईरानकी अवस्था उन देशोंसे भी गयी बीती थी जो साम्राज्यवादी राष्ट्रों द्वारा पूर्ण रूपसे हड़प लिये गये थे। जहाँ उक्त देशोंमें प्रायः व्यवस्थित शासनकी स्थापना तथा व्यापारिक उन्नतिका प्रयत्न किया जाता और रेल तथा सड़कें इत्यादि बनानेकी ओर विशेष ध्यान दिया जाता था, वहाँ दो राष्ट्रोंके प्रभावमें पड़कर, जो एक दूसरेको स्वतंत्रतापूर्वक कार्य नहीं करने देना चाहते थे, ईरानकी दुर्दशा हो गयी। यदि रूस ईरानके एक छोरसे दूसरे छोरतक रेलवे लाइन बनाना चाहता था, तो ब्रिटेन उसमें कोई न कोई अड़ंगा लगा देता था और यदि ब्रिटेन कुछ करना चाहता था तो रूस भी चुप नहीं रह सकता था। इसीसे क़रीब क़रीब १९२४ तक वहाँ कोई ३५० मील ही लम्बी रेलकी सड़क बन सकी थी, जब कि मिश्रमें तीन हजार तथा ट्यूनिसमें १२६० मील लम्बी रेलवे लाइन तैयार हो चुकी थी। यूरोपीय युद्ध छिड़नेके बाद तुर्की तथा जर्मनीने ईरानको अपनी ओर कर लेनेकी कोशिश की। सन् १९१६ के दिसम्बरमें यह निश्चित मालूम होने लगा कि ईरान अब जर्मनीका पक्ष ग्रहण

कर युद्धमें शरीक होने ही जा रहा है, किन्तु १४ दिसम्बरको ब्रिटिश तथा रूसी मंत्री शीघ्रतापूर्वक राज-भवनमें जा पहुँचे और किसी प्रकार शाहको समझाने बुझानेमें कृतकार्य हुए।

सन् १९१५ में रूस-ब्रिटेनमें ईरानके सम्बन्धमें यह गुप्त समझौता हो गया था कि दक्षिणके अतिरिक्त मध्य भाग भी, जो अभीतक तटस्थ भाग समझा जाता था, ब्रिटेनका प्रभाव-क्षेत्र मान लिया जाय और उत्तरमें रूसको यथानुरूप अपना प्रभाव बढ़ानेकी अनुमति दे दी जाय। रूसमें राज्य-क्रान्ति हो जानेके कारण सन् १९१७ के बाद ईरानपर अकेले ब्रिटेनका ही संरक्षण रह गया। ९ अगस्त १९१९ को ईरानके मंत्रिमंडलने विवश होकर ब्रिटेनसे एक सन्धि की, जिसके अनुसार ईरानके शासन, सेना, परराष्ट्रनीति तथा व्यापार-वाणिज्य आदिपर अंग्रेजोंका अखण्ड अधिकार हो जाता, किन्तु वहाँकी पार्लि-मेण्ट (मजलिस) द्वारा अस्वीकृत हो जानेके कारण सन्धिकी शर्त्तें कार्यमें परिणत न की जा सकीं।

अब रूसने नयी नीति ग्रहण की। सैनिक साम्राज्यवादके पीछे न पड़कर उसने पिछड़े हुए देशोंमें बोलशेविक सिद्धान्तों-का प्रचार कर अप्रत्यक्ष रूपसे अपना प्रभाव बढ़ाना शुरू किया। तुर्किस्तानमें उसकी यह नीति सफल हुई, किन्तु तुर्की, ईरान तथा अफ़गानिस्तानमें उसे विशेष सफलता नहीं मिली, हाँ इतना अवश्य हुआ कि स्वतंत्रता-प्राप्तिमें उसने इन देशोंको काफी मदद पहुँचायी।

रूस अपना साम्राज्य नहीं बढ़ाना चाहता था, किन्तु वह ईरानमें ब्रिटेनके प्रभावको अपने लिए खतरनाक समझता था। कारण यह था कि ब्रिटेन तो पक्का साम्राज्यवादी राष्ट्र है और

रूस साम्राज्यवादका जानी दुश्मन। इसीसे रूसने ईरानसे एक सन्धि की, जिसमें कहा गया था कि "रूसकी वर्त्तमान सरकार भूतपूर्व साम्राज्यवादी सरकारकी राज्य-विस्तारकी नीतिका अनुसरण न करेगी।...वे सब सन्धियाँ रद्द की जाती हैं जिनसे रूसका हित किन्तु ईरानकी हानि होती है।...अन्य राष्ट्र द्वारा ईरानपर आक्रमण होने पर रूसका कर्त्तव्य होगा कि वह उसकी सहायता करे।"

सन् १९२० के अन्तमें ईरानकी कोसक जातीय सेनाने तेहरानपर आक्रमण करनेकी तैयारी की और फरवरी १९२१ में बिना किसी विरोधके उसपर क़ब्ज़ा कर लिया। उनका नेता रिज़ाखाँ नामक सैनिक अफ्सर था, जो अपनी योग्यताके कारण एक छोटे पदसे उन्नति करता हुआ शीघ्र ही ईरानका प्रधान सेनापति तथा युद्ध-सचिव बन गया। वह इस बातका बड़ा ध्यान रखता था कि सैनिकोंका वेतन नियमित रूपसे मिलता रहे, इसीसे वे लोग उसके हुक्मपर मर मिटनेको तैयार रहते थे। उसने देशमें थोड़े ही समयके भीतर शान्ति और व्यवस्था स्थापित कर दी।

सन् १९२३ में रिज़ाखाँने ईरानके प्रधान मंत्रीका पद सुशोभित किया और १९२४ में उन्होंने वहाँ प्रजातंत्र स्थापित करनेका प्रयत्न किया। मुल्लाओंके विरोधके कारण उनका यह प्रयत्न सफल न हो सका। सन् १९२५ में मजलिसके अत्यधिक बहुमतसे वे ईरानके राजसिंहासनपर बैठा दिये गये।

जबसे ईरानका शासनसूत्र शाह रिज़ाखाँ पहलवीके हाथमें आया है, तबसे वे ईरानका गौरव बढ़ाने और उसे एक स्वतंत्र तथा समुन्नत राष्ट्र बनानेका प्रयत्न बराबर करते रहे हैं। देश-

रक्षाके प्रश्नकी ओर उन्होंने विशेष रूपसे ध्यान दिया है। "गत दस वर्षोंके भीतर ईरानने आधुनिक ढंगपर अपनी सेनाका पुनः संघटन कर लिया है। यह काम विदेशी विशेषज्ञोंकी सहायतासे, स्वयं ईरानियोंके ही नेतृत्वमें, किया गया है। ईरान की सरकारने चुने हुए ईरानी सैनिक अफ्सरोंको फ्रांसके सैनिक विद्यालयमें उच्च शिक्षा प्राप्त करनेके लिए भेजा है। वायुयानों-के प्रयोगकी शिक्षा दिलानेमें उसने जर्मन विशेषज्ञोंसे सहायता ली है। एक जहाजी बेड़ा, जो ईरानी समुद्रतटकी रक्षा करनेमें समर्थ हो, प्रस्तुत करानेमें सरकारने इटलीका सहयोग प्राप्त करनेकी चेष्टा की है।...राष्ट्र-रक्षाके सम्बन्धमें वह ब्रिटेन तथा रूससे कोई सहायता नहीं ले रहा है।"*

रेलकी सड़कें बनवाने तथा तार लगवानेकी ओर भी यथेष्ट ध्यान दिया गया है। इस सम्बन्धमें एक विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि रेल आदि निकालनेका ठेका किसी एक ही देशको न देकर प्रायः भिन्न भिन्न देशोंसे सहायता ली जा रही है। राष्ट्रका अधिकसे अधिक हित हो सके, इसका ध्यान खास तौरसे रखा जाता है। इसीसे २७ फरवरी १९३१ को वहाँके तार-मार्गोंका नियंत्रण उसने अपने हाथमें ले लिया। साठ वर्षसे ब्रिटेन ही उनका नियंत्रण करता आ रहा था, किन्तु अब उसके नियंत्रणका अन्त हो गया।

वर्त्तमान शाह रिज़ाखां राष्ट्रहितका कितना खयाल रखते हैं और उसमें बाधा पड़ने पर वे किस तत्परताके साथ उसे दूर करनेका प्रयत्न करते हैं, इसका एक उदाहरण "ऐंग्लो-पर्शियन" तैल कम्पनीका वह झगड़ा है, जो अभी हालमें ही उठ खड़ा

* माडर्न रिव्यू, मई १९३१

हुआ था। सन् १८८९ ईसवीमें न्यूज़ीलैण्डके डार्सी नामक एक पूँजीपतिने ईरान सरकारसे तेल निकालनेके सम्बन्धमें जो सुविधाएँ प्राप्त की थीं, उसीके फलस्वरूप ऐंग्लोपर्शियन आइल कम्पनीकी स्थापना हुई थी। १९०१ में इस कम्पनीने ईरानके शाहसे साठ वर्षोंके लिए उत्तरी पाँच जिलोंको छोड़कर अन्य सब भागोंमें तेल निकालनेका एकाधिकार प्राप्त कर लिया था। १९१४ में ब्रिटिश सरकारने इस कम्पनीके अधिकांश हिस्से खरीद लिये और यह तय कर लिया कि कम्पनी एक निर्दिष्ट कालतक उसे काफी परिणाममें तेल दिया करेगी। यह भी निश्चित हुआ कि (१) कम्पनी कोई ऐसा काम न करेगी, जिससे ब्रिटेनकी परराष्ट्रनीति या युद्ध-नीतिमें कोई बाधा पड़े, (२) यदि वह कोई नया कार्य शुरू करना चाहे या अपने कार्यक्रममें कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन करना चाहे, तो ऐसा करनेके पूर्व ब्रिटिश गवर्नमेण्टकी स्वीकृति लेना आवश्यक है, (३) कम्पनीने ब्रिटिश युद्ध-जहाज-विभागके हाथ तेल बेचनेका जो ठेका किया है, उसमें कोई व्यतिक्रम नहीं पड़ना चाहिये, इत्यादि।

इस कम्पनीने थोड़े ही समयके भीतर कितनी उन्नति कर-ली है, यह इसीसे स्पष्ट है कि जहाँ सन् १९१३ में उसने कुल ८० हजार टन तेल निकाला था, वहाँ १९२०-१९२१ में १३ लाख, १९२८-२९ में ५३ लाख टन निकाला (टन=लगभग २७.२ मन)। यूरोपीय युद्धके पहले और बादमें भी कुछ वर्षोंतक ब्रिटेनको तेलके लिए प्रधानतया अमेरिकापर ही निर्भर रहना पड़ता था, किन्तु आजकल आवश्यक तेलका कोई २५ प्रतिशत भाग ईरानसे मिल जाता है और ज़रूरत पड़ने पर वर्त्तमानकी

अपेक्षा दुगुना तेल वहाँकी खानोंसे निकाला जा सकता है। इसीसे जब २७ नवम्बर १९३२ को ईरान सरकारने तैल कम्पनीकी सुविधाएँ रद्द कर देनेकी आज्ञा निकाली, तब ब्रिटेनमें बड़ा असन्तोष फैला और वहाँके समाचारपत्र "ब्रिटिश सिंहकी पूँछ मरोड़ देने" की हिम्मत करनेवाले ईरानको लाल पीली आँखें दिखाने लगे।

ब्रिटेनके असन्तोषका कारण यह था कि उक्त तैल कम्पनी-से उसका स्वार्थ विशेष रूपसे सम्बद्ध है। वह एक साम्राज्य-वादी राष्ट्र है। उसे अपने साम्राज्यकी रक्षाके लिए एक बड़ा जहाजी बेड़ा रखना पड़ता है। इसके सिवाय उसके पास बहुतसे व्यापारी जहाज़ भी हैं, जो उसकी तथा और भी कई देशोंकी व्यापारिक वस्तुओंको लाने या ले जानेके काममें लगे रहते हैं। इन जहाजोंके कारण उसे मिट्टीके तेल (पेट्रोल) की बड़ी आवश्यकता है। ब्रिटिश-साम्राज्यमें जहाँ प्रायः अन्य सभी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, वहाँ तेलकी उत्पत्ति बिलकुल नाम मात्रको ही होती है। सारे संसारमें जितना तेल प्रति वर्ष उत्पन्न होता है, उसका कोई डेढ़ प्रतिशत भाग ही ब्रिटिश साम्राज्यमें, प्रधानतया ब्रह्मदेशमें, निकलता है। ऐसी अव-स्थामें ईरानकी तैल-कम्पनीसे जिस सुभीतेके साथ उसे पेट्रोल प्राप्त होता है, उसका जारी रहना उसके लिए अत्यन्त आवश्यक है। तैल-प्राप्तिमें बाधा पड़नेसे युद्धके समय तो संकट उपस्थित होनेकी संभावना है ही, किन्तु शान्तिके समय भी उसके कारण ब्रिटेनको बड़ी कठिनाईका सामना करना पड़ेगा, इसीसे उसने ईरान सरकारको लिखा था कि यदि १५ दिसम्बरतक उक्त तैल कम्पनीकी सुविधाएँ रद्द करनेवाली आज्ञा वापस न ली

ईरानके राष्ट्रवादियोंने ज़ोरोंसे इस सन्धिका विरोध किया। विरोधका कारण स्पष्ट ही था। सन्धिकी शर्त्तें तय करते समय ईरानवालोंसे ज़रा भी सलाह नहीं ली गयी थी, यद्यपि उन्हींसे इनका घनिष्ठ सम्बन्ध था, और न उसमें ईरानके हिताहितकी ओर ही कोई ध्यान दिया गया था। सन्धिमें ईरानके अधिकारोंकी पूर्ण उपेक्षा की गयी थी। उसमें यहाँतक गुञ्जाइश रखी गयी थी कि "कठिनाई" के समय यदि आवश्यकता हो तो दोनों राष्ट्र सम्मिलित रूपसे हस्तक्षेप कर सकेंगे! ईरानवालोंकी शंका दूर करनेके लिए तेहरानमें स्थित ब्रिटिश प्रतिनिधिने वहाँके परराष्ट्र मंत्रीके पास एक पत्र भेजा, जिसमें कहा गया कि "......दोनों राष्ट्रोंमेंसे कोई भी ईरानके मामलोंमें हस्तक्षेप न करेगा, बशर्त्तें कि उनके देशवासियोंके जानमालको नुकसान न पहुँचाया जाय। साथ ही ब्रिटेन-रूसके समझौतेके सम्बन्धमें जो कारवाई की जायगी, वह ईरानकी स्वतन्त्रताके विरुद्ध न होगी।" इसी तरह रूसकी ओरसे कहा गया कि "......दोमेंसे किसी भी देशकी इच्छा ईरानसे कुछ प्राप्त करनेकी नहीं है, अतः ईरान अपने आन्तरिक मामलोंका निपटारा करनेमें अपनी सारी शक्ति केन्द्रीभूत कर सकता है।...दोनों देशोंको आशा है कि भविष्यमें ईरानको विदेशियोंके हस्तक्षेपसे हमेशाके लिए छुटकारा मिल जायगा और इस प्रकार उसे अपनी इच्छाके अनुसार अपने मामलोंका फैसला करनेकी आज़ादी रहेगी।"

उपर्युक्त शब्दोंमें रूस तथा ब्रिटेनने जो सद्भाव प्रकट किया था, उसके अनुसार कार्य करनेकी उनकी इच्छा न थी, जैसा कि उनकी नीतिसे शीघ्र ही प्रमाणित हो गया। मुहम्मद

अलीशाह तथा राष्ट्रवादियोंके बीच जबतक संघर्ष चलता रहा, तबतक दोनों राष्ट्रोंकी ओरसे बराबर इस बातकी चेष्टा होती रही कि देशमें किसी तरह शान्ति स्थापित न होने पावे और न किसी सुदृढ़ शासनकी जड़ जमने पावे। वे यह भली भाँति समझ गये थे कि प्रजापक्षके बलवान् होनेसे दोनोंको हानि पहुँच सकती है। मुहम्मदअलीसे वे जो चाहते थे, करवा लेते थे, किन्तु राष्ट्रीय सरकारकी स्थापना हो जाने पर ऐसा करा सकनेकी कोई संभावना न थी। १९०७ की सन्धिके बाद १८ महीनेके भीतर ही दोनों देशोंकी सेनाएँ ईरानमें जा पहुँचीं। मुहम्मदअलीको सिंहासनच्युत करनेके बाद उसका नाबालिग पुत्र सिंहासनपर बैठा दिया गया और शासन-सुधारका प्रयत्न किया जाने लगा। रूस तथा ब्रिटेनकी कूटनीतिक चालोंके कारण राष्ट्रवादियोंको अनेक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा।

निर्वासित होकर मुहम्मदअली शाह रूस चला गया था और उसकी गुप्त सहायतासे पुनः राज्य प्राप्त करनेकी चेष्टा कर रहा था। यद्यपि वह किसी तरह हरा दिया गया, फिर भी विदेशियोंकी धूर्त्तताके कारण कठिनाइयाँ अब भी कम नहीं होने पायी थीं। इधर लड़ाइयों इत्यादिके कारण राज्यका खजाना खाली हो गया था। विवश होकर नयी सरकारने रूस तथा ब्रिटेनसे ऋण लेनेका निश्चय किया, किन्तु जब उक्त राष्ट्रोंने यह शर्त्त लगानी चाही कि "....रेलकी सड़क बनाने या तार लगाने आदिका ठेका किसी विदेशीको देनेके पहले ईरान-की सरकारको उन (रूस तथा ब्रिटेन) से परामर्श कर लेना होगा", तब उसने इस अपमानजनक शर्त्तपर ऋण लेनेसे इनकार कर दिया।

जब अवस्था अधिक खराब होने लगी, तब फरवरी १९११ में मजलिसने अमेरिकाकी सहायता लेनेका निश्चय किया। ईरानका अनुरोध स्वीकार कर अमेरिकाने मार्गन शुस्टर नामक एक योग्य अर्थनीतिज्ञको ईरान भेज दिया। शुस्टर और उसके चारों सहकारियोंको "ईरान सरकारकी आर्थिक तथा अर्थ-नीति सम्बन्धी सभी विषयों" की पूरी जिम्मेदारी सौंप दी गयी। शुस्टरने बड़ी तत्परताके साथ कोष-विभागका पुनः संघटन करना शुरू कर दिया। साथ ही उसने ऐसी सशस्त्र पुलिसकी योजना की जो कर तथा चुङ्गी वसूल करनेमें सहायता देनेके साथ साथ देशमें शान्ति स्थापित करनेका काम भी भली भाँति कर सके।

शुस्टरको शीघ्र ही ब्रिटेन तथा रूसके विरोधका सामना करना पड़ा। जैसा कि हम अभी लिख चुके हैं, पदच्युत शाहने रूसकी सहायतासे पुनः सिंहासनारूढ़ होनेका प्रयत्न किया था, किन्तु वह सफल न हो सका। इस विद्रोहमें शामिल होनेके कारण शुस्टरने शाहके भाईकी कुल जायदाद जब्त कर लेनेकी घोषणा कर दी। रूसी राजदूतकी सलाहसे कोसक जातीय रूसी सवार इसकी रक्षा कर रहे हैं, यह जान कर भी शुस्टर अपने कर्त्तव्यसे विमुख न हुआ। उसने उक्त जायदाद्-पर क़ब्ज़ा करनेके लिए सशस्त्र पुलिसका एक बड़ा दस्ता भेज दिया। इस पर रूसने ईरान सरकारको लिखा कि सशस्त्र पुलिस फौरन वापस बुला ली जाय तथा इस घटनाके कारण रूसका जो अपमान हुआ है, उसके सम्बन्धमें माफी माँगी जाय, नहीं तो इसका प्रतिकार करनेके लिए रूसको बाध्य होकर अपनी सेना भेजनी होगी। ईरान सरकारने रूसकी इस

अहम्मन्यतापूर्ण माँगकी उपेक्षा की। तब कुछ ही दिनोंके भीतर रूसी सेना उत्तरी ईरानमें घुस पड़ी। नवम्बरके अन्त तक ताब्रिज तथा कज़विनमें साढ़े चार हजार रूसी सैनिक पहुँच चुके थे।

अब रूसने यह माँग पेश की कि ईरान सरकार शुस्टरको शीघ्र ही पदच्युत कर दे तथा भविष्यमें रूस और ब्रिटेनकी पूर्व स्वीकृतिके बिना किसी विदेशी विशेषज्ञको सरकारी पदपर नियुक्त न करे। साथ ही उसने इस बातपर भी ज़ोर दिया कि रूसी सेनाको ईरान भेजनेमें जो खर्च उठाना पड़ा है, उसका भार भी ईरान सरकार ही वहन करे। एक दुर्बल राष्ट्रको अपनी मृत्युका आज्ञापत्र स्वयं जारी करनेके लिए विवश करनेवाली इससे अधिक अपमानजनक शर्त्तें और हो ही क्या सकती थीं ?

जब मजलिसके राष्ट्रवादी सदस्योंने सर्वसम्मतिसे रूसकी माँगोंको ठुकरा दिया, तब उसने अपनी सेनाको राजधानीकी ओर अग्रसर होनेकी आज्ञा दे दी। ब्रिटेनने चेष्टा की कि मजलिस किसी तरह उपर्युक्त मांगोंको मंजूर कर ले। इसी बीचमें रूससे आर्थिक सहायता पानेवाले कुछ ईरानी नेताओंने अन्य लोगोंको प्रभावित कर शुस्टरको पदच्युत करा दिया। उसी दिन प्रधान मंत्री तथा अन्य कई मंत्रियोंकी इच्छासे मजलिस अनिश्चित कालके लिए भंग कर दी गयी।

ईरानके मामलोंमें रूस और ब्रिटेनके हस्तक्षेपका कारण स्पष्ट ही है। शुस्टरकी काररवाइयोंसे वे यह भली भाँति समझ गये थे कि ईरानकी अवस्थाका सुधार होनेमें अधिक देर न लगेगी और वहाँ शीघ्र ही सुदढ़ एवं स्वतंत्र सरकारका

स्थापित हो जाना निश्चित है। इसीसे उन्होंने ख़याल किया कि प्रतिकारका उपाय तुरन्त करना चाहिये, अन्यथा भविष्यमें हमारे व्यापार-वाणिज्य तथा अन्य हितोंकी रक्षामें बाधा पड़नेकी संभावना है।

सन् १९११ से १९१४ तक ईरानमें निरंकुश शासनका ज़ोर रहा। वहाँका सारा प्रबन्ध रूस तथा ब्रिटेनने अपने हाथमें ले लिया। दक्षिणमें ब्रिटेन तथा पश्चिमोत्तरमें रूसका विशेष प्रभाव था। रूसी प्रभावक्षेत्रके भीतर रहनेवाली जनताने तो ईरानी अधिकारियोंको कर देना तक बन्द कर दिया था। ईरानकी अवस्था उन देशोंसे भी गयी बीती थी जो साम्राज्यवादी राष्ट्रों द्वारा पूर्ण रूपसे हड़प लिये गये थे। जहाँ उक्त देशोंमें प्रायः व्यवस्थित शासनकी स्थापना तथा व्यापारिक उन्नतिका प्रयत्न किया जाता और रेल तथा सड़कें इत्यादि बनानेकी ओर विशेष ध्यान दिया जाता था, वहाँ दो राष्ट्रोंके प्रभावमें पड़कर, जो एक दूसरेको स्वतंत्रतापूर्वक कार्य नहीं करने देना चाहते थे, ईरानकी दुर्दशा हो गयी। यदि रूस ईरानके एक छोरसे दूसरे छोरतक रेलवे लाइन बनाना चाहता था, तो ब्रिटेन उसमें कोई न कोई अड़ंगा लगा देता था और यदि ब्रिटेन कुछ करना चाहता था तो रूस भी चुप नहीं रह सकता था। इसीसे क़रीब क़रीब १९२४ तक वहाँ कोई ३५० मील ही लम्बी रेलकी सड़क बन सकी थी, जब कि मिश्रमें तीन हजार तथा ट्यूनिसमें १२६० मील लम्बी रेलवे लाइन तैयार हो चुकी थी। यूरोपीय युद्ध छिड़नेके बाद तुर्की तथा जर्मनीने ईरानको अपनी ओर कर लेनेकी कोशिश की। सन् १९१६ के दिसम्बरमें यह निश्चित मालूम होने लगा कि ईरान अब जर्मनीका पक्ष ग्रहण

कर युद्धमें शरीक होने ही जा रहा है, किन्तु १४ दिसम्बरको ब्रिटिश तथा रूसी मंत्री शीघ्रतापूर्वक राज-भवनमें जा पहुँचे और किसी प्रकार शाहको समझाने बुझानेमें कृतकार्य हुए।

सन् १९१५ में रूस-ब्रिटेनमें ईरानके सम्बन्धमें यह गुप्त समझौता हो गया था कि दक्षिणके अतिरिक्त मध्य भाग भी, जो अभीतक तटस्थ भाग समझा जाता था, ब्रिटेनका प्रभाव-क्षेत्र मान लिया जाय और उत्तरमें रूसको यथानुरूप अपना प्रभाव बढ़ानेकी अनुमति दे दी जाय। रूसमें राज्य-क्रान्ति हो जानेके कारण सन् १९१७ के बाद ईरानपर अकेले ब्रिटेनका ही संरक्षण रह गया। ९ अगस्त १९१९ को ईरानके मंत्रिमंडलने विवश होकर ब्रिटेनसे एक सन्धि की, जिसके अनुसार ईरानके शासन, सेना, परराष्ट्रनीति तथा व्यापार-वाणिज्य आदिपर अंग्रेजोंका अखण्ड अधिकार हो जाता, किन्तु वहाँकी पार्लिमेण्ट (मजलिस) द्वारा अस्वीकृत हो जानेके कारण सन्धिकी शर्त्तें कार्यमें परिणत न की जा सकीं।

अब रूसने नयी नीति ग्रहण की। सैनिक साम्राज्यवादके पीछे न पड़कर उसने पिछड़े हुए देशोंमें बोलशेविक सिद्धान्तोंका प्रचार कर अप्रत्यक्ष रूपसे अपना प्रभाव बढ़ाना शुरू किया। तुर्किस्तानमें उसकी यह नीति सफल हुई, किन्तु तुर्की, ईरान तथा अफ़गानिस्तानमें उसे विशेष सफलता नहीं मिली, हाँ इतना अवश्य हुआ कि स्वतंत्रता-प्राप्तिमें उसने इन देशोंको काफी मदद पहुँचायी।

रूस अपना साम्राज्य नहीं बढ़ाना चाहता था, किन्तु वह ईरानमें ब्रिटेनके प्रभावको अपने लिए खतरनाक समझता था। कारण यह था कि ब्रिटेन तो पक्का साम्राज्यवादी राष्ट्र है और

रूस साम्राज्यवादका जानी दुश्मन। इसीसे रूसने ईरानसे एक सन्धि की, जिसमें कहा गया था कि "रूसकी वर्त्तमान सरकार भूतपूर्व साम्राज्यवादी सरकारकी राज्य-विस्तारकी नीतिका अनुसरण न करेगी।...वे सब सन्धियाँ रद्द की जाती हैं जिनसे रूसका हित किन्तु ईरानकी हानि होती है।...अन्य राष्ट्र द्वारा ईरानपर आक्रमण होने पर रूसका कर्त्तव्य होगा कि वह उसकी सहायता करे।"

सन् १९२० के अन्तमें ईरानकी कोसक जातीय सेनाने तेहरानपर आक्रमण करनेकी तैयारी की और फरवरी १९२१ में बिना किसी विरोधके उसपर क़ब्ज़ा कर लिया। उनका नेता रिज़ाखाँ नामक सैनिक अफ्सर था, जो अपनी योग्यताके कारण एक छोटे पदसे उन्नति करता हुआ शीघ्र ही ईरानका प्रधान सेनापति तथा युद्ध-सचिव बन गया। वह इस बातका बड़ा ध्यान रखता था कि सैनिकोंका वेतन नियमित रूपसे मिलता रहे, इसीसे वे लोग उसके हुक्मपर मर मिटनेको तैयार रहते थे। उसने देशमें थोड़े ही समयके भीतर शान्ति और व्यवस्था स्थापित कर दी।

सन् १९२३ में रिज़ाखाँने ईरानके प्रधान मंत्रीका पद सुशोभित किया और १९२४ में उन्होंने वहाँ प्रजातंत्र स्थापित करनेका प्रयत्न किया। मुल्लाओंके विरोधके कारण उनका यह प्रयत्न सफल न हो सका। सन् १९२५ में मजलिसके अत्यधिक बहुमतसे वे ईरानके राजसिंहासनपर बैठा दिये गये।

जबसे ईरानका शासनसूत्र शाह रिज़ाखाँ पहलवीके हाथमें आया है, तबसे वे ईरानका गौरव बढ़ाने और उसे एक स्वतंत्र तथा समुन्नत राष्ट्र बनानेका प्रयत्न बराबर करते रहे हैं। देश-

रक्षाके प्रश्नकी ओर उन्होंने विशेष रूपसे ध्यान दिया है। "गत दस वर्षोंके भीतर ईरानने आधुनिक ढंगपर अपनी सेनाका पुनः संघटन कर लिया है। यह काम विदेशी विशेषज्ञोंकी सहायतासे, स्वयं ईरानियोंके ही नेतृत्वमें, किया गया है। ईरान की सरकारने चुने हुए ईरानी सैनिक अफसरोंको फ्रांसके सैनिक विद्यालयमें उच्च शिक्षा प्राप्त करनेके लिए भेजा है। वायुयानों-के प्रयोगकी शिक्षा दिलानेमें उसने जर्मन विशेषज्ञोंसे सहायता ली है। एक जहाजी बेड़ा, जो ईरानी समुद्रतटकी रक्षा करनेमें समर्थ हो, प्रस्तुत करानेमें सरकारने इटलीका सहयोग प्राप्त करनेकी चेष्टा की है।...राष्ट्र-रक्षाके सम्बन्धमें वह ब्रिटेन तथा रूससे कोई सहायता नहीं ले रहा है।"*

रेलकी सड़कें बनवाने तथा तार लगवानेकी ओर भी यथेष्ट ध्यान दिया गया है। इस सम्बन्धमें एक विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि रेल आदि निकालनेका ठेका किसी एक ही देशको न देकर प्रायः भिन्न भिन्न देशोंसे सहायता ली जा रही है। राष्ट्रका अधिकसे अधिक हित हो सके, इसका ध्यान खास तौरसे रखा जाता है। इसीसे २७ फरवरी १९३१ को वहाँके तार-मार्गोंका नियंत्रण उसने अपने हाथमें ले लिया। साठ वर्षसे ब्रिटेन ही उनका नियंत्रण करता आ रहा था, किन्तु अब उसके नियंत्रणका अन्त हो गया।

वर्त्तमान शाह रिज़ाखां राष्ट्रहितका कितना ख़याल रखते हैं और उसमें बाधा पड़ने पर वे किस तत्परताके साथ उसे दूर करनेका प्रयत्न करते हैं, इसका एक उदाहरण "ऐंग्लो-पर्शियन" तैल कम्पनीका वह झगड़ा है, जो अभी हालमें ही उठ खड़ा

* माडर्न रिव्यू, मई १९३१

हुआ था। सन् १८८९ ईसवीमें न्यूज़ीलैण्डके डार्सी नामक एक पूँजीपतिने ईरान सरकारसे तेल निकालनेके सम्बन्धमें जो सुविधाएँ प्राप्त की थीं, उसीके फलस्वरूप ऐंग्लोपर्शियन आइल कम्पनीकी स्थापना हुई थी। १९०१ में इस कम्पनीने ईरानके शाहसे साठ वर्षोंके लिए उत्तरी पाँच जिलोंको छोड़कर अन्य सब भागोंमें तेल निकालनेका एकाधिकार प्राप्त कर लिया था। १९१४ में ब्रिटिश सरकारने इस कम्पनीके अधिकांश हिस्से खरीद लिये और यह तय कर लिया कि कम्पनी एक निर्दिष्ट कालतक उसे काफी परिणाममें तेल दिया करेगी। यह भी निश्चित हुआ कि (१) कम्पनी कोई ऐसा काम न करेगी, जिससे ब्रिटेनकी परराष्ट्रनीति या युद्ध-नीतिमें कोई बाधा पड़े, (२) यदि वह कोई नया कार्य शुरू करना चाहे या अपने कार्यक्रममें कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन करना चाहे, तो ऐसा करनेके पूर्व ब्रिटिश गवर्नमेण्टकी स्वीकृति लेना आवश्यक है, (३) कम्पनीने ब्रिटिश युद्ध-जहाज-विभागके हाथ तेल बेचनेका जो ठेका किया है, उसमें कोई व्यतिक्रम नहीं पड़ना चाहिये, इत्यादि।

इस कम्पनीने थोड़े ही समयके भीतर कितनी उन्नति करली है, यह इसीसे स्पष्ट है कि जहाँ सन् १९१३ में उसने कुल ८० हजार टन तेल निकाला था, वहाँ १९२०-१९२१ में १३ लाख, १९२८-२९ में ५३ लाख टन निकाला (टन=लगभग २७·२ मन)। यूरोपीय युद्धके पहले और बादमें भी कुछ वर्षोंतक ब्रिटेनको तेलके लिए प्रधानतया अमेरिकापर ही निर्भर रहना पड़ता था, किन्तु आजकल आवश्यक तेलका कोई २५ प्रतिशत भाग ईरानसे मिल जाता है और ज़रूरत पड़ने पर वर्तमानकी

अपेक्षा दुगुना तेल वहाँकी खानोंसे निकाला जा सकता है। इसीसे जब २७ नवम्बर १९३२ को ईरान सरकारने तैल कम्पनीकी सुविधाएँ रद्द कर देनेकी आज्ञा निकाली, तब ब्रिटेनमें बड़ा असन्तोष फैला और वहाँके समाचारपत्र "ब्रिटिश सिंहकी पूँछ मरोड़ देने" की हिम्मत करनेवाले ईरानको लाल पीली आँखें दिखाने लगे।

ब्रिटेनके असन्तोषका कारण यह था कि उक्त तैल कम्पनी-से उसका स्वार्थ विशेष रूपसे सम्बद्ध है। वह एक साम्राज्य-वादी राष्ट्र है। उसे अपने साम्राज्यकी रक्षाके लिए एक बड़ा जहाजी बेड़ा रखना पड़ता है। इसके सिवाय उसके पास बहुतसे व्यापारी जहाज़ भी हैं, जो उसकी तथा और भी कई देशोंकी व्यापारिक वस्तुओंको लाने या ले जानेके काममें लगे रहते हैं। इन जहाजोंके कारण उसे मिट्टीके तेल (पेट्रोल) की बड़ी आवश्यकता है। ब्रिटिश-साम्राज्यमें जहाँ प्रायः अन्य सभी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, वहाँ तेलकी उत्पत्ति बिलकुल नाम मात्रको ही होती है। सारे संसारमें जितना तेल प्रति वर्ष उत्पन्न होता है, उसका कोई डेढ़ प्रतिशत भाग ही ब्रिटिश साम्राज्यमें, प्रधानतया ब्रह्मदेशमें, निकलता है। ऐसी अव-स्थामें ईरानकी तैल-कम्पनीसे जिस सुभीतेके साथ उसे पेट्रोल प्राप्त होता है, उसका जारी रहना उसके लिए अत्यन्त आवश्यक है। तैल-प्राप्तिमें बाधा पड़नेसे युद्धके समय तो संकट उपस्थित होनेकी संभावना है ही, किन्तु शान्तिके समय भी उसके कारण ब्रिटेनको बड़ी कठिनाईका सामना करना पड़ेगा, इसीसे उसने ईरान सरकारको लिखा था कि यदि १५ दिसम्बरतक उक्त तैल कम्पनीकी सुविधाएँ रद्द करनेवाली आज्ञा वापस न ली

गयी, तो मामला विचारार्थ हेगके अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयमें भेज दिया जायगा।

इस मामलेमें ईरान सरकारने जो काररवाई की थी, उसका यह आशय न था कि वह उक्त कम्पनीको ईरानमें तेल निकालने ही नहीं देना चाहती थी और न उसके साथ किसी तरहकी रियायत करनेको तैयार थी। उसकी मंशा सिर्फ इस बातपर ज़ोर देनेकी थी कि तैल-व्यवसाय केवल ब्रिटेनके हितकी दृष्टिसे न किया जाय, उसमें ईरानके हितका भी खयाल किया जाना चाहिये।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि जिस समय तैल कम्पनीके साथ रिआयत की गयी थी, उस समय ईरान बिलकुल शक्तिहीन और निर्जीव सा था। वहाँका नवयुवक शाह विलास और आनन्दोपभोगमें मग्न रहता था। राष्ट्रके हिताहितकी उसे विशेष चिन्ता न थी। अंग्रेजोंके हाथकी कठपुतली होनेके कारण सन् १९०१ में उसने साठ वर्षके लिए उक्त कम्पनीको ठेका देना स्वीकार कर लिया। इसीसे रिज़ाखाँकी सरकारने ब्रिटेनको साफ साफ लिख दिया कि भूतपूर्व शाहपर दबाव डालकर जिस शर्त्तनामेपर हस्ताक्षर कराये गये थे, वह जायज़ नहीं कहा जा सकता और वर्त्तमान सरकार उसे माननेके लिए बाध्य नहीं।

ठेकेकी शर्त्तोंके अनुसार यह तय हुआ था कि कम्पनी अपने "विशुद्ध" लाभका सोलहवाँ भाग ईरान सरकारको रायलटी (मुनाफेके हिस्से) के रूपमें देगी; किन्तु एक तो ईरान सरकारके आग्रह करने पर भी कम्पनी अपना हिसाब-किताब जाँचने नहीं देती थी, जिससे पता चलता कि वह

रायलटीकी उचित रक़म दे रही है या नहीं; दूसरे, लाभके साथ जो "विशुद्ध" शब्द रखा गया है, उसकी आड़में वह अपने बढ़ते हुए खर्चका बहाना कर उचितसे कम रक़म ही ईरान सरकारको देती रही है।

कम्पनीने एकाध बार अनधिकार चेष्टा करनेका भी उपक्रम किया था। जिस क्षेत्रके भीतर तेल निकालनेका ठेका उसे दिया गया था, उसके बाहर भी तैल-कूप खोदनेका प्रयत्न उसने किया था। ईरान सरकारके हस्तक्षेप करने और दृढ़तासे काम लेने पर उसे इस चेष्टासे विरत होना पड़ा। कम्पनीकी इन्हीं सब हर-कतोंसे लाचार होकर ईरान सरकारको उक्त शर्त्तनामा रद्द कर देना पड़ा। सरकारके इस निर्णयसे सारे देशमें खुशीकी लहर फैल गयी। शहरोंमें जुलूस निकाले गये। रातको दीवाली मनायी गयी। यहाँ तक कि सिनेमा कम्पनियोंने एक दिनके लिए सबको मुफ्तमें ही तमाशा दिखलाना स्वीकार कर लिया।

ब्रिटिश सरकारने जो पत्र ईरानके पास भेजा था, उसमें यह धमकी दी गयी थी कि यदि ईरान-सरकारकी नीतिके कारण तैल कम्पनीको कोई नुकसान हुआ, तो इसके लिए वह पूर्णतः जिम्मेदार समझी जायगी और यदि कम्पनीके व्यवसायमें कोई बाधा डाली गयी...तो अवस्थानुसार ब्रिटिश सरकारको कम्पनीकी रक्षाके निमित्त आवश्यक व्यवस्था करनेके लिए बाध्य होना पड़ेगा। ब्रिटेनकी धमकीसे यह ध्वनि निकलती थी कि यदि ईरानकी सरकार कम्पनीके स्वार्थ-साधनमें बाधा खड़ी करेगी तो ब्रिटेन अपना जहाज़ी बेड़ा भेजकर उससे जवाब तलब करेगा। वहाँके साम्राज्यवादी समाचारपत्रोंने भी इस बातपर ज़ोर दिया कि ईरानको उचित सबक सिखा

दिया जाय, जिसमें फिर कभी ऐसी हिमाक़त करनेकी हिम्मत उसे न हो, किन्तु ब्रिटिश सरकारने इस समय कुछ अधिक समझदारीसे काम लेना ही उचित समझा।*

राष्ट्रसंघकी मध्यस्थतासे मामलेका निपटारा सन्तोषजनक रूपसे हो गया। एँग्लोपर्शियन आइल कम्पनीसे जो नया समझौता हुआ, उसके अनुसार यह तय हुआ कि मुनाफेका १६ प्रतिशत अंश देनेके बजाय अब कम्पनी प्रत्येक टन तेलके पीछे चार सोनेके शिलिंग दिया करेगी। इस व्यवस्थाके कारण अब यह झंझट नहीं रह गया है कि कम्पनी उचित रूपसे खर्च कर रही है या अनावश्यक रूपसे रुपया उड़ा रही है। उसे कम लाभ हो या अधिक, ईरान सरकारकी आयपर उसका कोई प्रभाव न पड़ेगा।

ईरान सरकारकी एक शिकायत यह थी कि कम्पनी ईरानमें तेल निकालनेकी ओर यथेष्ट ध्यान न देकर ईरानके बाहर तेल निकालनेका प्रयत्न करती थी, किन्तु अब उसने हर साल कमसे कम ५० लाख टन तेल निकालनेकी प्रतिज्ञा की, जिससे ईरानको अधिक नहीं तो दस लाख पौण्ड प्रति वर्ष मिलना निश्चित है। कम्पनी पहले आय-कर नहीं देती थी किन्तु अब उसने यह कर देना भी स्वीकार कर लिया। इसके अतिरिक्त उसने यह भी मंजूर किया कि मामूली हिस्सोंपर ५ फी सैकड़ा मुनाफा बाँट देनेके बाद जो रक़म शेष रह जायगी, उसका भी पाँचवाँ भाग ईरान सरकारको दिया जायगा।

---

*तैल कम्पनीके झगड़ेका जो विवरण यहाँ दिया गया है, वह २६ दिसम्बर १९३२ के "जागरण" में प्रकाशित लेखकके "ब्रिटेन और ईरानमें तनातनी" शीर्षक लेखका परिवर्तित रूप है।

तात्पर्य यह है कि ईरानके वर्त्तमान शाह रिज़ाखाँ पहलवी राष्ट्रहितको सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। यही कारण है कि वे शुरूसे ही साम्राज्यवादी राष्ट्रोंके चंगुलसे ईरानकी रक्षा करनेका प्रयत्न करते रहे हैं। उनकी कूटनीतिमयी चालोंका रहस्य वे भलीभाँति समझ गये हैं और इस सम्बन्धमें इतने सतर्क हो गये हैं कि न तो उनके प्रलोभनोंका ही उनपर कोई असर पड़ता है और न वे उनकी धमकियोंसे ही प्रभावित होते हैं। उनकी इस दृढ़ताका ही यह परिणाम हुआ है कि ब्रिटेनके सदृश शक्तिसम्पन्न राष्ट्रको भी उनकी सरकारके साथ समझौता करनेके लिए बाध्य होना पड़ा है। इतना ही नहीं, अब ईरान और ब्रिटेनमें व्यापारिक तथा राजनीतिक सन्धिके सम्बन्धमें भी बातचीत हो रही है। यदि यह प्रयत्न सफल हुआ और इन दोनों राष्ट्रोंमें परस्पर मैत्री-भाव स्थापित हो गया तो ब्रिटेनके लिए रूसी खतरेकी चिन्ता न रह जायगी, क्योंकि 'डेली एक्सप्रेस' के कथनानुसार इस सन्धिमें ईराक और भारतको मिलानेवाली नार्थ पर्शियन रेलवेपरसे रूसी प्रभावको मिटा देनेकी बात भी शामिल है।

आठवाँ अध्याय

भारतपर ब्रिटेनका आधिपत्य

वर्त्तमान साम्राज्यवादका सबसे बड़ा उदाहरण कदाचित् भारतवर्ष है, क्योंकि संसारमें और कहीं भी इतने बड़े

भूभागपर, जिसमें भिन्न भिन्न जातियों और सम्प्रदायोंके ३३ करोड़ मनुष्य रहते हों, केवल एक ही देशका प्रभुत्व स्थापित नहीं है। समस्त ब्रिटिश साम्राज्यकी कोई ४५ करोड़की आबादीमेंसे ३३ करोड़ अर्थात् लगभग तीन चौथाई भारतकी ही है। ब्रिटेनका लगभग १२० करोड़ रुपयेका माल प्रति वर्ष भारतमें खपता है अर्थात् भारतके आयात व्यापारका क़रीब दो तिहाई भाग ब्रिटेनके ही अधिकारमें है। उसी प्रकार हिन्दुस्थानसे जो कच्चा माल तथा अन्नादि बाहर जाता है, उसका काफी बड़ा भाग ब्रिटेन ही लेता है।

अंग्रेज लोग शुरू शुरूमें व्यापार करनेके उद्देश्यसे ही भारतवर्षमें आये थे और उन्होंने इस देशमें अपना व्यापार फैलाकर अधिकसे अधिक रुपया बटोरनेकी ओर विशेष ध्यान दिया। यद्यपि ईस्ट इण्डिया कम्पनीके शासन-कालमें यह बात जितनी प्रत्यक्ष थी, उतनी अब नहीं मालूम होती, फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि भारतमें ब्रिटेनकी राजनीतिक सत्ताका मुख्य आधार इस समय भी उसका व्यापारिक महत्त्व ही है। ब्रिटेनके लिए भारतका आर्थिक महत्त्व कितनी शीघ्रतासे बढ़ता रहा है, यह इसीसे स्पष्ट है कि सन् १८७५ से १९१३ के भीतर भारतका आयात लगभग पाँच सौ गुना और निर्यात साढ़े तीन सौ गुना हो गया है। गत ६०–७० वर्षोंमें यहाँके उद्योग-व्यवसाय या अन्य कामोंमें लगी हुई ब्रिटिश पूँजीकी तादाद भी बहुत बढ़ गयी है। भारतके सरकारी ऋणका, जो इस समय कोई ग्यारह अरब रुपये तक पहुँच चुका है, एक बड़ा भाग ब्रिटिश पूँजीपतियोंसे ही प्राप्त किया गया है। इसके सिवाय यहाँकी छः सात हजार कम्पनियोंके सञ्चालनमें भी ब्रिटिश पूँजीका हाथ

है। गत यूरोपीय युद्धके पहले ही भारतमें लगी हुई ब्रिटिश पूँजीकी मात्रा ४० करोड़ पौण्डतक पहुँच चुकी थी और अब वह इसकी दुगुनीसे भी अधिक हो गयी है। विलियम डिग्बीके कथनानुसार भारतमें ब्रिटिश राज्य स्थापित होनेके बाद शुरू-के ही ५८ वर्षोंमें १ अरब पौण्ड अर्थात् कोई १५ अरब रुपया शुद्ध लूटके रूपमें यहाँसे इंग्लैण्ड पहुँचा।* इस हिसाबसे लगभग २५ करोड़ रुपये प्रति वर्षका औसत पड़ा। भारतसे ब्रिटेनको आजतक कितना लाभ हुआ होगा, इसका अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है।

फिर ब्रिटेनको भारतसे जो आर्थिक लाभ होता है, वह तो है ही; उसके सिवाय प्रधानतया भारतके ही कारण वह एक प्रथम श्रेणीका राष्ट्र बना हुआ है और उसकी सैनिक शक्ति भी बहुत बढ़ी हुई है। बर्लिन विश्वविद्यालयके प्रोफेसर श्री डी० एन० बनर्जीके शब्दोंमें "ब्रिटिश सैनिकोंके लिए भारतवर्ष सैनिक अभ्यासकी भूमिका काम देता है। ब्रिटेन वहाँ जो सेना रखता है, उसके पीछे देशकी आमदनीका लगभग ६० प्रति शत अंश खर्च हो जाता है। पश्चिमोत्तर सीमा-के उस पार अरक्षित गाँवोंपर बम बरसा कर अंग्रेजी हवाई जहाजोंके सञ्चालक भी अपने कामकी यथोचित शिक्षा प्राप्त करनेका मौक़ा पा जाते हैं।...भारतमें शान्ति और व्यवस्था बनाये रखनेके बहाने ग्रेट ब्रिटेन पूरी पूरी सैनिक तथा जहाजी बेड़ेकी तैयारी रखता है, जिसमें संसारके किसी भी भागमें संकट उपस्थित होने पर वह उसका सामना करनेमें समर्थ हो सके। अतीत कालमें ब्रह्मदेश, मिश्र, सूदान और चीनमें भी

* प्रास्परस ब्रिटिश इण्डिया, पृ० ३३

ब्रिटेनकी ओरसे जो लड़ाइयाँ लड़ी गयीं थीं, उनका खर्च उठानेके लिए भारत ही विवश किया गया था।" *

भारतके इस व्यापारिक तथा सैनिक महत्त्वके कारण ही अंग्रेज लोग इसे अपने चंगुलसे निकलने नहीं देना चाहते। उन्नीसवीं शताब्दीमें उनकी ओरसे हमेशा इस बातकी कोशिश की जाती रही कि जहाँतक बन पड़े इंग्लैण्ड तथा भारतके बीचके सभी जल और स्थल मार्ग इंग्लैण्ड या उसके मित्रोंके ही अधिकारमें रहें। अंग्रेजोंने भूमध्य सागर, मिश्र तथा सीरियामें नैपोलियनके साथ जो युद्ध किये थे, वे सब वस्तुतः भारतके लिए ही किये गये थे। भारतके मार्गसे स्वेज नहरका घनिष्ठ संबंध होनेके कारण ही सन् १८७५ में मिश्रके खदीवको उसके हिस्से बेचते देखकर डिज़रेलीने उन्हें ब्रिटेनके लिए खरीद लिया था।† मिश्रमें अंग्रेजोंके अभीतक डँटे रहनेका एक कारण भी यही है। ८ मई १९०४ को फ्रांसके साथ ब्रिटेनका जो समझौता हुआ था, उसका असली उद्देश्य यही था कि मिश्रमें फ्रांस कोई बखेड़ा न खड़ा करे, क्योंकि यदि ऐसा हुआ तो स्वेज नहरपरसे उसका अधिकार नष्ट हो जानेकी संभावना थी। इसके बाद सन् १९०७ में रूसके साथ ब्रिटेनका जो समझौता हुआ था, उसके अनुसार रूसने ईरानके दक्षिण भाग तथा अफगानिस्तानको ब्रिटेनका प्रभावक्षेत्र मान लिया था, जिससे भारतके सम्बन्धमें रूसकी नीतिके कारण खतरेकी संभावना दूर हो गयी।

जैसा कि हम पहिले कह चुके हैं, शुरू शुरूमें अंग्रेज़ लोग यहाँ व्यापार करनेके उद्देश्यसे ही आये थे किन्तु यहाँकी स्थिति

* एडवान्स, ६–६–३२ † देखिए पृ० २२९

देखकर, यहाँके राजाओं तथा शासकोंकी आपसकी फूटसे लाभ उठाकर, क्रमशः राजनीतिक सत्ता स्थापित करनेका लोभ वे लोग संवरण न कर सके। किसीकी सहायता कर और किसीका विरोध कर तथा अनेक तरहकी चालें चलकर धीरे धीरे वे लोग अपनी शक्ति बढ़ाते गये। मार्किस आफ वेलेसलीने २ अक्टूबर सन् १८०० को जो पत्र श्रीमती एनी बर्नार्ड नामक महिलाके पास भेजा था, उससे स्पष्ट है कि वह हर तरहसे भारतमें अंग्रेज़ी सत्ता बढ़ानेका निश्चय कर ही विलायतसे आया था। उसने लिखा था कि "मैं राज्योंके बाद राज्य प्राप्त करता चलूँगा और विजयपर विजय तथा मालगुजारीपर मालगुजारी लाद दूँगा। मैं इतनी कीर्त्ति, धन और शक्ति इकट्ठी कर दूँगा कि एक बार मेरे प्रभुओंकी भी महत्त्वाकांक्षा तथा धनलोलुपता 'त्राहि त्राहि' पुकार उठेगी।" उसने अपनी अभीष्ट-सिद्धिके लिए जिन विविध उपायोंका सहारा लिया, उनमेंसे एक यह भी था कि जिन भारतीय राजाओंके पास अपनी स्वतंत्र सेनाएँ विद्यमान थीं, वे किसी तरह विघटित कर दी गयीं और उनकी रक्षाका दायित्व कम्पनीने स्वयं अपने ऊपर ले लिया। अब उक्त देशी राज्योंमें पुरानी सेनाओंके स्थानमें अंग्रेज अफसरों द्वारा नियंत्रित कम्पनीकी पलटनें रखी जाने लगीं, जिनके खर्चका भार उन राज्योंपर ही रखा गया। यह प्रणाली भारतीय इतिहासमें "सबसीडियरी एलाएन्स" के नामसे प्रसिद्ध है। इस प्रणालीके सम्बन्धमें एक यूरोपियन लेखकके विचार उल्लेखनीय हैं। उसने लिखा था "सबसीडियरी पद्धति···एक धोखेके सिवाय और कुछ न थी। उसका उद्देश्य ब्रिटिश जनताकी आँखोंमें धूल झोंकना था। ···कहनेके

लिए तो ये देश विजय नहीं किये जाते थे, वहाँके राजा छत्र, चँवर आदि राजोचित चिह्नों सहित सिंहासनासीन रहने दिये जाते थे, किन्तु वास्तविक सत्ता उनके हाथसे लेकर एक पोलिटिकल एजण्टके हाथमें दे दी जाती थी।"*

कम्पनीके शासनकी बुराइयाँ देखकर यद्यपि ब्रिटिश पार्लिमेण्टने एक सीमातक उसपर नियंत्रण स्थापित करनेका प्रयत्न किया, फिर भी उससे कम्पनीकी नीतिमें प्रत्यक्ष रूपसे कोई बाधा नहीं पड़ी। राजनीतिक प्रभुत्व प्राप्त करनेकी उसकी भूख बढ़ती ही गयी, यहाँ तक कि सन् १८४८ से १८५६ तक अर्थात् लार्ड डेलहौज़ीके शासनकालमें हर तरहसे कम्पनीका राज्य बढ़ानेकी चेष्टा की गयी। एगन्यू तथा एण्डरसन नामक दो अंग्रेज अफ्सरोंकी काररवाईसे असन्तुष्ट होकर मुलतानके सिखोंने २० अप्रैल १८४८ को विद्रोह कर दिया और उक्त अफ्सरोंको मार डाला। जब महाराज दलीपसिंहकी माता महारानी झिन्दाकौर, इस शकपर कि विद्रोहमें उनका भी हाथ था, क़ैद कर बनारस भेज दी गयीं, तब सिखोंमें असन्तोषकी आग और भी तेज़ीसे भड़क उठी। यह घटना दूसरे सिख युद्धका एक मुख्य कारण थी, जिसका अन्तिम परिणाम यह हुआ कि पञ्जाबका विशाल सिख राज्य अंग्रेजी अमलदारीमें मिला लिया गया। इसी तरह ब्रिटिश जहाजोंके साथ छेड़छाड़ करनेका बहाना लेकर लार्ड डेलहौज़ीने ब्रह्मदेशके राजापर भी आक्रमण कर दिया और उसके देशका एक बड़ा भाग ब्रिटिश राज्यमें शामिल कर लिया। सन् १८५६ में अवधका नवाब भी पदच्युत कर

* एशियाटिक क्वार्टरली रीव्यू, जनवरी १८८७

दिया गया और उसका राज्य भी ब्रिटिश साम्राज्यमें मिला लिया गया।

डेलहौज़ीने भारतमें ब्रिटिश राज्यका विस्तार बढ़ानेके लिए एक और उपायका अवलम्बन ग्रहण किया। उसने यह निश्चय किया कि जिन देशी राजाओंने कम्पनीके साथ मित्रताकी सन्धि की थी अथवा जिनके पूर्वजोंने कम्पनीको अपनी सत्ता बढ़ानेमें मदद दी थी, उनके निःसंतान मर जाने पर उनका राज्य अंग्रेजी अमलदारीमें मिला लिया जाय। इस नीतिके अनुसार, जिसे अंग्रेजीमें "डाक्ट्रिन आफ लैप्स" कहते हैं, सतारा, नागपुर, झाँसी, करनाटक आदि आठ देशी राज्य कम्पनीके क़ब्ज़ेमें कर लिये गये।

इन घटनाओंके साथ साथ असन्तोषके और भी कई कारण उत्पन्न हो जानेसे सन् १८५७ में कम्पनीके शासनके विरुद्ध ज़ोरोंका बलवा हो गया, जो सन् '५७ के ग़दरके नामसे प्रसिद्ध है। धन-जनकी विपुल हानिके बाद विद्रोहका दमन कर दिया गया। नेताओंको कठोर दण्ड दिया गया, उदाहरणार्थ उनमेंसे कुछ लोग तोपके गोलोंसे उड़ा दिये गये। मुग़ल बादशाह सिंहासनसे उतार दिया गया और उसके पुत्रों तथा पौत्रको गोली मार दी गयी। २८ अप्रैल १९१० के स्पेक्टेटरके कथनानुसार "ग़दरमें हमने (अंग्रेजोंने) कमसे कम एक लाख आदमियोंके प्राण लिये।"

अब भारतका शासन कम्पनीके हाथसे निकल कर सीधे ब्रिटिश पार्लिमेण्टके जिम्मे हो गया। उसकी कुल जिम्मेदारी ब्रिटिश मंत्रिमंडलके एक सदस्यको सौंप दी गयी, जो "भारत सचिव" के नामसे प्रसिद्ध हुआ। यद्यपि निःसन्तान राजाओं-

का राज्य छीन लेनेका तरीक़ा उठा दिया गया, फिर भी भारत-में ब्रिटिश साम्राज्यकी वृद्धिका क्रम किसी तरह कम न हुआ, जैसा कि नीचे दिये हुए अङ्कोंसे स्पष्ट है।

समय	अधिकृत भूमिका क्षेत्र फल
१८६१ से १८७१ तक	४,००० वर्गमील
१८७१ से १८८१ ,,	१५,००० ,,
१८८१ से १८९१ ,,	९०,००० ,,
१८९१ से १९०१ ,,	१,३३,००० ,,

यद्यपि कहनेके लिए हिन्दुस्थानमें इस समय भी लगभग ७०० देशी राज्य हैं, किन्तु केवल थोड़ीसी आन्तरिक बातोंको छोड़कर अन्य किसी मामलेमें वे स्वाधीन नहीं हैं। न तो वे अन्य देशी या विदेशी राज्योंसे सन्धि कर सकते हैं और न उनसे युद्ध ही छेड़ सकते हैं। इन सब विषयोंमें वे भारत सरकारके अधीन हैं, जो उनकी आन्तरिक शान्ति तथा बाह्य रक्षाके लिए जिम्मेदार है।

प्रायः कहा जाता है कि हिन्दुस्थानमें भौगोलिक तथा राजनीतिक एकताका अभाव है और यहाँके लोगोंमें धर्म, भाषा,* तथा रीति-रिवाज़ आदिके कारण परस्पर बड़ा मत-भेद है, अतः यदि अंग्रेज़ लोग यहाँसे चले जायँ, तो भारत-वासी आपसमें ही लड़भिड़ मरें और यदि बाहरकी कोई शक्ति

* स्मरण रहे, रूस, संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा आदि देशोंमें भी भाषाओं तथा जातियोंकी संख्या काफी ज्यादा है। कनाडामें १७८ भाषाएँ, ५३ जातियाँ तथा ७९ सम्प्रदाय हैं। फिर भी कोई इन्हें स्वराज्यके अयोग्य नहीं कहता और न यहाँके रहनेवाले आपसमें लड़ते भिड़ते रहते हैं। (देखिये माडर्न रिव्यू, अप्रैल १९२८)

उनपर आक्रमण करे तो वे लोग मिल जुल कर उसका सामना करनेमें भी असमर्थ होंगे। इसीसे भारतकी रक्षा तथा उसके कल्याणकी दृष्टिसे भारतमें ब्रिटिश सत्ताकी जड़ मजबूत बनाये रखनेकी आवश्यकता बतायी जाती है। इसी तरह विदेशी आक्रमणसे भारतीय सीमाकी रक्षाके बहाने ब्रिटेनने तिब्बत, अफगानिस्तान, ईरान, ब्रह्मदेश आदिपर भी अपना संरक्षण स्थापित करनेका प्रयत्न किया है। उसकी इस साम्राज्यवादिनी नीतिके कारण भारतकी तरह अफग़ानिस्तान, ईरान आदिमें भी राष्ट्रीय आन्दोलनको पर्याप्त सहायता पहुँची है।

अंग्रेज अधिकारियोंकी नीतिको प्रभावित करने तथा अनुनय-विनय द्वारा उनसे जनताकी शिकायतें दूर करानेके अभिप्रायसे सन् १८५१ से १८८५ तक भारतके भिन्न भिन्न प्रान्तोंमें कई संस्थाएँ स्थापित की गयीं। मध्य श्रेणीके पढ़े-लिखे लोग ही इनमें विशेष रूपसे भाग लेते थे। इसी तरहकी एक संस्था "इण्डियन असोशियेशन" थी, जिसकी स्थापना सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तथा आनन्दमोहन बोसके प्रयत्नसे सन् १८७६ में कलकत्तेमें हुई थी। बंगालके अतिरिक्त उत्तरीय भारतके भी कई स्थानोंमें इसकी शाखाएँ खोली गयीं। भारतीयोंके अधिकारोंकी रक्षाके लिए इस संस्थाने विशेष प्रयत्न किया।

इधर सन् १८८५ में भारतीय राष्ट्र सभा (इण्डियन नेशनल कांग्रेस) की स्थापना हुई। ह्यूम साहब इसके प्रधान प्रवर्त्तक थे। ये पहले इण्डियन सिविल सर्विसमें थे। सर्व-साधारणकी बढ़ती हुई अशान्ति देखकर इन्हें इस बातकी शंका होने लगी कि विद्रोहकी आग सन् ५७ के ग़दरकी तरह कहीं फिरसे व्यापक रूप न धारण कर ले, अतः इन्होंने शिक्षित वर्गकी सहा-

यतासे उसे वैध आन्दोलनका रूप देनेका निश्चय किया। इसी उद्देश्यसे कांग्रेसकी स्थापना की गयी थी।

पहले भारत सरकार भी इस संस्थाके पक्षमें थी, किन्तु बादमें ज्यों ज्यों कांग्रेसका प्रभाव बढ़ने लगा, त्यों त्यों सरकारका रुख भी बदलने लगा। सन् १८८८ में अधिकारियोंके विरोध-भावके ही कारण प्रयागके अधिवेशनके लिए स्थान प्राप्त करनेमें प्रबन्धकोंको बड़ी अड़चन उठानी पड़ी। अब सरकारी कर्मचारियोंको कांग्रेसके अधिवेशनोंमें दर्शक रूपसे भी शामिल होनेकी मनाही कर दी गयी।

शुरू शुरूमें मुसलमान कांग्रेससे अलग ही रहे। एक तो उस समय वे शिक्षा आदिमें हिन्दुओंसे पिछड़े हुए थे और उनमें राष्ट्रीय जागृति भी नहीं होने पायी थी, दूसरे वे राजनीतिक विषयोंमें भाग लेकर सरकारको अप्रसन्न नहीं करना चाहते थे। धीरे धीरे वे सरकारकी सहानुभूति प्राप्त करनेमें सफल हुए। जैसा कि मौलाना मुहम्मदअलीके एक भाषणसे स्पष्ट है, लार्ड मिण्टोका संकेत पा कर ही सन् १९०६ में मुसलमानोंका एक प्रतिनिधि-मण्डल उनसे मिला था। उन्होंने मुसलमानोंको आश्वासन दिलाया कि नयी शासन-व्यवस्थामें मुसलमानोंके अधिकारोंकी रक्षाका पूरा पूरा ध्यान रखा जायगा और उन्हें पृथक् निर्वाचन द्वारा अपनी संख्यासे अधिक प्रतिनिधित्व दिलानेका प्रयत्न किया जायगा। इसी साल लार्ड मिण्टोके प्रोत्साहनसे मुसलिम लीगकी स्थापना हुई। उसके उद्देश्योंमें मुसलमानोंकी राजभक्तिकी घोषणा की गयी थी। जब सन् १९११ में वंग-भंग रद्द कर दिया गया था, तब मुसलमान भी चेते। उन्होंने ख़याल किया कि हिन्दुओंकी

शक्ति क्षीण करनेके उद्देश्यसे ही सरकारने मुसलमानोंसे सहानुभूति प्रकट करनेकी नीति अख्तियार की थी। इधर मुसलिम जगत्में जो जागृति फैल रही थी, उसका भी प्रभाव भारतीय मुसलमानोंपर पड़ा और वे धीरे धीरे अंग्रेजोंके विरोधी बनने लगे, विशेषकर इसलिए कि सन् १९१२-१३ के बालकन युद्धमें ब्रिटेनकी सहानुभूति तुर्कोंके विरोधी ईसाई राष्ट्रोंके साथ थी। सन् १९१३ में मुसलिम लीगका भी उद्देश्य औपनिवेशिक स्वराज्यकी प्राप्ति हो गया। अब हिन्दू मुसलमानोंमें आपसका मेल-भाव बढ़ने लगा और कांग्रेस तथा लीगके वार्षिक अधिवेशन एक ही स्थानपर होने लगे।

बीसवीं शताब्दीका प्रारंभ होतेतक कांग्रेसके नेताओंका ब्रिटिश सरकारकी नेकनीयतीपर पूरा विश्वास था, किन्तु जब कांग्रेस द्वारा स्वीकृत प्रस्तावोंका कोई भी प्रभाव उसकी नीतिपर पड़ता हुआ न दिखाई दिया, तब उनकी आँखें खुलने लगीं। विशेषकर लार्ड कर्ज़नके शासनकालमें उनके इस विश्वासको बड़ी ठेस लगी। सन् १९०४ में जो 'यूनिवर्सिटीज़ ऐक्ट" बना, उसके कारण ग़रीबोंके लिए उच्च शिक्षा प्राप्त करना कठिन हो गया। इस विधानके अनुसार सिण्डिकेटके अधिकार परिमित कर दिये गये और शिक्षा-संस्थाओंका नियंत्रण सख्ती के साथ किया जाने लगा। इस क़ानूनके कारण अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगोंमें बड़ा असन्तोष फैला। उन्होंने खयाल किया कि सरकार इस तरह हमारी बढ़ती हुई शक्तिको कम करना चाहती है। इसके बाद कलकत्ता विश्वविद्यालयके पदवी-दान-समारोहके समय लार्ड कर्ज़नने भारतीय सभ्यताकी जो आलोचना की, उससे भी भारतीयोंके हृदयको चोट लगी।

इधर सन् १९०५ में वंग-भंगकी घोषणासे अशान्तिकी आग और भी तेज़ीके साथ फैलने लगी। बंगालवालोंने खयाल किया कि हमारी शक्ति विभाजित कर देनेके उद्देश्यसे ही इस उपायका सहारा लिया गया है। उन्होंने इसका घोर विरोध किया। जब अनुनय-विनयसे कोई लाभ न हुआ, तब उन्होंने स्वदेशी चीज़ोंके प्रचार तथा विदेशी वस्तुओंके बहिष्कारका आन्दोलन शुरू किया। इस आन्दोलनने बंगालमें शीघ्र ही ज़ोर पकड़ लिया। धीरे धीरे देशके अन्य भागोंमें भी वह फैलने लगा। सन् १९०५ में राष्ट्रीय महासभाका जो अधिवेशन बनारसमें हुआ, उसमें भी इस आन्दोलनका समर्थन किया गया।

जब नन्हेंसे जापानने यूरोपके रूस जैसे विशाल देशको युद्धमें पछाड़ दिया, तब समस्त एशियापर उसकी इस विजयका प्रभाव पड़ा। यहाँके पिछड़े हुए देशोंमें बड़ी शीघ्रताके साथ राष्ट्रीयताकी लहर फैलने लगी। भारतीय देश-भक्तोंको भी इससे प्रोत्साहन मिला। स्वदेशीका आन्दोलन ज़ोरोंसे बढ़ने लगा। बंगालके कुछ नेता 'बहिष्कार' का व्यापक अर्थ करने लगे। राजनीतिक सभाओंको रोकनेके लिए सरकारने १९०७ में एक कानून बनाया। संस्थाओंको बन्द करने तथा साजिशके मुकदमोंका सरसरी तौरसे फैसला करनेके लिए १९०८ में "क्रिमिनल ला अमेण्डमेण्ट ऐक्ट" बना और १९१० में "प्रेस ऐक्ट" बनाकर समाचार पत्रोंकी स्वतंत्रतापर प्रहार किया गया।

दमनके साथ साथ सरकारने भारतीयोंका असन्तोष दूर करनेके लिए शासनमें भी सुधार करनेका निश्चय किया। १९०९ में जो शासन-व्यवस्था जारी की गयी, वह "मार्लें-मिण्टो

शासन योजना" के नामसे प्रसिद्ध है। इसके अनुसार प्रान्तीय व्यवस्थापक सभाओंके सदस्योंकी संख्या बढ़ा दी गयी और उनमें गैर-सरकारी सदस्योंका बहुमत रखा गया। सदस्योंको बिल तथा प्रस्ताव उपस्थित करनेका नाम मात्रका अधिकार दिया गया। "नाम मात्रका" इसलिए कि उनके द्वारा स्वीकृत प्रस्तावोंको मान लेनेके लिए सरकार बाध्य न थी। इसी तरह बजटके सम्बन्धमें वे लोग वादविवाद कर सकते थे और उसकी आलोचना करनेका भी अधिकार उन्हें था, पर वे उसे अस्वीकृत नहीं कर सकते थे। अतः स्पष्ट है कि ये सभाएँ केवल वादविवाद करनेवाली सभाएँ ही थीं।

इसी तरह केन्द्रीय व्यवस्थापक सभाको भी कोई वास्तविक अधिकार नहीं दिया गया। इसमें तो गैरसरकारी सदस्योंको बहुमत भी प्राप्त न हो सका। ब्रिटिश हितकी रक्षाके लिहाजसे इसपर सरकारी नियंत्रणका होना अधिक आवश्यक समझा गया। इतना होते हुए भी नरमदलके नेताओंने सुधारोंका स्वागत किया और उन्हें उदारतापूर्ण बतलाया। कुछ ही वर्षोंके भीतर उनकी राय बदल गयी और वे भी राष्ट्रीय दलवालोंकी तरह उन्हें अपर्याप्त समझने लगे।

स्वायत्त शासन प्राप्त करनेके लिए आन्दोलन बराबर जारी रहा। यूरोपीय युद्ध छिड़ने पर भारतके राष्ट्रीय दलवालोंने भी अपनी सारी शिकायतोंको ताकपर रखकर इस आशासे इंग्लैण्डका साथ देनेका निश्चय किया कि शायद हमारी इस सहायतासे प्रसन्न होकर ही वह हमें मनोऽभिलषित अधिकार दे दे। अगस्त १९१७ में भारतसचिव मांटेगूने पार्लिमेण्टके सामने यह घोषणा की कि "......भारतको ब्रिटिश साम्राज्यके

भीतर क्रमशः दायित्वपूर्ण शासन प्रदान करना ब्रिटिश सरकारकी नीतिका उद्देश्य है।" किन्तु सन् १९१९ में जो नये "सुधार" भारतको दिये गये, उनसे राष्ट्रवादियोंको बड़ी निराशा हुई।

इधर सरकारकी दमननीति भी बराबर जारी थी। उसने विप्लववादियोंका ज़ोर बढ़ता देखकर उन्हें दबानेके लिए "भारत रक्षा विधान" नामका क़ानून पहले ही बना दिया था। अब प्रायः सभी दलोंके भारतीय नेताओं तथा केन्द्रीय व्यवस्थापक सभाके गैरसरकारी सदस्योंके एक स्वरसे विरोध करने पर भी रौलेट ऐक्ट नामके दो क़ानून बना दिये गये, जिनके अनुसार विप्लववादियोंका दमन करनेके लिए शासकोंको चाहे जिस व्यक्तिको गिरफ्तार करने और मुकदमेका क्षणिक विचार कर सजा देनेका अधिकार प्राप्त हो गया। सरकारकी इस काररवाईसे सारे भारतमें असन्तोष फैल गया। महात्मा गांधीने इन क़ानूनों तथा ऐसे ही अन्य कानूनोंकी अवज्ञा करनेके लिए एक कमेटी बनायी और लोगोंसे सत्याग्रहमें शामिल होनेका अनुरोध किया। ३० मार्चको देशव्यापी हड़ताल मनायी गयी, जिसमें मुसलमानोंने भी साथ दिया, क्योंकि खिलाफतके प्रश्नके कारण उनमें भी काफी असन्तोष फैल रहा था। यद्यपि महात्माजीने शान्ति और अहिंसापर काफ़ी ज़ोर दिया था, फिर भी जनताके लिए एक नयी बात होनेके कारण आन्दोलन पूर्ण रूपसे अहिंसात्मक न रह सका। ९ अप्रैलको दिल्ली जाते हुए महात्मा गांधी गिरफ्तार कर लिये गये और इसके दूसरे ही दिन डाक्टर सत्यपाल तथा डाक्टर किचलू पञ्जाबसे निर्वासित कर दिये गये।

अब सारा देश क्षुब्ध हो उठा। अमृतसरमें जनता बिगड़ खड़ी हुई। उसने बैंक, पोस्ट आफिस आदिको लूट लिया और कुछ यूरोपियनोंको मार डाला। पुलिसको उसपर गोली चलानी पड़ी। १३ अप्रैलको सभाकी मनाही होने पर भी कोई बीस हजार आदमी जलियाँवाला बागमें (अमृतसर) इकट्ठे हुए और सभा करनेकी तैयारी करने लगे। यह देखकर जनरल डायरका दिमाग़ ठिकाने न रहा। उसने बिना किसी तरहकी चेतावनी दिये ही निरस्त्र जनतापर मशीनगनोंसे गोली चलानेकी आज्ञा दे दी और भागते हुओंको भी तबतक नहीं छोड़ा जबतक सारी गोलियाँ या बारूद खतम नहीं हो गयी। दस मिनटतक लगातार गोलियोंकी वर्षा होती रही, जिसके परिणाम स्वरूप चार पाँच सौ मनुष्योंके प्राण गये और कोई डेढ़ हजार व्यक्ति घायल हुए। हताहतोंको उठाने या उनकी मरहम-पट्टी करानेका कोई प्रबन्ध तक उसने नहीं किया। यद्यपि उसके इस रोमाञ्चकारी व्यवहारने भारतमें एक तूफान सा खड़ा कर दिया और ब्रिटिश सरकारको विवश होकर उसे वापस बुला लेना पड़ा, फिर भी इंग्लैण्डकी सरदार सभाने उसके कार्यका समर्थन किया और उसे न्यायपूर्ण बतलाया। इतना ही नहीं, "मार्निंग पोस्ट" के उद्योगसे वहाँकी जनताने आपसमें चन्दा कर २५ हजार पौण्ड (लगभग पौने चार लाख रुपये) की रक़म, साम्राज्यके प्रति की गयी सेवाके बदले, उसे अर्पित कर देनेमें अपना गौरव समझा!

अमृतसरकी बैठकमें कांग्रेसने यह प्रस्ताव स्वीकृत किया कि वाइसराय लार्ड चेम्ज़फोर्ड वापस बुला लिये जायँ और जनरल डायरके खिलाफ क़ानूनी काररवाई करनेके पहले ही

सरकार उसे सेना-नायकके पदसे अलग कर दे। सरकारपर कांग्रेसके प्रस्तावों तथा जनताकी माँगोंका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। निदान कलकत्तेके विशेष अधिवेशनमें कांग्रेसने अहिंसात्मक असहयोगकी नीति ग्रहण करनेका निश्चय किया। इस आन्दोलनके प्रधान नेता महात्मा गांधी हुए, जो इसके पहले दक्षिण अफ्रिकामें सफलतापूर्वक सत्याग्रह आन्दोलन चला चुके थे। महात्माजी पहले अंग्रेजी राज्यके कट्टर समर्थक थे। उन्होंने बोअर युद्धमें सरकारकी अच्छी सहायता की थी। यूरोपीय युद्धके समय वे भारतीयोंसे ब्रिटेनकी रक्षाके लिए सेनामें भरती होनेका अनुरोध बराबर किया करते थे किन्तु सन् १९१८ से १९२० तककी घटनाओंके कारण उनके विचार बदल गये और उन्होंने विवश होकर स्वराज्य-प्राप्तिके लिए अपने देशवासियोंको शान्तिमय असहयोगका मार्ग ग्रहण करनेकी सलाह दी।

सन् १९०७ में कांग्रेसका जो अधिवेशन सूरतमें हुआ था, उसमें झगड़ा हो जानेके कारण गरमदल कांग्रेससे पृथक् हो गया था, किन्तु सन् १९१६ में दोनों दलोंमें पुनः एकता स्थापित हो गयी। इसी साल लखनऊमें हिन्दू-मुसलमानोंने भी प्रतिनिधित्वके सम्बन्धमें आपसमें समझौता कर लिया, जिसके अनुसार यह तय हुआ कि कुछ प्रान्तोंमें मुसलमानोंको उनकी आबादीसे अधिक प्रतिनिधित्व दिया जायगा। अब कांग्रेस तथा मुसलिम लीग, दोनोंने ही स्वशासनकी माँग पेश की। सन् १९१८ में बम्बईके अधिवेशनमें पुनः इस माँगपर ज़ोर दिया गया और कहा गया कि "कानून द्वारा इस बातका विश्वास दिलाया जाना चाहिये कि अधिकसे अधिक १५ वर्षोंके भीतर

समस्त ब्रिटिश भारतमें पूर्ण उत्तरदायी शासन स्थापित कर दिया जायगा।" साथ ही इसमें इस बातकी घोषणा की गयी कि माण्टेगू-चेम्ज़फोर्ड-रिपोर्टमें जिन सुधारोंका प्रस्ताव किया गया है, वे बिलकुल असन्तोषजनक हैं।

सितम्बर १९२० में कांग्रेसका जो विशेष अधिवेशन कलकत्तेमें हुआ, उसमें यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ : "चूँकि खिलाफतके प्रश्नमें भारत सरकार और साम्राज्य सरकारने मुसलमानोंके प्रति अपना कर्त्तव्य पूरा नहीं किया और चूँकि अप्रैल १९१९ की घटनाके सम्बन्धमें पंजाबके निरपराध लोगोंकी रक्षा करने तथा जो अफ्सर...अपराधी थे, उन्हें दण्ड देनेमें उपर्युक्त दोनों सरकारोंने उपेक्षाभाव दिखलाया है, इसलिए कांग्रेसकी राय है कि जबतक उन अत्याचारोंका प्रतिकार न हो और स्वराज्यकी स्थापना न हो जाय, तबतक महात्मा गांधी द्वारा प्रचारित क्रमिक अहिंसात्मक नीतिका समर्थन करने और उसे स्वीकार करनेके सिवाय भारतके लिए दूसरा चारा नहीं रह गया है।" असहयोगका जो कार्यक्रम निर्धारित किया गया, उसमें सरकारी उपाधियोंके परित्याग तथा विद्यालयों, अदालतों, काउन्सिलों और ब्रिटिश वस्तुओंके बहिष्कारपर ज़ोर दिया गया। इस कार्यक्रमके अनुसार हजारों विद्यार्थी स्कूल तथा कालेज छोड़कर बाहर निकल आये, अनेक महानुभावोंने उपाधियाँ त्याग दीं, सैकड़ों वकीलोंने वकालत करना छोड़ दिया और अधिकसंख्यक मतदाताओंने काउन्सिलके उम्मेदवारोंको मत देनेसे इनकार कर दिया। सबसे अधिक सफलता कदाचित् ब्रिटिश वस्तुओंके बहिष्कारमें हुई। जैसा कि स्वयं लार्ड रेडिंगने अपने कलकत्तेके भाषणमें कहा था "आन्दोलनकी सफलतामें

केवल एक इञ्चकी कसर बाकी रह गयी थी।" उन्होंने यह भी स्वीकार किया था कि उसके कारण वे "हैरान और परेशान" (पज़िल्ड एण्ड परप्लेक्स्ड) हो गये थे।

अब महात्माजीने क़ानूनोंकी सविनय अवज्ञा तथा लगान-वन्दीका आन्दोलन शुरू करनेकी इच्छा की। सामूहिक रूपसे सत्याग्रह शुरू करनेके लिए उन्होंने बारडोलीका ताल्लुका चुना। इसी समय चौरीचौराका हत्याकाण्ड हुआ, जिससे महात्माजीके आदेशानुसार कांग्रेस कार्य-समितिको सामूहिक सत्याग्रहका विचार स्थगित कर देना पड़ा। शीघ्र ही महात्माजी गिरफ्तार कर लिये गये और उन्हें छः वर्षकी सजा हो गयी।

अब कांग्रेसके कुछ नेताओंने, जो काउन्सिलोंके बहिष्कारके पक्षमें न थे, स्वराज्य दलके नामसे अपना एक नया दल बनाया। जब बीमारीके कारण महात्माजी जेलसे छोड़ दिये गये, तब उन्होंने इस दलके प्रमुख नेता श्री चित्तरंजनदास तथा पण्डित मोतीलाल नेहरूसे समझौता कर लिया। इसके अनुसार स्वराज्य दलका कांग्रेसकी ओरसे काउंसिलोंमें जानेका अधिकार मान लिया गया। काउन्सिलोंमें जाकर स्वराजी सदस्योंने अडंगा नीतिसे काम लेना शुरू किया, जिससे बंगाल तथा मध्य प्रान्तकी सरकारोंको वहाँके हस्तान्तरित विभागको अपने हाथमें ले लेना पड़ा। केन्द्रीय व्यवस्थापक सभामें स्वराज्य दलवालोंके प्रयत्नसे शासन-विधानके सम्बन्धमें राष्ट्रीय माँगका प्रस्ताव स्वीकृत हो गया। जब सरकारने उसकी उपेक्षा की, तब उन लोगोंने सारा बजट नामंजूर कर दिया।

शासन-विधानके सम्बन्धमें जाँच करानेकी बढ़ती हुई माँगको देखकर सन् १९२७ में सरकारने साइमन कमीशनकी

नियुक्ति की। इसमें एक भी भारतीयको स्थान नहीं दिया गया, इससे नरम दलवालोंने भी इसका घोर विरोध किया। साइमन कमीशनके सदस्य जहाँ जहाँ गये, वहाँ वहाँ उनके विरोधमें प्रदर्शन हुआ और काले झण्डोंसे उनका स्वागत किया गया। थोड़ेसे खास तरहके लोगोंकी गवाहियाँ लेकर कमीशन इंग्लैण्ड लौट गया। १९३० में उसने जो रिपोर्ट प्रकाशित की, उसका भारतके किसी भी दलने स्वागत न किया। इस प्रकार साइमन साहब तथा उनके सहकारियोंका परिश्रम व्यर्थ ही गया।

इधर भारतीय राष्ट्र-सभाने अन्य दलवालोंके सहयोगसे शासन-विधानके सम्बन्धमें एक रिपोर्ट तैयार की, जो नेहरू रिपोर्टके नामसे प्रसिद्ध है। अन्य दलवालोंके विचारोंका खयाल कर रिपोर्टमें भारतका अभीष्ट औपनिवेशिक स्वराज्य ही माना गया था, जिससे राष्ट्रवादियोंका एक बड़ा दल उसके विपक्षमें हो गया। फिर भी गांधीजीके प्रभावसे कलकत्तेकी कांग्रेसने बड़ी कठिनाईके बाद इस विचारसे उसे मंजूर कर लिया कि "वह देशके मुख्य मुख्य राजनीतिक दलोंमें अधिकसे अधिक जितना मतैक्य हो सकता था, उसके आधारपर तैयार की गयी है।" किन्तु साथ ही कांग्रेसने यह भी निश्चय किया कि यदि ब्रिटिश पार्लिमेण्ट इस शासन-विधानको ज्योंका त्यों ३१ दिसम्बर १९२९ तक मंजूर कर लेगी तो कांग्रेस इसे स्वीकार करेगी, नहीं तो वह अहिंसात्मक असहयोग शुरू कर देगी।

भारतीय नेताओंको तसल्ली देनेके खयालसे ३१ अक्तूबर १९२९ को वाइसराय साहबने एक विज्ञप्ति प्रकाशित की, जिसमें कहा गया था कि सरकारका ध्येय भारतमें औपनिवेशिक स्वराज्य स्थापित करना है। साथ ही बड़े लाटने यह भी सूचित

किया कि लन्दनमें एक गोलमेज परिषद् करनेकी योजना की जा रही है, जिसमें भारतीय प्रतिनिधि भी बुलाये जायँगे। उनकी घोषणा इतनी अस्पष्ट भाषामें की गयी थी कि महात्मा जी, स्वर्गीय मोतीलाल नेहरू, सर तेज बहादुर सप्रू आदि नेताओंने कांग्रेसका अधिवेशन होनेके ठीक पहले बड़े लाटसे मिलकर उसका वास्तविक आशय समझनेका प्रयत्न किया और उनसे इस बातका विश्वास दिलानेका अनुरोध किया कि ब्रिटिश मंत्रिमंडल औपनिवेशिक स्वराज्यकी योजनाका समर्थन करेगा। वाइसरायने ऐसा करनेमें अपनी असमर्थता प्रकट की। निदान दिसम्बरके अन्तमें कांग्रेसका जो अधिवेशन लाहौरमें हुआ, उसमें निश्चय हुआ कि "...कांग्रेसकी राय है कि वर्तमान परिस्थितिमें प्रस्तावित गोलमेज सम्मेलनमें कांग्रेसके प्रतिनिधियोंके जानेसे कोई लाभ होनेको नहीं। इसलिए यह कांग्रेस पिछले वर्ष...के अधिवेशनमें स्वीकृत प्रस्तावके अनुसार यह घोषित करती है कि कांग्रेसके संघटनकी धारा १ में 'स्वराज्य' शब्दका अर्थ होगा पूर्ण स्वाधीनता।" इस अधिवेशनमें सर्व-भारतीय कांग्रेस कमेटीको, परिस्थितिकी आवश्यकता देखकर, सत्याग्रह आन्दोलन शुरू करनेका अधिकार भी दे दिया गया।

२६ जनवरीको सारे देशमें स्वाधीनता दिवस मनाया गया। मार्चके शुरूमें महात्माजीने बड़े लाटको एक पत्र लिखा। उनकी ओरसे शिकायतें दूर करनेका कोई आश्वासन न पाकर १२ मार्चको वे नमक-कानून भंग करनेके उद्देश्यसे डांडीकी यात्राको चल पड़े। ६ अप्रैलको महात्माजीने नमक-कानून तोड़कर सत्याग्रह शुरू किया। इसके बाद यह आन्दोलन सारे

देशमें फैल गया। नमक-क़ानून तोड़नेके साथ साथ शराब गाँजे आदिकी तथा विदेशी कपड़ेकी दूकानोंपर धरना देने और इन चीज़ोंके बहिष्कारका कार्य बड़ी तत्परताके साथ किया जाने लगा। आन्दोलनका दमन करनेके लिए सरकारको कई काले क़ानून बनाने पड़े। लगभग सत्तर हजार सत्याग्रही जेल गये और सैकड़ोंको अपने प्राणोंसे भी हाथ धोने पड़े। ४ मार्चको लार्ड अरविन और महात्माजीके बीच समझौता हो गया, जिसके अनुसार आर्डिनेन्स उठा लिये गये और राजनीतिक कैदी छोड़ देने तथा जब्त की हुई सम्पत्तिको यथासंभव लौटा देनेकी आज्ञा दे दी गयी। कांग्रेसने सत्याग्रह आन्दोलन स्थगित कर दिया और महात्माजीको गोलमेज परिषद्में अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजना स्वीकार किया।

अगस्तमें महात्माजी इंग्लैण्डके लिए रवाना हो गये। वहाँ पहुँच कर उन्होंने बड़ी योग्यताके साथ कांग्रेस-पक्षका स्पष्टीकरण किया और गोलमेजके ब्रिटिश सदस्योंको समझा दिया कि यद्यपि कांग्रेसका लक्ष्य भारतके लिए पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करना है, फिर भी इसका यह मतलब नहीं कि ब्रिटेन तथा भारतमें उस तरहका मित्रतापूर्ण सहयोग संभव नहीं जैसा बराबरीके दो राष्ट्रोंमें रह सकता है। उन्होंने भारतकी ग्रामीण जनताके हितोंपर विशेष रूपसे ज़ोर दिया और इस बातकी आवश्यकता बतायी कि सेना तथा परराष्ट्रनीतिके नियंत्रणका अधिकार भी भारतीयोंको मिलना चाहिये। परिषद्की ढील-ढाल देखकर महात्माजीको बड़ा क्षोभ हुआ और उन्होंने सरकारसे भी अपनी नीति स्पष्ट कर देनेकी प्रार्थना की।

गोलमेज परिषद्में जो भारतीय बुलाये गये थे, वे भारतके

सच्चे प्रतिनिधि न थे। उन्हें सरकारने ही नामज़द किया था और उनमें अधिकतर ऐसे ही लोग थे जो देशहितकी अपेक्षा साम्प्रदायिक हितको अधिक महत्त्व देते थे। उनका ख़याल था कि भारतके स्वतंत्र हो जाने पर बहुमतवाली जातियाँ अल्पसंख्यक जातियोंपर अत्याचार करेंगी, अतः वे लोग भावी शासन-विधानमें अपनी अपनी जाति या सम्प्रदायके लिए विशेष संरक्षण चाहते थे। महात्माजीने अल्पसंख्यक जातियोंके प्रतिनिधियोंको हर तरहसे आश्वासन देनेकी चेष्टा की और उन्हें समझा बुझाकर इस प्रश्नका निपटारा सन्तोषजनक रूपसे करा देनेका उद्योग किया, किन्तु इसमें वे कृतकार्य न हो सके। *

इधर भारतमें संयुक्तप्रान्तके किसानोंकी दशा शोचनीय होती जा रही थी, जिससे उनके लिए लगान चुकाना बहुत मुश्किल हो रहा था। संयुक्त प्रान्तीय कांग्रेस कमेटीने सरकारका ध्यान इस ओर आकर्षित किया किन्तु उससे विशेष लाभ न हुआ। तब कांग्रेसकी ओरसे लगानबन्दी आन्दोलन शुरू होनेके लक्षण देखकर सरकारने इस परिस्थितिका सामना करनेके लिए एक आर्डिनेन्स (काला कानून) जारी कर

---

* गत वर्ष (१९३२ में) पण्डित मदनमोहन मालवीयजीने भी प्रयागमें हिन्दू मुसलिम नेताओंके परामर्शसे इस समस्याको सुलझानेका प्रयत्न किया था। मुसलमान केन्द्रीय शासनमें ३२½ प्रतिशत प्रतिनिधित्व लेनेको तैयार हो गये, किन्तु यह समाचार प्रकाशित होते ही भारत-सचिवने समयके पहले ही यह घोषणा कर दी कि हम मुसलमानोंको ३३⅓ प्रतिशत स्थान देंगे। निदान हिन्दू-मुसलिम एकताका यह प्रयत्न भी संकुचित विचारोंकी प्रबलताके कारण असफल हुआ।

दिया। इसके पहले एक आर्डिनेन्स बंगाल प्रान्तमें भी निकल चुका था। शीघ्र ही सीमाप्रान्तके लिए भी दो काले कानूनोंकी घोषणा की गयी और जहाँ तहाँ धर-पकड़ शुरू हो गयी। महात्माजीने भारत पहुँच कर बड़ी शान्तिके साथ यहाँकी परिस्थिति समझनेका प्रयत्न किया और तार भेजकर बड़े लाटसे मिलनेकी अनुमति माँगी। वाइसरायने इस शर्त्तपर मुलाकातकी अनुमति देना स्वीकार किया कि बंगाल, संयुक्त प्रान्त तथा सीमा प्रान्तमें जो आर्डिनेन्स जारी किये गये हैं, उनके सम्बन्धमें कोई बातचीत न की जायगी। महात्माजीने दुबारा प्रयत्न किया किन्तु उन्हें पुनः निराश होना पड़ा।

अब कांग्रेसने पुनः सत्याग्रह आन्दोलन शुरू कर दिया। सरकार भी इसके लिए तैयार थी। उसने सारी शक्ति लगाकर आन्दोलनको कुचल डालनेकी चेष्टा की। उसकी ओरसे एक एक करके पूरे एक दर्जन आर्डिनेन्स जारी किये जिनकी धाराएँ बहुत व्यापक थीं। उसे आशा थी कि इन काले क़ानूनोंकी सहायतासे वह दोही तीन महीनोंके भीतर कांग्रेसकी शक्ति चूर्ण कर देगी, किन्तु जब छ महीने बीत जानेपर भी कांग्रेसका प्रभाव कम न हुआ, तब उक्त कानूनोंकी अवधि पुनः छ महीनेके लिए बढ़ा दी गयी। बादमें इनमेंसे कुछ आर्डिनेन्सोंको तीन सालके लिए बाक़ायदा कानूनका रूप दे दिया गया।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है उससे स्पष्ट है कि दस ही पन्द्रह वर्षोंके भीतर जनतापर कांग्रेसका प्रभाव बहुत बढ़ गया है। यह सच है कि सरकारके पास पुलिस है और सेना है, गोलाबारूद है और रुपया है, अतः यदि वह चाहे तो कुछ समयके लिए कांग्रेसकी शक्ति कुण्ठित कर सकती है, किन्तु

ऐसी आशा करना कि हमेशाके लिए कांग्रेसका नामोनिशान मिटाया जा सकता है, व्यर्थ है। कांग्रेस भारतीय राष्ट्रीयताकी उस लहरकी सूचक है जो अब देशके एक कोनेसे दूसरे कोने-तक फैल चुकी है। अब यह नहीं कहा जा सकता कि स्वराज्य प्राप्तिकी आकांक्षा शहरोंके थोड़ेसे अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगोंमें ही दृष्टि-गोचर होती है। गाँवोंकी अपढ़ जनता तथा समाजके प्रायः प्रत्येक वर्गके लोगोंके मनमें यह भाव जड़ पकड़ गया है कि जबतक भारतीयोंको स्वायत्त शासनका वास्तविक अधिकार प्राप्त नहीं हो जाता, तबतक देशके कष्ट दूर न होंगे।

भारतके नेताओंको ब्रिटिश साम्राज्यवादियोंका यह तर्क मान लेनेमें कोई आपत्ति नहीं है कि अंग्रेज़ोंने इस देशमें शान्ति स्थापित की और उनके शासनसे भारतको कई बातोंमें लाभ भी पहुँचा है, किन्तु वे यह माननेके लिए तैयार नहीं कि ब्रिटेन परोपकारिताके भावसे प्रेरित होकर ही यहाँका शासन कर रहा है। वे यह जानते हैं कि ब्रिटेनने भारतके लिए जो कुछ किया है, उसका बहुत काफी पुरस्कार भी वह ले चुका है। वे स्पष्ट ही देख रहे हैं कि लगातार डेढ़ सौ वर्षोंसे ब्रिटिश शासन-का लाभ उठाते हुए भी यहाँकी ९० प्रतिशत जनता अशिक्षित है। फिर "भारतीय रेलों, सड़कों तथा नहरोंके बनवानेमें इतनी अधिक ब्रिटिश पूँजीके लगाये जाने पर भी यह निर्विवाद सत्य मानना ही पड़ता है कि यहाँकी आबादीका ६६ प्रतिशत भाग घोर दरिद्रताकी अवस्थामें पड़ा हुआ क़रीब क़रीब भूखों मरता है। दुर्भिक्ष तथा प्लेग आदि बीमारियोंका भय उसे हमेशा ही बना रहता है।"*

* लैम्बर्ट कृत 'माडर्न इम्पीरियलिज़्म', पृ० ४७

भारतीयोंके असन्तोषका एक कारण ब्रिटेनकी व्यापारिक नीति भी है। भारतीय हितोंके संरक्षणका दम भरनेवाली ब्रिटिश सरकार इस देशके व्यापारके सम्बन्धमें शुरूसे ही जिस नीतिका प्रयोग करती रही है, उसके परिणाम स्वरूप यहाँके उद्योग-व्यवसाय चौपट हो गये और देश छोटीसे लेकर बड़ी चीज़ों तकके लिए परमुखापेक्षी हो गया। यहाँ यह लिखनेकी आवश्यकता नहीं कि किस तरह पुनः पुनः आयात-कर बैठाकर तथा अन्य उपायोंका प्रयोग कर ब्रिटेनने अपने यहाँ भारतके बने सूती तथा रेशमी वस्त्रोंका आना रोकनेका प्रयत्न किया था। वह नहीं चाहता था कि नूतन आविष्कारोंसे लाभ उठाकर भारत भी अपने उद्योग-व्यवसायोंकी उन्नतिका प्रयत्न करे, इसीसे भारत सरकार यहाँके उद्योग-व्यवसायोंको प्रोत्साहन देनेमें असमर्थ रही। नतीजा यह हुआ कि जहाँ पहले भारतसे ब्रिटेनको कपड़ा जाया करता था, वहाँ अब ब्रिटेनका ही कपड़ा भारतीय बाज़ारोंमें भरने लगा। लैंकेशायरवाले बराबर इस बातका ध्यान रखते थे कि भारतमें वहाँके कपड़े पर कोई ऐसा आयात-कर न लगाया जाय जिससे भारतीय कपड़ेको अनायास संरक्षण प्राप्त हो जाय। इसीसे जब भारत सरकारने विदेशी वस्त्रपर ३॥ प्रति शत आयात-कर बैठानेका निश्चय किया, तब उन लोगोंने बड़ा शोरगुल मचाया था। उनके दबावमें पड़कर भारत सरकारने देशी मिलोंमें तैयार होनेवाले कपड़ेपर भी उसी हिसाबसे अर्थात ३½ प्रतिशत कर लगा दिया। यह अन्धेर सन् १८९६ से १९१६ तक याने बीस वर्षतक बराबर जारी रहा। सन् १९१७ में विदेशी कपड़े पर लगनेवाला कर बढ़ाकर ७½ कर दिया गया और चार वर्ष

बाद इसमें पुनः ३½ प्रति शतकी वृद्धि की गयी। इस कर-वृद्धिके समय भी लैंकेशायरवालोंने काफी विरोध किया था किन्तु आर्थिक आवश्यकतावश तथा अन्य कारणोंसे भारत सरकारने इस बार उस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। सन् १९२५ में, अर्थात तीस वर्षतक बराबर विरोध होनेके बाद, देशी कपड़ेपरका कर उठा दिया गया।

यद्यपि यहाँकी अर्थ-नीतिका नियंत्रण करनेके सम्बन्धमें अब भारत सरकारको पहलेकी अपेक्षा अधिक स्वतंत्रता मिल गयी है, फिर भी यह कहना कठिन है कि ब्रिटिश सरकारका कोई भी दबाव, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष, उसपर नहीं रह गया है। सन् १९१९ में जो शासन-सुधार भारतमें जारी किये गये थे, उनमें तथा साइमन कमीशनने जो रिपोर्ट प्रकाशित की थी और अब श्वेत पत्रके अनुसार जो योजना तैयार की गयी है, उसमें भी काफी आर्थिक संरक्षण तथा बंधन रखे गये हैं। इस समय प्रान्तीय गवर्नरों और वाइसरायको जो विशेषाधिकार प्राप्त हैं तथा भावी सुधारोंकी प्रस्तावित योजनामें भी जितने व्यापक अधिकार उनके लिए सुरक्षित रखे गये हैं, उनसे स्पष्ट है कि उदारताकी हजार दुहाई देते हुए भी शासकोंके लिए साम्राज्यका मोह छोड़ना कठिन है।

'दि न्यू स्टेट्समैन एण्ड नेशन' के कथनानुसार "श्वेतपत्रकी योजनाका प्रत्येक भारतवासीसे घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी,—यह स्पष्ट है कि उसे तैयार करते समय इस बातका ज़रा भी ध्यान नहीं रखा गया है कि उस देशके करोड़ों व्यक्तियोंपर उसका क्या असर पड़ेगा। अनुदारदलके थोड़ेसे असन्तुष्ट राजनीतिज्ञों तथा (सिविल सर्विसके) कुछ अवसर-प्राप्त कर्म-

चारियोंकी इच्छाका खयाल रखकर ही उसकी रचना की गयी है।...नयी व्यवस्था कबसे जारी होगी, यह प्रश्न हमेशा महत्त्वपूर्ण समझा जाता है, किन्तु योजनामें वह कुछ अनिश्चित शर्त्तोंके आसरे छोड़ दिया गया है, उदाहरणार्थ रिज़र्व बैंकका काम, जो अभी स्थापित भी नहीं हुआ है, भलीभाँति चलने लगे, और भारतका निर्यात व्यापार आयात व्यापारकी अपेक्षा सामान्यतया जिस तरह पहले बढ़ा हुआ रहता था, उसी तरह रहने लगे।"* यही कारण है कि उससे यहाँके नरमसे नरम दलवाले लोग भी सन्तुष्ट नहीं हैं, फिर भी इंग्लैण्डके चर्चिलपन्थियोंके मनमें उसके कारण जो बौखलाहट पैदा हो गयी है, उससे साम्राज्यवादियोंकी मनोवृत्तिपर अच्छा प्रकाश पड़ता है। ऐसी अवस्थामें साम्राज्यका प्रेम ब्रिटिश शासकोंको खुशी खुशी भारतीयोंके हाथ वास्तविक अधिकार सौंपने देगा, इसमें सन्देह ही है। कमसे कम निकट भविष्यमें तो ऐसी आशा करनेके लिए कोई कारण प्रतीत नहीं होता।

नवाँ अध्याय

इण्डोचाइना, मलाया और स्याम

इण्डोचाइनासे आजकल साधारणतया वह भूभाग लिया जाता है जो ब्रह्मदेश तथा स्यामके पूर्वमें, चीनकी दक्षिणी सीमासे सटा हुआ है और जिसपर फ्रांसका आधिपत्य है।

* देखो "माडर्न रिव्यू", मई १९३३ (पृ० ५९४)

इसमें टांगकिंग, अनाम, लाओस, कम्बोडिया तथा कोचीन चाइना—ये पाँच राज्य और क्वांग चाऊ नामक बन्दर शामिल हैं। इनका क्षेत्रफल २ करोड़ ८५ लाख वर्ग मील (अर्थात् फ्रांसके सवायेसे भी अधिक) और आबादी लगभग दो करोड़ है।

दसवीं शताब्दीके उत्तरार्द्ध से १८वीं शताब्दीके अन्ततक अनाम स्वतंत्र रहा। सन् १७८७ में वहाँके राजाने एक फ्रांसीसी पादरीके कहनेसे कुछ युद्धोंमें फ्रांसकी सहायता लेना स्वीकार किया और उससे एक सन्धि की जिसके अनुसार इण्डोचाइनाके किनारेका एक द्वीप उसे (फ्रांसको) प्राप्त हो गया। उन्नीसवीं शताब्दीके शुरूमें अनामके राजाओंकी शक्ति क्षीण होने लगी। सन् १८५० तक कम्बोडिया उनके हाथसे निकल गया और कोचीन चाइनापर भी नाम मात्रका ही प्रभुत्व रह गया। सात वर्ष बाद एक स्पेनिश पादरीकी हत्याका बहाना लेकर स्पेन तथा फ्रांसकी सेनाने अनामपर आक्रमण कर दिया। जून १८६२ में जो सन्धि हुई उससे कोचीन चाइनाके तीन प्रान्त फ्रांसको सौंप दिये गये। सन्धिमें स्पेन तथा फ्रांसके पादरियोंका अनामवालोंको ईसाई बनानेका अधिकार भी मान लिया गया था। कुछ ही वर्षोंके बाद फ्रांसने कोचीन चाइनाके बचे हुए तीन प्रान्त भी जीतकर अपने अधीन कर लिये।

कोचीन चाइनाके उत्तरमें कम्बोडिया है। फ्रांसीसियोंके आनेके पहले कोई दो सौ वर्षोंतक इस देशपर उत्तरकी ओरसे स्याम तथा दक्षिणकी ओरसे अनाम अपना दबाव डालनेका प्रयत्न करते आरहे थे। यहाँ भी कुछ ईसाइयोंकी हत्याके बाद फ्रांसने हस्तक्षेप किया और अगस्त १८६३ में उसने कम्बोडिया

ब्रह्म देश
चीन
टौंकिंग
क्वांग चाऊ वे
हैनन
स्याम
बैंकाक
कम्बोडिया
कोचीन चायना
स्याम की खाड़ी
मलाया के राज्य
चीन समुद्र

इण्डो-चाइना

के राजासे एक सन्धि कर ली, जिससे कम्बोडियापर फ्रांसका संरक्षण स्थापित हो गया। फ्रांसने शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने तथा बाह्य आक्रमणोंसे उसकी रक्षा करनेका वचन दिया। इसके बदलेमें उसे कुछ व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त हुईं और फ्रांसीसी पादरियोंको कम्बोडियामें धर्मप्रचार करनेकी स्वतंत्रता मिल गयी।

अब फ्रांसीसियोंकी इच्छा चीनके दक्षिण भागसे व्यापार करनेकी हुई और उन्होंने खयाल किया कि वहाँ जानेका एक सीधा रास्ता टांगकिंगके बीचसे बहनेवाली लाल नदी हो सकती है। सन् १८७३ में फ्रांकोइ गार्नियर नामक एक फ्रांसीसी अफ़सरने कुछ आदमियोंको साथ लेकर उक्त नदीके मुहानेपर जाकर क़ब्ज़ा कर लिया। दूसरे ही वर्ष अनामके राजासे एक सन्धि हुई, जिसके अनुसार अनामकी परराष्ट्र-नीतिपर फ्रांसका नियंत्रण स्थापित हो गया और उसने समुद्री डाकुओं तथा अन्य दुश्मनोंसे अनामकी रक्षा करनेकी जिम्मे-दारी अपने ऊपर ले ली।

कुछ ही समयके बाद अनामका राजा फ्रांसके नियंत्रणसे पीछा छुड़ानेकी चेष्टा करने लगा और वह सन्धिकी शर्तोंकी भी उपेक्षा करने लगा। लाल नदीका मार्ग व्यापारके लिए नहीं खोला गया। 'काले झण्डेवाले' डाकू फ्रांसीसी व्यापारियोंको तंग करने लगे। फ्रांसको शक हुआ कि अनामके राजा तथा कुछ चीनी अफ्सरोंका प्रोत्साहन पाकर ही डाकुओंकी हिम्मत इतनी बढ़ गयी है। सन् १८८२ में फ्रांसीसी बेड़ेके एक अफ्सर-ने हनोइपर क़ब्ज़ा कर लिया। इसके बाद उसने लाल नदीके मुहानेके पासवाले समूचे त्रिकोणपर अधिकार जमा लिया

किन्तु मई १८८३ में वह मार डाला गया। तब उसकी हत्याका बदला लेनेके लिए एक और फ्रांसीसी बेड़ा भेजा गया। उसने जाकर अनामकी राजधानी ह्यू नगरपर गोलाबारी शुरू की। निदान अनामके राजाने सन्धिकी शर्तोंका यथोचित रूपसे पालन करना स्वीकार किया। अब देशकी आर्थिक तथा तटकर सम्बन्धी व्यवस्था फ्रांसीसियोंको सौंप दी गयी और टांगकिंगके शासनका निरीक्षण करनेका अधिकार भी उन्हें दे दिया गया।

जब फ्रांसीसी सेना टांगकिंग पहुँची, तब चीनी अफसरोंने उसका विरोध करना शुरू किया। अनामका राजा चीनको कर दिया करता था, अतः वह चीनके अधीन समझा जाता था। इसीसे चीनकी सरकारने फ्रांससे अपनी सेना हटा लेनेको कहा। जब फ्रांसने उसके कहनेपर कोई ध्यान नहीं दिया, तब चीनी सेनाने लड़ाई शुरू कर दी। फ्रांसीसी सैनिकोंने चू नामक स्थानमें उसे शीघ्र ही हरा दिया। इसके बाद दो तीन स्थानोंमें फ्रांसकी सेनाको भी बेतरह पराजित होना पड़ा। ९ जून १८८५ को टाइण्टसिनकी सन्धि हुई, जिसके अनुसार चीनने टांगकिंग तथा अनाम सम्बन्धी अपना दावा छोड़ दिया और उनपर फ्रांसका संरक्षण स्वीकार कर लिया। फ्रांसको टांगकिंगमें रेलकी सड़क तैयार करने तथा अपनी सेना रखनेका भी अधिकार मिल गया।

टांगकिंगवालोंको फ्रांसके संरक्षणकी बात अच्छी नहीं लगी और वे बराबर उसका विरोध करते रहे। इसीसे फ्रांसको वहाँ अपनी स्थिति सुदृढ बनानेमें पाँच वर्ष लग गये। इसके बाद भी वह केवल सैनिक बलके सहारे ही वहाँ अपना

प्रभुत्व बनाये रखनेमें समर्थ हो सका। अनाममें भी फ्रांसके संरक्षणका विरोध शुरू हो गया। वहाँका नवयुवक राजा निर्वासित हो जाने पर भी तीन वर्षतक बराबर विद्रोहियोंकी सहायता करता रहा। १८८८ के अन्तमें वह गिरफ्तार कर अलजीरिया भेज दिया गया। बहुत दिनोंके सैनिक शासनके बाद देशमें शान्ति स्थापित हुई।

स्यामकी हरकतोंके कारण अनामकी पश्चिमी सीमापर पुनः पुनः अशान्ति उत्पन्न होते देखकर फ्रांसने लाओसके कई नगरोंपर क़ब्ज़ा कर लिया। ३ अक्टूबर १८९३ को बैंगकाककी सन्धि हुई, जिससे स्यामके राजाको मेकांग नदीके पश्चिम तट तथा अपनी दक्षिणी सीमापरकी कुछ भूमि क्रमशः अनाम तथा कम्बोडियाको सौंप देनी पड़ी। इसके बाद सन् १९०४ तथा १९०७ की सन्धियोंके अनुसार भी लाओसका कुछ भाग अनाममें तथा दक्षिणके चार प्रान्त कम्बोडियामें मिला दिये गये।

इस प्रकार कोचीन चाइना, कम्बोडिया, अनाम, टांगकिंग और लाओस तथा चीनके किनारेपरका क्वांग चाउ नामक बन्दर*, इन सबको मिलाकर वर्त्तमान इण्डो चाइना बना है। ये सब देश एक फ्रांसीसी गवर्नर-जनरलके अधीन हैं। फ्रांसने अपने इन उपनिवेशोंकी उन्नतिके लिए विशेष प्रयत्न किया है। चिकित्सा सम्बन्धी तथा व्यावसायिक शिक्षाका प्रसार करने और कृषि एवं व्यापार-वाणिज्यकी उन्नतिकी ओर वहाँके शासकोंने पर्याप्त ध्यान दिया है। पक्की सड़कों, रेलों, डाकखानों, तारघरों तथा बन्दरगाहों, अस्पतालों

* यह सन् १८९८ में चीन द्वारा फ्रांसको पट्टेपर दिया गया था।

आदिका निर्माण यथेष्ट मात्रामें किया गया है। यही कारण है कि थोड़े ही समयके भीतर इन देशोंने साधारणतया अच्छी उन्नति कर ली है। इनपर विजय प्राप्त करनेमें फ्रांसको चाहे जितनी रक़म खर्च करनी पड़ी हो, किन्तु अब इनके पीछे उसे कुछ भी व्यय नहीं उठाना पड़ता। इन देशोंके शासनमें जो व्यय पड़ता है, वह प्रायः इनकी आयसे निकल आता है। लाओसके शासनमें अवश्य कुछ घटी होती है, जिसकी पूर्त्ति कम्बोडिया, कोचीन चाइना आदिकी आमदनीसे कर ली जाती है। इस प्रकार इण्डो चाइनाकी उन्नतिसे फ्रांसका भी लाभ हो रहा है। आवश्यकताके समय वहाँसे उसे सैनिक सहायता भी मिल सकती है, उदाहरणार्थ गत यूरोपीय युद्ध-के समय ही फ्रांसने यहाँसे काफी सैनिक बुलवाये थे।

फ्रांसके शासनमें कई त्रुटियाँ भी हैं। उनमें से एक यह है कि कुलीन एवं प्रतिष्ठित फ्रांसीसी वहाँकी सरकारी नौकरियों-के प्रति प्रायः उदासीनसे रहते हैं। उन्हें वे एक तरहकी सजा या एक तरहकी झंझट ही समझते हैं। उन्हें परदेशमें रहना बहुत अखरता है। अतः साधारणतया निम्न श्रेणीके फ्रांसीसी ही वहाँकी नौकरियोंमें भरती होते हैं। इसीसे वहाँके शासनमें अनेक बुराइयाँ दृष्टिगोचर होती हैं। फ्रांसीसी कर्मचारियोंमें ऐसे लोगोंकी संख्या कम नहीं है जो वहाँकी भाषा तक नहीं जानते और जिनके मनमें वहाँवालोंके प्रति कोई सहानुभूति नहीं है। यही कारण है कि वहाँकी जनताके मनमें फ्रांसीसी शासकोंके प्रति कोई स्नेह या भक्ति दृष्टिगोचर नहीं होती।

"अनाम और टांगकिंगके लोग स्वराज्य प्राप्त करना चाहते हैं। फ्रांसीसी उनपर मनमाने कर लगाते हैं और उनको दूसरे

देशोंके साथ व्यापार नहीं करने देते। तात्पर्य यह कि उन्होंने ऐसे उपाय कर रखे हैं कि आप तो उनको खूब लूटें और स्वयं उनको या दूसरोंको विशेष लाभ न पहुँचने दें। वहाँवाले न तो लाओसकी सेनामें भरती होना चाहते हैं और न उसके शासनका व्यय देना चाहते हैं, क्योंकि लाओसकी खानों और जंगलोंसे केवल फ्रांसीसियोंको ही लाभ होता है।...१९०८ के क्रान्तिकारक आन्दोलनके कारण फ्रांसको वहाँ अपनी सेना बढ़ानी पड़ी थी और १९१० में बहुत कुछ लड़ झगड़कर उसे वहाँके अनेक विद्रोहियोंको द्वीपान्तरित करके गायना भेजना पड़ा था। १९११ और १९१३ में भी वहाँ उपद्रव हुए थे। अप्रैल १९१३ में वहाँके अनाम नगरमें एक बम फेंका गया था, जिससे दो फ्रांसीसी तथा कई यूरोपीयन मर गये थे। मुकद्मा चलाने पर पता लगा कि फ्रांसीसियोंका शासन नष्ट करनेके लिए एक षड्यंत्र भी रचा गया था।"*

वहाँवालोंमें स्वराज्य-प्राप्तिको आकांक्षा जागरित हो जानेके कारण यह निश्चित है कि स्वशासनका वास्तविक अधिकार जबतक उन्हें नहीं मिल जाता, तबतक वे सन्तुष्ट नहीं हो सकते। फ्रांसीसी अधिकारी भी यह बात समझ रहे हैं, इसीसे अब वे लोग वहाँवालोंको शासन सम्बन्धी कार्योंमें ज़्यादा मौक़ा देने लगे हैं। यदि इस मामलेमें उन्होंने ढीलढाल की और साम्राज्यवादके मोहमें पड़कर अपने "फौलादी ढाँचे" को अधिक मजबूत बनानेकी चेष्टा की, तो असन्तोषकी मात्रा और भी अधिक बढ़ जायगी, जिससे फ्रांसको हानि छोड़कर लाभ होनेकी संभावना नहीं।

---

* वर्तमान एशिया पृ० ६४–६५

जब स्यामके पूर्वमें फ्रांस अपनी शक्ति बढ़ा रहा था, तब उसके पश्चिम तथा दक्षिणमें ब्रिटेन भी अपने हाथ-पाँव फैलानेका प्रयत्न कर रहा था। ब्रह्मदेशके कुछ भागपर अंग्रेज पहले ही क़ब्ज़ा कर चुके थे, जैसा कि हम (पृष्ठ २८८ पर) लिख आये हैं। सन् १८८० में जब वहाँके राजा थीबाने टांगकिंगसे मण्डालेतक रेलकी सड़क बनानेका ठेका फ्रांसीसियोंको दे दिया और वह फ्रांसके साथ खास तरहसे रियायत करने लगा, तब ब्रिटेनको यह बात बहुत खटकने लगी। भारतकी सीमाके पासतक फ्रांसका प्रभाव बढ़ते देखकर वह चुप कैसे रह सकता था। जब वहाँके राजाने एक ब्रिटिश कम्पनीको दी गयी सुविधाएँ छीनकर फ्रांसीसी कम्पनीको देनेकी चेष्टा की, तब भारतकी अंग्रेजी सरकारने उसके पास एक पत्र भेजकर इस बातपर ज़ोर दिया कि वह अपनी राजधानीमें एक ब्रिटिश दूत रखना तथा परराष्ट्र सम्बन्धी मामलोंमें ब्रिटेनकी सलाहसे काम करना स्वीकार कर ले। इसके बाद दस हजार ब्रिटिश तथा भारतीय सैनिक मण्डालेपर चढ़ गये। वहाँका राजा थीबाँ गिरफ्तार कर हिन्दुस्थानको भेज दिया गया और पहली जनवरी १८८६ को ब्रह्मदेशके ब्रिटिश साम्राज्यमें मिलाये जानेकी घोषणा कर दी गयी।

दक्षिणकी ओर अग्रसर होनेका अंग्रेजोंका प्रयत्न इसके बहुत पहले ही शुरू हो गया था। सन् १७८६ में ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनीकी अनुमतिसे सर फैन्सिस लाइटने मलाया प्रायद्वीपके पश्चिमी किनारेपर स्थित केडा राज्यके सुलतानसे एक सन्धि की, जिसके अनुसार अंग्रेजोंने स्यामके आक्रमणोंसे सुलतानकी रक्षा करनेका वचन दिया और सुलतानने दस

हजार स्थानीय डालरको वार्षिक रक़मके बदले उन्हें समीपस्थ पेनांग द्वीपपर क़ब्ज़ा करनेकी इजाज़त दे दी। सन्धिकी शर्त्तें तय तो ज़रूर हो गयी थीं, किन्तु ब्रिटिश प्रतिनिधिने उनपर हस्ताक्षर नहीं किये। "जब स्यामने सुलतानपर आक्रमण किया, तब अंग्रेजोंकी ओरसे उसे कोई मदद नहीं दी गयी। सुलतान तथा उसकी प्रजा नष्ट हो गयी, पर अंग्रेजोंकी बस्ती कायम रही।"*

इधर जावाके लेफ्टनेण्ट गवर्नर स्टैम्फोर्ड रैफिल्ज़ने भारतके गवर्नर-जनरलको मलक्काके जल-विभाजकपर ब्रिटिश नियंत्रण स्थापित करनेकी सलाह दी। ईस्ट इण्डिया कम्पनीने उसे आदेश दिया कि पेनांगसे आगे चलकर और दक्षिणमें कोई ऐसा उपयुक्त स्थान प्राप्त करनेका प्रयत्न किया जाय, जहाँसे उक्त जलविभाजकका नियंत्रण भी किया जा सके और जो पूर्वी द्वीपपुंज तथा प्रशान्त सागरमें ब्रिटिश व्यापारकी वृद्धिके लिए एक मुख्य अड्डेका काम दे सके। भाग्यवश मलाया प्रायद्वीपकी नोकके पास सिंगापुर नामका द्वीप इस समय प्रायः खाली पड़ा हुआ था। ६ फरवरी १८१९ को जोहोरके सुलतानसे एक प्रारम्भिक सन्धि कर उसपर क़ब्ज़ा कर लिया गया। सन् १८२४ में जो पक्की सन्धि हुई, उससे कुछ वार्षिक रकमके बदले यह स्थान तथा इसके किनारेसे दस मील इधर उधरका क्षेत्र हमेशाके लिए ब्रिटेनकी अधीनतामें चला गया।

मलाया प्रायद्वीपके पश्चिमी तटपर मलक्का नामक एक और स्थानपर सन् १७९५ में ही ब्रिटेनने अपना प्रभुत्व स्था-

* 'ब्रिटिश इम्पीरियलिज़्म इन मलाया' (कोलोनिअल सीरीज़) पृ० ७

पित कर लिया था। इसके पहले यह डच लोगोंके अधिकारमें था। सन् १८१५ में वियेनाकी सन्धिके अनुसार यह पुनः उन्हें लौटा दिया गया, किन्तु स्टैम्फोर्ड रैफिल्ज़की प्रेरणासे सन् १८२४ में सुमात्रा द्वीपके बेंकूलन स्थानके बदले फिर डच लोगोंसे वापस ले लिया गया।

इस प्रकार मलाया प्रायद्वीपके पश्चिमी किनारेपर तीन मुख्य स्थान प्राप्त कर लेनेसे ही ब्रिटेनकी तृप्ति न हुई। अब वह भीतरकी ओर अग्रसर होनेका मौक़ा ढूँढ़ने लगा। वहाँकी स्थितिका बहाना लेकर उसे शीघ्र ही अपनी इच्छा पूरी करनेका अवसर मिल गया। उस समय समस्त प्रायद्वीपमें अशांति और अव्यवस्था फैली हुई थी। जानमालकी रक्षाका उचित प्रबन्ध न होनेके कारण व्यापार रुका हुआ था। अपने सरदारोंके षड्यंत्रों तथा आन्तरिक झगड़ोंके मारे वहाँके सुलतान बहुत परेशान थे। उनकी आमदनीका एक बड़ा जरिया वहाँकी टीनकी खानें थीं, जो चीनी व्यापारियोंके अधिकारमें थीं। इन व्यापारियोंमें परस्पर खूब प्रतिद्वन्द्विता चलती थी और एक दल प्रायः दूसरे दलको हानि पहुँचानेकी चेष्टा किया करता था। समुद्री डाकुओंके मारे लोग अलग परेशान थे। इसीसे ब्रिटिश व्यापारियोंकी तरह अनेक चीनी व्यापारियोंने भी ब्रिटिश सरकारसे रक्षाकी प्रार्थना की।

ब्रिटिश सरकार तो यह चाहती ही थी कि ब्रिटिश व्यापारकी रक्षाका उपाय भी हो जाय और लगे हाथ परोपकार करनेका श्रेय भी मिल जाय। अतः सन् १८७२-७३ में जब पीराककी गद्दीके लिए गृहयुद्ध शुरू हुआ, तब पेनांग आदि मुहानेकी बस्तियोंके गवर्नर सर एण्ड्रू क्लार्कने हस्तक्षेप कर शांति

स्थापित करनेका प्रयत्न किया। शीघ्र ही एक सन्धि की गयी, जिसके अनुसार वहाँके सरदारोंने पीराकमें एक ब्रिटिश दूत रखना और धर्म तथा रीति-रिवाजको छोड़कर अन्य सब मामलोंमें उसकी सलाह मानकर काम करना स्वीकार किया। दूसरे ही वर्ष वहाँके निवासियोंने ब्रिटिश दूतकी हत्या कर डाली, क्योंकि उन्हें अंग्रेजोंका हस्तक्षेप पसन्द न था और वे ब्रिटिश दूतके हाथमें कर जमा करनेके खास तौरसे विरोधी थे।

इन लोगोंका दमन करनेके लिए तुरन्त ही हांगकांग तथा भारतसे सेना बुलायी गयी। इसकी सहायतासे विद्रोह शान्त कर दिया गया और कुछ सरदार तथा अन्य लोग गिरफ्तार कर सिंगापुर भेज दिये गये। वहाँ उनपर मुकदमा चलाया गया। ब्रिटिश दूतकी हत्याके अभियोगमें चार व्यक्तियोंको फाँसी दी गयी, चार निर्वासित कर दिये गये और कुछ लोगोंको आमरण क़ैदकी सजा मिली। जिस गाँवमें दूतकी हत्या हुई थी, वह नष्ट कर दिया गया और उसके पुनः बसाये जानेकी मनाही कर दी गयी। सर फ्रेंक स्वेटनहमके कथनानुसार "यह कारवाई उस समय बहुत ज़रूरी थी, इस समय वह चाहे कितनी ही क्रूरतापूर्ण क्यों न जँचे। इसकी न्यायोचितताके सम्बन्धमें मलायावालोंने कोई आपत्ति नहीं की और उस समयकी परिस्थितिको देखते हुए यह कठोर भी नहीं कही जा सकती।" मलायावालोंके चुप रह जानेका कारण तो स्पष्ट ही है। ब्रिटिश सेना और अस्त्रशस्त्रोंके सामने वे बेचारे कर ही क्या सकते थे? उन्हें लाचार होकर ब्रिटिश-न्यायके सामने सिर झुकाना पड़ा।

इसी तरह नीग्री सेम्बीलन (अर्थात् नौ रियासतों) में भी

सर्वसाधारणको अभिभूत करनेके लिए सैनिक बलका प्रयोग किया गया। जब इस राज्यके एक भागमें, जहाँ खानोंकी बहुतायत थी, एक अन्वेषकदल पहुँचा, तब वहाँवालोंने उसका विरोध किया। इसपर सेना तथा पुलिसने उनपर आक्रमण कर दिया। गुरखा पलटन तथा अन्य सेनाके रूपमें पर्याप्त सहायता पहुँच आने पर अंग्रेज लोग अपने विरोधियोंको भगा देनेमें समर्थ हुए। इसके बाद सेलंगर राज्यपर भी ब्रिटिश प्रभुत्व स्थापित हो गया। सबसे अन्तमें पाहंग राज्य ब्रिटिश संरक्षणमें आया। वहाँ ब्रिटिश राज्यके एक चीनी प्रजाजनकी हत्या हो जानेके कारण ब्रिटेनको दबाव डालनेका मौक़ा मिल गया। निदान सन् १८८८ में वहाँके शासकने ब्रिटिश दूतकी सलाहसे काम करना स्वीकार कर लिया। इसके बाद भी वहाँ तबतक शान्ति नहीं हुई, जबतक ब्रिटिश सैनिकोंने विद्रोहियोंका पीछा कर उन्हें पाहंगसे बाहर न खदेड़ दिया।

जुलाई १८९६ में पीराक, सेलंगर, नीग्रीसेम्बीलन तथा पाहंग, इन चारों राज्योंको मिलाकर एक संघ स्थापित कर दिया गया और उन्हें "संघभुक्त मलाया राज्य" का नाम दिया गया। शासनसूत्र सुलतानोंके हाथसे छीना नहीं गया और न उनके अधिकारोंमें ही कोई खास कमी की गयी। इतना अवश्य हुआ कि उनकी परराष्ट्रनीतिके नियंत्रणका अधिकार अब ब्रिटेनने अपने हाथमें ले लिया।

संघके बाहर अब मलायामें जो पाँच राज्य रह गये, उनमें दक्षिणका जोहोर राज्य सबसे बड़ा था। इसने भी सन् १८८५ में ब्रिटिश संरक्षण स्वीकार कर लिया। अपने चारों ओर ब्रिटिश प्रभावकी वृद्धि होते देखकर वहाँके सुलतानने भी

सन्धिपत्रपर हस्ताक्षर कर दिये। १२ मई १९१४ को पुनः एक सन्धि हुई जिसके अनुसार सुलतानने एक ब्रिटिश दूत अपने यहाँ रखना और महत्त्वपूर्ण मामलोंमें उसकी सलाह लेना स्वीकार किया। अब जोहोर होते हुए पेनांगसे सिंगापुरतक एक रेलवे लाइन बना दी गयी। रेलकी इस सड़कके आसपास जोहोरमें रबर-संग्रहका काम करनेवाली अनेक ब्रिटिश कम्पनियाँ स्थापित हो गयीं। सन् १९१० के बादसे यहाँपर खानोंसे टीन निकालनेका काम करनेके लिए भी ब्रिटिश कम्पनियाँ खुल गयीं और वे अच्छा लाभ उठा रही हैं।

जोहोरपर संरक्षण स्थापित हो जानेके बाद मलाया प्रायद्वीपके दक्षिण भागमें अब कोई स्थान ऐसा नहीं रह गया जो ब्रिटेनके प्रभावमें न आ गया हो, किन्तु उत्तरमें चार राज्य—केडा, परलिस, केलनटन तथा ट्रेंगानू अभीतक कहनेके लिए ब्रिटिश प्रभाव-क्षेत्रके बाहर थे, यद्यपि वस्तुतः उनपर भी ब्रिटेनका थोड़ा बहुत दबदबा पहले ही स्थापित हो चुका था। यहाँ भी ब्रिटिश व्यापारियोंको अनेक सुविधाएँ एवं विशेषाधिकार मिल चुके थे, किन्तु राजाकी ओरसे, जिसके अधीन ये राज्य अभीतक समझे जाते थे, उनके जानमालकी रक्षाका विशेष प्रबन्ध न था। इसीसे जब उक्त व्यापारियोंने इन राज्योंको भी अपने संरक्षणमें ले लेनेके लिए ब्रिटिश सरकारपर दबाव डाला, तब सन् १९०९ में ब्रिटेनने स्यामको इस बातके लिये राजी किया कि वह इन चार राज्योंका शासनाधिकार उसके हाथ सौंप दे। इसके बदलेमें ब्रिटेनने भी स्यामके मामलोंमें हस्तक्षेप करनेकी नीतिका परित्याग करना स्वीकार किया। १० मार्चको सन्धिपत्रपर हस्ताक्षर हो गये, जिसके

अनुसार स्यामके राजाने उक्त राज्योंसे कर वसूल करनेका दावा छोड़ दिया और वे प्रत्यक्ष रूपसे ब्रिटिश सरकारके अधीन हो गये।

इस प्रकार धीरे धीरे समस्त मलाया प्रायद्वीपपर अंग्रेज़ोंका अधिकार हो गया। ब्रिटिश साम्राज्यके महत्त्वपूर्ण भागोंमें इसकी गिनती है। गत यूरोपीय युद्धके समय "मुहानेकी बस्तियों" से ब्रिटेनको काफी सहायता मिली थी और एक करोड़ रुपये भी प्राप्त हुए थे। मलाया प्रायःद्वीपमें टीनकी खानें बहुत हैं और सारे संसारमें इस समय जितना रबर निकलता है, उसका आधेसे कुछ अधिक अकेले इस भूभागमें ही होता है।* आर्थिक महत्त्वके† साथ राजनीतिक एवं सामरिक दृष्टिसे भी यह ब्रिटेनके लिए विशेष उपयोगी है। मलक्का जल-विभाजक एवं सिंगापुरपर उसका प्रभुत्व होनेके कारण वह बड़ी आसानीसे सुदूरपूर्वके एक प्रमुख जल-

---

* सन् १९०५ में यहाँसे कोई १०० टन रबर ही बाहर गया था, किन्तु १९१० में ५½ हजार टन, १९१८ में ७८⅓ हजार और १९२२ में १२८½ हजार टन गया (ब्रिटिश इम्पीरियलिज़्म इन मलाया, पृ० ३२)

† "जब ब्रिटेनके अधीन कोई देश रेलकी सड़क तैयार करने या कोई पोताश्रय बनानेके लिए ऋण लेता है, तब ब्रिटिश पूँजीपतियोंको दुहरा लाभ होता है। एक तो उन्हें ऋणके रूपमें दी गयी पूँजीपर व्याज मिलता है, दूसरे ब्रिटिश कारखानोंमें बननेवाला माल भेजनेका आदेश मिलता है।......यह प्रायः निश्चित है कि ब्रिटिश उपनिवेश या संरक्षित राज्य ब्रिटेनको छोड़कर अन्य किसी देशसे कर्ज नहीं ले सकते। इन मामलोंका नियंत्रण करनेके लिए देशी राजाओंके पास ब्रिटिश 'सलाहकार' मौजूद ही रहते हैं।"—वही पुस्तक पृ० ६०

मार्गका नियंत्रण कर सकता है और आवश्यकताके समय यहाँ-अपना जहाजी बेड़ा इकट्ठा कर प्रशान्त सागरमें बहुत दूरतक युद्धका सञ्चालन कर सकता है।

ब्रिटेन तथा फ्रांसकी साम्राज्य-लिप्साका परिणाम यह हुआ कि ब्रह्मदेशसे लेकर अनाम तकका सारा भूभाग, एक स्याम देशको छोड़कर, इन दोनों देशोंके अधीन हो गया। स्याम भी उनके चंगुलसे बच नहीं सकता था, किन्तु उनके आपसके मतभेदके कारण वह किसी तरह अपनी स्वतंत्रताकी रक्षा करनेमें समर्थ हो सका, किन्तु इतना होते हुए भी उसे अपनी कई हजार वर्गमील भूमिसे हाथ धोनेके लिए बाध्य होना पड़ा।

अनामपर संरक्षण स्थापित करनेके बाद शीघ्र ही फ्रांसने स्यामसे झगड़ना शुरू कर दिया। स्यामको मेकांग नदीके वाम तटपर शान्ति स्थापित करनेका प्रयत्न करते देखकर फ्रांसने उसपर यह दोषारोपण किया कि वह उन स्थानोंको अपने कब्जेमें करता जा रहा है, जो वास्तवमें अनामकी पश्चिमी सीमाके अन्तर्गत हैं। उसने स्यामसे मेकांग नदीके पूर्वमें स्थित उक्त स्थानोंको शीघ्र ही खाली कर देनेके लिए कहा। स्यामने ऐसा करनेसे इनकार कर दिया। इस पर दोनोंमें लड़ाई छिड़ गयी। फ्रांसीसियोंका एक अफसर गिरफ्तार कर लिया गया और उनके कई आदमी मारे गये। तब फ्रांसने दूसरी ओरसे अपने कई लड़ाऊ जहाज स्यामकी राजधानी बैंकाक भेज दिये। दस दिनके घेरेके बाद स्यामको लाचार होकर फ्रांसकी माँग स्वीकार करनी पड़ी और मेकांगके पूर्वके स्थान खाली कर देने पड़े (देखो पृ० ३१३)। इसके तीन वर्ष बाद अर्थात् सन् १८९६

में ब्रिटेनने भी मेकांग नदीको फ्रांसीसी प्रभाव-क्षेत्रकी सीमा मान लिया।

जब सुदूर पूर्वमें फ्रांसकी स्थिति कुछ अधिक दृढ़ हो गयी, तब उसने स्यामके सम्बन्धमें प्राप्त अपने अधिकारोंका दुरुपयोग करना शुरू किया। उसने वहाँ बसनेवाले चीनियोंको भी अपने संरक्षणमें लेना शुरू किया। स्यामने इसका विरोध किया और फ्रांसीसी अधिकारियोंको सूचित कर दिया कि आपको यह अधिकार नहीं कि आप स्याममें बसनेवाले एशियावालोंको भी अपने संरक्षणमें लें। फ्रांसपर इसका कोई प्रभाव न पड़ा। जब उसने स्यामपर और अधिक दबाव डालनेकी चेष्टा की, तब स्यामके राजाको विवश होकर ब्रिटेनसे सहायता माँगनी पड़ी। ब्रिटेनने उसके पक्षका समर्थन किया किन्तु सन् १९०४ में फ्रांस तथा ब्रिटेनमें जो सन्धि हुई, उसके सम्बन्धमें स्यामसे कोई सलाह नहीं ली गयी। दोनोंने आपसमें अपने अपने प्रभाव-क्षेत्रकी सीमा तय कर ली। इसके अनुसार फ्रांसने दक्षिणकी ओरसे अग्रसर होनेका ब्रिटेनका अधिकार स्वीकार कर लिया और ब्रिटेनने फ्रांसको स्यामकी पूर्वी सीमापर मनमानी काररवाई करनेकी स्वीकृति दे दी। तदनुसार फ्रांसने स्यामको दबाकर शीघ्र ही ८००० वर्गमील भूमि उससे छीन ली, जैसा कि हम पृष्ठ ३१३ में लिख आये हैं। सन् १९०७ में स्यामको पुनः १२००० वर्गमील भूमि फ्रांसके हवाले करनी पड़ी। इसके बदलेमें उसे एक बन्दर तथा थोड़ी सी अन्य भूमि वापस मिली।

सन् १९०४ की सन्धिके अनुसार दक्षिणकी ओरसे ब्रिटेन भी अग्रसर होनेकी चेष्टा करने लगा। उसने मलाया प्रायद्वीप-

के उत्तरमें स्यामके चार करद राज्योंपर प्रभाव स्थापित कर लिया और सन् १९०९ की सन्धिके अनुसार प्रत्यक्ष रूपसे उन्हें अपने संरक्षणमें ले लिया। इस प्रकार कोई १५-१६ हजार वर्गमीलका प्रदेश स्यामके हाथसे और भी निकल गया।

इस बीचमें स्यामका शासकवर्ग हर तरहसे अपने देशकी उन्नति करने और शासन सम्बन्धी सुधारोंकी ओर विशेष ध्यान देनेका प्रयत्न करता रहा। सन् १८९६ से १९०४ तक अर्थात् आठ ही वर्षके भीतर वहाँकी आमदनी दूनी होगयी। इसीसे रेलकी दो नयी सड़कें बनवाने पर भी उसे ऋण लेनेकी आवश्यकता नहीं पड़ी। सन् १९०४ के बाद अवश्य उसे कुछ कर्ज़ लेना पड़ा, किन्तु इसकी अदायगीका प्रबन्ध भी उसने यथारीति कर लिया।

वर्त्तमान स्याम देशका क्षेत्रफल लगभग दो लाख वर्गमील और आबादी १ करोड़ १५ लाख है। जून १९३२ तक यहाँ एकतंत्र शासन-प्रणाली प्रचलित थी। यहाँका राजा प्रजाधिपोक सन् १९२५ में गद्दीपर बैठा था। वह स्वयं ही अपने मंत्रियोंकी नियुक्ति करता था और उन्हें अपनी इच्छाके अनुसार निकाल भी सकता था। अनेक महत्त्वपूर्ण विषयोंमें वह सुप्रीम काउन्सिलसे परामर्श कर लिया करता था, किन्तु उसकी सलाह माननेके लिए बाध्य न था।

वहाँके कुछ पढ़े लिखे लोग वर्षोंसे इस बातकी तैयारी कर रहे थे कि उपयुक्त अवसर मिलते ही स्वेच्छाचारी शासनका अन्त कर दिया जाय। निदान २४ जून १९३२ को उन्हें मौक़ा मिल गया और उन्होंने बड़े तड़के ही बन्दूकों तथा मशीनगनोंकी सहायतासे राजवंशके प्रमुख लोगों तथा राज्यके

बड़े बड़े पदाधिकारियोंको पकड़ कर क़ैद कर लिया और प्रतिभूके रूपमें उन्हें अपने अधिकारमें रखा। यह परिस्थिति देखकर राजाने भी तुरन्त नूतन व्यवस्था स्वीकार कर ली और शासनका सारा अधिकार नव स्थापित "सार्वजनिक दल" के हाथ सौंप दिया। राजा गद्दीसे तो हटाया नहीं गया, किन्तु क्रान्तिके बाद उसके हाथमें कोई शक्ति नहीं रहने दी गयी।

नयी व्यवस्थाके अनुसार बड़ी लगनके साथ काम किया जा रहा था और उसमें पर्याप्त सफलता मिल रही थी, किन्तु इस बीचमें वर्गवादियोंका ज़ोर बढ़ता देखकर राजा प्रजाधिपोकको अप्रैल १९३३ में नूतन शासनविधान अनिश्चित कालके लिए स्थगित कर देना पड़ा। यह अवस्था अधिक दिनोंतक नहीं चली। गत २० जूनको वहाँ पुनः राज्यक्रान्ति हो गयी और शासनसूत्र फिर 'सार्वजनिक दल' के हाथ आ गया। जनताकी सहानुभूति भी क्रान्तिकारियोंके साथ है। विरोधियोंकी संख्या इतनी कम तथा उनकी शक्ति इतनी नगण्य है कि उन्हें गिरफ्तार करने तककी आवश्यकता नहीं पड़ी। दो दो बार क्रान्ति हो जाने पर भी वहाँ कोई भीषण उपद्रव या रक्तपात नहीं हुआ, यह संसारके इतिहासमें एक अपूर्व बात है।

दसवाँ अध्याय

चीनमें लूटखसोट

चीन एक अत्यन्त प्राचीन राष्ट्र है। मंचूरिया, मंगोलिया, तुर्किस्तान आदि प्रान्तोंको मिलाकर विस्तारमें वह संयुक्त राज्य

अमेरिकासे डेवढ़ा बड़ा है। इस विशाल देशके साथ व्यापार-वाणिज्यका सम्बन्ध स्थापित कर लाभ उठानेका प्रथम प्रयत्न यूरोपीय शक्तियोंमेंसे पोर्तगाल द्वारा किया गया। इसके पहले नवीं शताब्दीसे पन्द्रहवीं शताब्दीतक चीनके साथ अरब-निवासियोंका व्यापार होता था। सन् १५१७ में पोर्तगीज़ लोग चीनके कैण्टन बन्दरगाहमें पहुँचे। थोड़े ही समयके भीतर निंगपो, फूचाऊ, चुआन चाऊ आदि अन्य कई नगरोंके साथ उनका व्यापार-सम्बन्ध स्थापित हो गया। इनका व्य-हार अच्छा न था, जिससे चीनी लोग इनसे चिढ़ गये। नतीजा यह हुआ कि चीनके सम्राट्ने इन्हें अपने देशसे निकाल बाहर किया।

इसके बाद सत्रहवीं शताब्दीमें ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनीने कैण्टन बन्दरगाहसे चीनके साथ व्यापार शुरू किया। कैण्टनमें "कोहांग" नामकी चीनी व्यापारियोंकी एक संस्था थी। इसीके जरिये सारा व्यापार होता था। उस समय चीनमें विदेशी व्यापारको कोई महत्त्व नहीं दिया जाता था, अतः ब्रिटिश व्यापारियोंको जो सुभीता दिया गया था, उसे चीन-सम्राट्की विशेष कृपाका सूचक समझना चाहिये।

धीरे धीरे ब्रिटेन और पोर्तगालके अतिरिक्त अमेरिका, फ्रांस, हालैण्ड, स्वीडन आदि देशोंने भी चीनके व्यापारमें हिस्सा बँटाना शुरू किया। इन्हें चीनी राजकर्मचारियोंके हाथ अनेक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता था। निदान व्यापा-रिक झगड़ोंका निपटारा करने और ब्रिटिश नागरिकोंकी रक्षाके उद्देश्यसे ब्रिटिश सरकारने लार्ड विलियम नेपियरको वाणिज्य-संरक्षक बनाकर भेजा। वे चीनी अफ्सरोंपर कोई

प्रभाव न डाल सके। कुछ ही महीनोंके बाद उनकी मृत्यु हो गयी।

इसी समय अफीमके व्यापारके कारण चिन्ताजनक परिस्थिति उत्पन्न हो गयी। चीनकी सरकार अपने देशमें अफीमका आना रोकना चाहती थी। एक तो चीनवासियोंके स्वास्थ्य और चरित्रपर उसका बुरा असर पड़ता था, दूसरे अब उसका व्यापार इतनी अधिक मात्रामें होने लगा था * कि उसका मूल्य चुकानेके लिए राशि राशि चाँदी चीनसे बाहर जाने लगी और यह भय होने लगा कि यदि यही अवस्था बनी रही तो चीनके हाथसे शीघ्र ही सब चाँदी निकल जायगी और वह ऋण ग्रस्त हो जायगा। इसीसे चीन सरकारके आदेशसे वहाँके राजकर्मचारियोंने इस व्यापारको रोकनेका प्रयत्न शुरू किया। यह देखकर ब्रिटिश व्यापारियोंने स्थानीय कर्मचारियोंको घूँस देकर अथवा अन्य अवैध उपायोंका सहारा लेकर चीनियोंके हाथ अफीम बेचनेकी नीति ग्रहण की। चीनी कर्मचारियोंको भी इस तरह लुक छिपकर अफीम आने देनेमें बड़ा लाभ होता था, इसीसे इसका व्यापार बन्द करनेके प्रयत्नमें पर्याप्त सफलता नहीं मिली। तब पेकिंगकी सरकारने इस कामके लिए एक विशेष कमिश्नर नियुक्त किया और अफीमका व्यापार बन्द करनेकी कड़ी हिदायत दे दी।

कमिश्नर लिनने आते ही विदेशी व्यापारियोंको आज्ञा दी कि कैण्टन तथा मैकाओके आसपास जहाजों या गोदामोंमें जितनी अफीम हो, सब मुझे सौंप दी जाय। उसने उक्त

* सन् १८२९ में वहाँ कुल २०० पेटी अफीमकी बिक्री हुई थी, किन्तु सन् १८३५ में इसकी तादाद १७ हजार पेटियों तक जा पहुँची।

व्यापारियोंसे यह प्रतिज्ञा भी करानी चाही कि भविष्यमें वे लोग चीनके साथ अफीमका व्यापार बिलकुल बन्द कर देंगे। उसने उन्हें स्पष्ट रूपसे सूचित कर दिया कि जो लोग इस प्रतिज्ञाका उल्लंघन करेंगे, वे मृत्युदण्डके भागी होंगे। ब्रिटिश वाणिज्य-संरक्षक कप्तान इलियटने अफीमकी गाठें लौटाना तो स्वीकार कर लिया पर मृत्युदण्डकी शर्त्तपर अफीमका व्यापार न करनेकी प्रतिज्ञा करनेसे इनकार कर दिया।

अफीम लौटानेमें ब्रिटिश व्यापारियोंको ढीलढाल करते देखकर चीनी कमिश्नरने गोदामोंपर घेरा बैठा दिया और लोगोंका आना-जाना तथा खाद्य-सामग्रीका पहुँचाया जाना रोक दिया। निदान ३ अप्रैल १८३९ को अफीमकी २०,२८३ गाँठें चीनी कमिश्नरके हाथ समर्पित कर दी गयीं। इसी समय कुछ ब्रिटिश मल्लाहोंने उत्तेजित होकर एक चीनीको मार डाला। तब कमिश्नर लिनने यह माँग पेश की कि हत्याकारी हमारे हवाले किया जाय। अंग्रेजोंके इनकार करने पर उसने उसे जबरन गिरफ्तार कर लेनेकी धमकी दी। इसपर झगड़ा शुरू हो गया और नवम्बर १८३९ में ब्रिटिश जंगी जहाजोंने चीनी बेड़ेपर गोलोंकी वर्षा करना शुरू कर दिया।

यह युद्ध कोई तीन वर्षतक चलता रहा। अंग्रेज़ोंने चीनके समुद्र तटवर्त्ती अमाय, निंगपो, शंघाई आदि कई नगरोंपर अधिकार कर लिया। दक्षिणके प्रधान नगर नैनकिंगके भी पतनकी संभावना देखकर चीन सरकारने सन्धिकी इच्छा प्रकट की। २९ अगस्त १८४२ को नैनकिंगकी सन्धि हुई, जिसके अनुसार चीनके पाँच बन्दरगाह—कैण्टन, अमाय, फूचाऊ, निंगपो और शंघाई—विदेशी व्यापारके लिए खोल

दिये गये। इन स्थानोंमें विदेशियोंको रहने और अपनी कोठियाँ स्थापित करनेका अधिकार भी दे दिया गया। सन्धिकी शर्त्तों-के अनुसार ब्रिटेनने यहाँ अपने वाणिज्य-दूत नियुक्त कर दिये, जिन्हें ब्रिटिश व्यापारकी देखरेख करने तथा ब्रिटिश नागरिकों-के मुकदमा-मामलोंका फैसला करनेका काम सौंपा गया। ब्रिटेनमें इस समय साम्राज्यवादका ज़ोर कुछ कम हो गया था, इसीसे उसने चीनसे केवल हांगकांग द्वीप लेकर ही सन्तोष कर लिया। हां, हरजाना लेनेमें उसने कोई कसर न की। अफीमके व्यापारको जो नुकसान पहुँचा था, वह तो उसने चीनसे वसूल ही किया, साथ ही लड़ाईका कुल खर्च भी उसके मत्थे मढ़ दिया।

इस प्रकार चीनके साथ विदेशियोंका सम्पर्क धीरे धीरे बढ़ने लगा। १८४४ में फ्रांस तथा अमेरिकाको और बादमें अन्य अन्य राष्ट्रोंको भी उक्त पाँच बन्दरगाहोंमें वही अधिकार दे दिये गये जो नैनकिंगकी सन्धिसे ब्रिटेनको दिये गये थे। चीन सरकारने लाचारीके कारण सन्धिपत्रपर हस्ताक्षर तो कर दिये थे, किन्तु वास्तवमें उसकी संशा विदेशियोंको विशेष सुविधाएँ देनेकी न थी। विदेशियोंका व्यवहार देखकर चीन-सरकार उन्हें दूर ही रखना चाहती थी। इसीसे वहाँके कर्म-चारी विदेशियोंके मार्गमें एक न एक बाधा उपस्थित ही करते रहते थे। इधर विदेशी व्यापारी भी सन्धिकी शर्त्तोंसे प्रोत्सा-हित होकर अधिक ढीठ होते जाते थे। न तो वे चीन साम्रा-ज्यके नियमों और क़ानूनोंका पालन करनेकी परवाह करते थे और न अपने व्यवहारमें सचाई तथा ईमानदारीका ख़याल रखते थे।

अफीमका व्यापार अब भी जारी था। बहुत सी छोटी छोटी नावें हांगकांगमें हमेशा तैयार रहती थीं। इन्हींके जरिए चीनमें अफीम भेजी जाती थी। चीनी नियमोंका उल्लङ्घन कर अफीम ले जानेवाली ऐसी ही एक नावको सन् १८५६ के अक्टूबर महीनेमें चीनी अफसरोंने पकड़ लिया और उसपरके १२ चीनियोंको गिरफ्तार कर लिया। ब्रिटिश वाणिज्य-दूतने तुरन्त यह माँग पेश की कि उक्त बारहों आदमी हमें लौटा दिये जायँ और इस घटनाके सम्बन्धमें चीनकी तरफसे खेद प्रकट किया जाय। चीनी अफसरोंके इनकार करने पर ब्रिटेनने फिर युद्धघोषणा कर दी। इस बार फ्रांसने भी उसका साथ दिया, क्योंकि लोगोंको विद्रोह करनेके लिए उभाड़नेके अपराधमें चीनी अधिकारियोंने एक फ्रांसीसी पादरीको प्राण-दण्ड देनेका साहस किया था। चीन पुनः पराजित हुआ और सन् १८५८ में उसे टाइण्टसिनकी सन्धिपर हस्ताक्षर करने पड़े। इसके अनुसार कुछ और बन्दरगाह विदेशी व्यापारके लिए खोल दिये गये तथा पेकिंगमें ब्रिटेनका राजदूत रखना स्वीकार किया गया। इसके अतिरिक्त यांगट्सी नदीके मार्गसे व्यापार करने तथा चीनके भीतर आने जानेका अधिकार भी दिया गया और इस बातका विश्वास दिलाया गया कि भविष्यमें पादरियोंको धर्म-प्रचार करनेसे रोकनेकी चेष्टा न की जायगी। अब चीनकी सरकारको चीनमें अफीमके जानेकी भी स्वीकृति देनी पड़ी।

अफीमके व्यापारके लिए किये गये इन युद्धोंके सम्बन्धमें श्री हाइण्डमैन साहब लिखते हैं "चीनके साथ सचमुच ऐसी कोई भलाई नहीं की गयी, जो उस बुराईकी तुलनामें ठहर सके जो वहाँके लोगोंके साथ अफीमके प्रचारके जरिये की

गयी थी। इस अधम व्यापारका मुख्य उद्देश्य रुपया कमाना ही था। इसके बेचनेवाले यह भली भाँति जानते थे कि अफीम पीना चीनवालोंके लिए हर तरहसे हानिकारक है। अंग्रेज व्यापारियों तथा अंग्रेज राजनीतिज्ञोंको इसकी कोई परवाह न थी।"* इसी तरह जार्ज लिञ्च साहबका कहना है कि "चीनवाले अफीमके उपयोगसे बिलकुल अनभिज्ञ थे। भारतसे ले जाकर यूरोपीय व्यापारियोंने उसका प्रचार वहाँ किया और जब चीनियोंने उसका आयात रोकनेकी चेष्टा की, तब यूरोपियनोंने युद्ध छेड़ दिया! युद्धका कारण यह था कि अफीमके व्यापारी चाहते थे कि चीनवालोंको अफीम पीनी ही चाहिये, चाहे इससे राष्ट्रके नवयुवकोंकी जीवन-शक्ति क्यों न क्षीण होती जाय।"†

ब्रिटेन और फ्रांसकी सैनिक शक्तिसे हार मानकर चीनको उनकी माँगे स्वीकार करनी पड़ीं और उन्हें विविध सुविधाएँ देनेके लिए बाध्य होना पड़ा। इन लोगोंको चीन सरकारकी कमज़ोरीसे इस तरह लाभ उठाते देखकर उत्तरकी ओरसे रूसने भी दबाव डालना शुरू किया। तरह तरहकी चालें चल कर और युद्धकी धमकी देकर उसने चीनके उस हिस्सेपर कब्ज़ा कर लिया जो आमूर नदीके उत्तर तथा उसूरी नदीके पूर्वमें था। रूस इस भूभागपर अधिकार कर लेनेके लिए कुछ समय पहलेसे ही उत्सुक हो रहा था। इसका एक कारण तो यह था कि आमूर नदीके आसपास बहुतसे रूसी जा बसे थे। दूसरा कारण यह था कि रूसको एक ऐसे बन्दरगाहकी आव-

* 'अवेकनिंग आफ एशिया' पृ० ४६

† जार्ज लिञ्चकृत 'दि वार आफ सिविलिज़ेशन' पृ० २१९-२०

श्यकता थी, जहाँका पानी जमकर बरफ न बन जाता हो। अधिकृत प्रान्तमें उसे व्लाडीवास्टक नामक एक बड़ा अच्छा बन्दरगाह मिल गया, जहाँ सालके अधिकांश समयमें जहाज विना किसी विघ्न-बाधाके बराबर आ जासकते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तिम दशाब्दका आरंभ होते होते यूरोपीय देशोंकी तृष्णा बहुत बढ़ गयी। इस समयतक फ्रांसने इण्डोचाइनापर और ब्रिटेनने ब्रह्मदेशपर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। चीनको किस तरह अपने इन करद राज्योंसे हाथ धोने पड़े, इसका वर्णन हम पिछले अध्यायमें कर चुके हैं। इधर कोरियाके प्रश्नको लेकर जापान भी चीनसे भिड़ गया। सन् १८९५ में चीन जापानके बीच जो सन्धि हुई,‡ उसके अनुसार कोरिया एक स्वतंत्र राज्य मान लिया गया और जापानको फारमोसा तथा पेस्केडोरके द्वीप मिल गये। इसके अतिरिक्त मंचूरियाके दक्षिणमें लिआओतुंग प्रायद्वीप भी जापानको सौंप दिया गया। यह देखकर रूस चौकन्ना हो उठा। वह स्वयं यहाँ अपना प्रभाव स्थापित करना चाहता था, इसलिए जापानके हाथमें इस प्रायद्वीपका जाना वह कब बर्दाश्त कर सकता था। उसने तुरन्त फ्रांस और जर्मनीको भी अपनी ओर मिलाकर सन्धिकी इस शर्तका विरोध किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि जापानको लिआओतुंग सम्बन्धी अपना दावा छोड़ देना पड़ा।

चीनके साथ यह 'उपकार' करनेके बदले अब रूसने भी अपने लिए कुछ विशेष सुविधाएँ प्राप्त करनेकी चेष्टा की। चीनको लाचार होकर मंचूरिया होते हुए व्लाडीवास्टक

‡ यह 'शिमोनोसेकी' सन्धि कहलाती है।

तक रूसको रेलकी सड़क बनाने तथा पोर्ट आर्थरके लिए भी एक शाखा खोलनेका अधिकार देना पड़ा। धीरे धीरे रूसने लिआओतुंगमें वे ही अधिकार प्राप्त कर लिये जो जापानको दिये जा रहे थे। पोर्ट आर्थरमें किलेबन्दी करनेका अधिकार भी उसे मिल गया। इसी तरह फ्रांसने भी उसे दबाकर मेकांग तराईमें अपना प्रभुत्व बढ़ा लिया तथा कियांगसी और यूनन प्रान्तोंमें रेलों तथा खानोंके संबंधमें कुछ नये अधिकार प्राप्त कर लिये।

फ्रांसको मेकांग तराईमें नया प्रदेश प्राप्त करते देखकर ब्रिटेन कब चुप रहनेवाला था? उसने चीनसे कहा कि फ्रांसके साथ किये गये इस नये समझौतेसे उस सन्धिका उल्लंघन होता है, जो कुछ समय पहले तुमने हमारे साथ की थी। उसने चीनपर इस बातके लिए दबाव नहीं डाला कि वह फ्रांससे उक्त प्रदेश वापस ले ले। उसकी इच्छा तो इस बहाने स्वयं कुछ प्राप्त करनेकी थी। निदान चीनको विवश होकर ब्रह्म देशके पास कुछ और भूभाग ब्रिटेनके हाथ सौंप देना पड़ा। एक वर्ष बाद ब्रिटेनने अपने लिए शान्तुंगके उत्तरी किनारे पर, पोर्ट आर्थरके ठीक सामने, वई-हाई-वई नामक बन्दरगाहका पट्टा प्राप्त कर लिया।

साम्राज्यवादियोंकी दौड़में जर्मनी ज़रा देरसे शामिल हुआ था, इससे आफ्रिकाकी लूटमें वह पिछड़ गया था, किन्तु सुदूर पूर्वमें उसने अपने लिए उपयुक्त स्थान प्राप्त करनेका निश्चय कर लिया था। यही कारण है कि वह भी चीनमें अपने पाँव पसारनेका मौक़ा ढूँढ़ने लगा। दैवयोगसे नवम्बर १८९७ में शान्तुंग प्रान्तमें दो जर्मन पादरियोंकी हत्या कर डाली गयी।

फिर क्या था, जर्मनीने तुरंत वहाँके किआओचाऊ नामक स्थान-पर क़ब्ज़ा जमा लिया और चीनको दबाकर ९९ वर्षोंके लिए एक पट्टा लिखा लिया, जिसके अनुसार उसे वहाँ किलेबन्दी करने तथा युद्धपोत रखनेका अधिकार प्राप्त हो गया। साथ ही उसे शान्तुंग प्रान्तमें रेलकी सड़क बनाने तथा खानोंसे लाभ उठानेका हक़ भी हासिल हो गया।

इधर दो फ्रांसीसी सैनिक अफसरोंकी हत्याके बहाने फ्रांस-को पुनः चीनसे कुछ ऐंठ लेनेका मौक़ा मिला। १० अप्रैल १८९८ को उसने टांगकिंगकी सीमासे यूनान फू तक रेल बनानेका अधिकार प्राप्त कर लिया (इस ठेकेपर अन्तिम हस्ताक्षर २९ अक्टूबर १९०३ को हुए)। इसके सिवाय कैण्टनसे कोई २०० मील दक्षिणकी ओर क्वांगचाऊकी खाड़ीके आसपासकी भूमिका पट्टा भी उसे मिल गया।

इस प्रकार चीनमें अपना प्रभाव स्थापित कर चुकनेके बाद यूरोपीय महाराष्ट्रोंने आपसमें समझौता कर अपने अपने प्रभाव-क्षेत्रोंकी सीमा निर्धारित करनेकी चेष्टा की। ब्रिटेनने सितम्बर १८९८ में जर्मनीसे तथा अप्रैल १८९९ में रूससे समझौता कर लिया, जिसके अनुसार इन राष्ट्रोंने एक दूसरेके प्रभाव-क्षेत्रोंकी सीमा मान ली। जापानने उस समय चीनसे केवल यह वचन लेकर ही सन्तोष कर लिया कि वह फारमोसा द्वीपके पास वाले फूकीन प्रान्तपर अन्य किसी राष्ट्रका प्रभाव स्थापित न होने देगा।

यूरोपीय राष्ट्रोंका असली इरादा आफ्रिकाकी तरह चीनको भी आपसमें बाँट लेनेका था। इसी उद्देश्यसे उन्होंने पहले उसके आर्थिक बँटवारेका प्रयत्न किया। सन् १८९९ के मध्य

तक चीनके १८ प्रान्तोंमें से १३ प्रान्त इस तरह आपसमें बाँट लिये गये थे। अपने अपने प्रभावक्षेत्रोंके भीतर इन राष्ट्रोंने अपना व्यापार फैलाने तथा अन्य देशोंका व्यापार रोकनेके अभिप्रायसे वाणिज्य-प्रतिबन्ध आदिके रूपमें विशेष उपायोंका अवलम्बन लेना चाहा। यह नीति अमेरिकाको पसन्द नहीं आयी। उसका व्यापार बढ़ रहा था और उसे आशा थी कि चीनके विस्तृत बाज़ारोंमें हमारे मालकी अच्छी खपत हो सकेगी, इसीसे सितम्बर १८९९ में वहाँके राष्ट्रमंत्री जॉन हेने उन राष्ट्रों-के नाम एक पत्र लिखा जिनका सम्बन्ध सुदूर पूर्वके व्यापारसे था। इसमें कहा गया था कि "किसी भी राष्ट्रको बीचमें पड़कर प्रभाव-क्षेत्रके बहाने, चीनके व्यापारमें हस्तक्षेप करनेकी अनुमति न दी जायगी, क्योंकि सभी राष्ट्रोंको वहाँके व्यापारसे लाभ उठानेका अधिकार है।" * उसमें इस बातपर ज़ोर दिया गया था कि कोई भी राष्ट्र अपने प्रभाव-क्षेत्रके भीतर जलमार्ग या थलमार्गसे आने जानेवाले मालपर उनसे अधिक ऊँचे आयात-कर न बैठा सकेगा, जितने स्वयं उसके अपने देशके मालपर बैठाये गये हों।

अमेरिकाके इस प्रयत्नके कारण ही चीनके सम्बन्धमें विदेशियोंको 'उन्मुक्त द्वार' का सिद्धान्त स्वीकार करना पड़ा और उसके राजनीतिक प्रभुत्वकी अक्षुण्णता बनाये रखनेका वचन देना पड़ा। इन सिद्धान्तोंके सम्बन्धमें अपनी स्वीकृति दे देने पर भी किसी राष्ट्रकी इच्छा ईमानदारीके साथ उनका पालन करनेकी न थी। प्रतिज्ञाका उल्लंघन करने पर क्या सजा दी जायगी अथवा दो या अधिक राष्ट्रोंमें प्रतियोगिता शुरू होने पर क्या

* आलबर्ट बुशनेल हार्ट कृत 'दि मनरो डाक्ट्रिन' पृ० २९३

उपाय किया जायगा, इसकी कोई व्यवस्था नहीं की गयी थी, अतः इन सिद्धान्तोंकी ओर विशेष ध्यान देनेकी आवश्यकता किसीने नहीं समझी। जैसा कि बादकी घटनाओंसे स्पष्ट है, स्वार्थ-साधनकी अभिलाषासे प्रेरित होकर समय समयपर कई राष्ट्रोंने इनकी अवहेलना करनेमें ज़रा भी संकोच नहीं किया। विदेशियोंकी इन स्वार्थमयी चालोंको देखकर चीनियोंके मनमें उनके प्रति घृणा उत्पन्न होने लगी। धर्मके ठेकेदार बननेवाले पादरियोंकी भी काली करतूतें वे भली-भाँति देख चुके थे। उनके कार्योंसे वे यह समझ गये कि उनमें जीव-दया नामको ही रहती है, वस्तुतः वे परधन-हरण करने और कमज़ोरोंको दबानेके लिए हमेशा उद्यत रहते हैं।

ज्यों ज्यों चीनमें विदेशियोंका अत्याचार बढ़ने लगा, त्यों त्यों वहाँवालोंके मनमें उनके प्रति विरोध-भाव भी अधिकाधिक प्रबल होता गया। देशके कुछ नवयुवक मौजूदा दब्बू सरकारके हाथसे शासनसूत्र छीनकर देशोद्धार करनेकी बात सोचने लगे। शीघ्र ही एक गुप्त सभा स्थापित की गयी। इसके सदस्य "बाक्सर" कहलाते थे। शुरू शुरूमें आन्दोलनकारियोंका उद्देश्य विदेशियोंके अत्याचारोंसे देशकी रक्षा करना भर था। विदेशियोंको मार भगाने या उनकी हत्या करनेका उनका इरादा न था। जब शान्तुङ्गके एक पादरीने उन्हींके मन्दिरमें उनके धर्मकी निन्दा की, तब वे लोग अपनेको रोक न सके। उन्होंने उक्त पादरीको मार डाला। विदेशियोंने चीनवालोंसे इसका बदला लेनेका निश्चय किया। तब आन्दोलनकारियोंने भी उन्हें देशसे बाहर निकाल देनेका संकल्प कर लिया।

आन्दोलनकारियोंका ज़ोर बढ़ता देखकर यूरोपीय शक्तियोंने सामूहिक रूपसे सैनिक काररवाई शुरू की। उन्होंने आपसका मतभेद भुलाकर एक स्वरसे चीनके विरुद्ध युद्धकी घोषणा कर दी। इस युद्धमें यूरोपीय सैनिकोंने चीनवालोंके साथ बड़ा ही बर्बरतापूर्ण व्यवहार किया। लिंच साहबके कथनानुसार "उनके मन्दिरोंमें घोड़े बाँध दिये गये और यदि ललितकला सम्बन्धी कोई हजारों वर्षकी प्राचीन वस्तु मिली तो वह या तो तोड़फोड़ कर नष्ट कर डाली गयी या चुरा ली गयी। पेकिन शहरमें जिस गलीमें मैं रहता था, वहाँसे मैंने एक सप्ताह तक गाड़ियोंको इधरसे उधर किताबें ढोते देखा। ... ये किताबें राजमहलके सामनेके आँगनमें ला लाकर आगमें डाली जा रही थीं। हजारों पुस्तकें इसी तरह नष्ट कर दी गयीं। सारी सड़क फटे और जले हुए पुस्तकोंके पत्रोंसे ढक गयी थी। यह साहित्य-विनाशक कार्य कई दिनोंतक जारी रहा। *

उत्तरकी ओरसे रूसने मंचूरियापर आक्रमण कर दिया और पूरबकी ओरसे अन्य यूरोपीय राष्ट्रोंकी सेनाएँ पेकिंगमें आ धमकीं। अन्तमें सन् १९०१ में सन्धिकी प्रार्थना करने पर चीनके सामने उन्होंने ये माँगें पेश कीं—बाक्सर-विद्रोहके नेताओंको कड़ी सज़ा दी जाय, चीन राजवंशका कोई राजकुमार बर्लिन जाकर जर्मन राजदूतकी हत्याके निमित्त क्षमा प्रार्थना करे, पेकिंग और समुद्रतटके बीचके क़िले तोड़ दिये जायँ; अस्त्रशस्त्र तथा युद्ध-सामग्री तैयार करना या बाहरसे मँगाना

* "दि वार आफ सिविलिज़ेशन" पृ० १४६–४७ (या 'एशिया-निवासियोंके प्रति यूरोपियनोंका बर्त्ताव', पृ० ५४-५५)।

बन्द कर दिया जाय, टाइण्टसिन-पेकिंग रेलवेपर तबतक महाशक्तियोंकी सेनाका अधिकार रहे जबतक पूर्ण शांति स्थापित न हो जाय, अभीतक जो व्यापारिक सन्धियाँ हो चुकी हैं वे पुनः स्वीकृत की जायँ, इत्यादि। इसके अतिरिक्त सन्धिकी शर्त्तोंके अनुसार चीनको पौने सात करोड़ पौण्ड (लगभग एक अरब रुपये) हरजानेके रूपमें देनेका भी वचन देना पड़ा!

सन्धिको शर्त्तें पूरी करानेके लिए क्या किया जाय, इसका विचार अभी हो ही रहा था कि रूसने चीनको फुसला कर मंचूरियाके सम्बन्धमें एक गुप्त सन्धि करनेकी कोशिश की। उसने चीनको समझाया कि यदि तुम हमारी बात मान लो तो हम विद्रोहियोंको क्षमाप्रदान करानेके लिए तुम्हारी ओरसे पैरवी करनेको तैयार हैं। जर्मनी, ब्रिटेन तथा जापानको जब यह बात मालूम हुई, तब उन्होंने चीनको धमकाकर रूसकी बात न माननेके लिए राजी किया। अन्तमें इन लोगोंके विरोधके कारण रूसको कुछ समयके लिए रुक जाना पड़ा। इतना होते हुए भी मंचूरियाके आरपार रेल बनानेकी जो योजना उसने तैयार की थी, उसे पूरा करने और धीरे धीरे अपना विशेष प्रभाव जमानेकी चेष्टा वह बराबर करता रहा।

रूसके ये रंगढंग देखकर ब्रिटेन तथा जापानने पुनः चीनको लिखा कि मंचूरियामें रूसका प्रभाव बढ़ने देना ठीक नहीं। अमेरिकाने भी उनका समर्थन किया। अप्रैल १९०२ में रूसने चीनसे प्रतिज्ञा की कि हम १८ महीनोंके भीतर मंचूरिया खाली कर देंगे। पर यह सब उसकी बहानेबाज़ी थी। वहाँसे हटनेके बजाय उसने मुकदनमें और भी सेना लाकर इकट्ठी कर ली। रूसकी इस कारवाईसे चीनकी राजनीतिक सत्ताके

लिए ख़तरा देखकर और उसे कोरियामें बढ़ते हुए अपने प्रभावकी दृष्टिसे भी अवाञ्छनीय समझकर जापान अब अधिक देरतक चुप न रह सका। उसने भी सीधे सीधे रूससे बातचीत शुरू की और उसे अपनी नीतिसे विरत होनेको समझाया। अन्तमें रूसको व्यर्थकी टालमटूल करते देखकर ९ फरवरी १९०४ को जापानने उसके विरुद्ध लड़ाई छेड़ दी।

रूस-जापान-युद्धके कारण मंचूरियाकी स्थितिमें कोई विशेष अन्तर न हुआ। उसका केवल यही परिणाम हुआ कि अकेले रूसके बजाय अब रूस तथा जापान, दोनोंका प्रभुत्व वहाँ स्थापित हो गया। उत्तरमें रूसका प्रभाव उस क्षेत्रपर अब भी बना रहा जहाँ उसने रेल बनवायी थी और दक्षिणमें अब जापानने अपनी सत्ता स्थापित कर ली। उसने वहाँ वे ही विशेषाधिकार प्राप्त कर लिये, जो कुछ समय पहले रूसको प्राप्त थे। इसके सिवाय उसने कोरियापर भी क़ब्ज़ा कर लिया।

इस युद्धका एक परिणाम यह हुआ कि चीनियोंमें पुनः राष्ट्रीय जागृतिके चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे। उन्होंने देखा कि उनके देशका ज़रा भी लिहाज़ न कर रूस तथा जापानने उनकी ही भूमिपर युद्ध किया, उन्हींसे बेगार करवायी और अन्तमें उनसे बिना पूछे ही मंचूरियाका आपसमें बँटवारा कर लिया।

यूरोपीय राष्ट्रोंके व्यवहारसे चीनियोंकी यह निश्चित धारणा हो गयी कि वे चीनके प्रति ऊपरसे चाहे कितनी ही सहानुभूति प्रकट करें, किन्तु वास्तवमें वे चीनकी कमज़ोरीसे हमेशा लाभ उठानेकी फिक्रमें रहते हैं। चीनके प्रति अन्याय होते देखकर पहले तो वे सब खूब चिल्लाने लगते हैं, किन्तु

फिर लूटमें शामिल कर लिये जाने पर शान्त हो जाते हैं। एक विचित्र बात और है। "जब किसी शक्तिको स्वयं ही कोई अन्याय करना होता है और उसे वैसे किसी अन्यायका उदाहरण नहीं मिलता, तो वह केवल यही कहकर उस अन्यायमें प्रवृत्त हो जाती है कि यदि हम ऐसा न करेंगे, तो अमुक शक्ति ही यह काम कर डालेगी। अर्थात् यदि हम आपकी टोपी न छीन लेंगे तो और कोई आकर छीन लेगा, इसलिए पहले हम ही क्यों न छीन लें?"* इन सब बातोंसे चीनवाले यह अच्छी तरह समझ गये कि हम भी जबतक पश्चिमी देशोंका अनुकरण कर जापानकी तरह अपना सुधार नहीं करते, तबतक विदेशियोंसे पार पाना कठिन है। इसीसे उन्होंने शीघ्र ही सुधारके लिए आन्दोलन शुरू कर दिया।

मंचू शासनका विरोध बहुत पहले ही शुरू हो गया था। सन् १८५२ में वहाँ जो राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू हुआ था, वह लगभग बारह वर्षतक चलता रहा। स्वतंत्रताके लिए चीनियोंका यह प्रथम प्रयास इतिहासमें "ताइपिंग विद्रोह" के नामसे प्रसिद्ध है। इसका दमन करनेमें मंचू सरकारको विदेशी शक्तियोंकी सहायता लेनी पड़ी थी। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशाब्दमें नवयुवक सम्राट् क्वांगसूपर भी नये विचारोंका प्रभाव पड़ा और वह देशके शासनमें विस्तृत सुधारकी आवश्यकताका अनुभव करने लगा। साम्राज्यके कुछ प्रमुख व्यक्तियोंने भी उसका समर्थन किया।

उस समय चीन साम्राज्यमें राजमाता त्सूसीका बड़ा प्रभाव था। वे इस आन्दोलनके खिलाफ थीं। सितम्बर १८९८ में

* वर्त्तमान एशिया, पृ० २५४

उन्होंने प्रधान सेनापतिकी सहायतासे शासन-प्रबन्ध अपने हाथमें ले लिया और क्वांगसूको एक टापूमें कैद कर दिया। आन्दोलनकारियोंमें से कुछको फांसी दे दी गयी और अनेकोंको क़ैदकी सज़ा मिली। इस प्रकार आन्दोलन दबा दिया गया पर वह मरा नहीं। दो वर्ष बाद उसने 'बाक्सर विद्रोह' का रूप धारण किया। कुछ वर्षोंके बाद राजमाता भी सेना, शिक्षा, शासन, अर्थनीति आदिमें सुधारकी आवश्यकता समझने लगीं और उन्होंने इसके लिए योजनाएँ तैयार करानेका प्रयत्न किया। सन् १९०५ में एक शाही कमीशन नियुक्त किया गया, जिसने यूरोप जाकर वहाँके देशोंकी शासन-व्यवस्थाका अध्ययन किया और अगले वर्ष अपनी रिपोर्ट तैयार की। तदनुसार १ सितम्बर १९०६ को एक घोषणा की गयी, जिसमें यह आश्वासन दिया गया कि चीनमें शीघ्र ही प्रतिनिधि-शासनकी स्थापना होगी, किन्तु १९०९ में राजमाताकी मृत्यु हो जानेके कारण स्थिति ज्योंकी त्यों बनी रही।

इस समयतक सारे साम्राज्यमें, विशेषकर दक्षिण चीनमें, अनेक गुप्त सभाएँ स्थापित हो चुकी थीं। इनका उद्देश्य चीनमें प्रजातंत्र शासनकी स्थापना करना था। यद्यपि सन् १९०८ में आन्दोलन कुछ कुछ दबा दिया गया था, फिर भी १९११ के अक्टूबर मासतक उसने काफी ज़ोर पकड़ लिया। क्रान्तिकारियोंकी सफलतामें अब कोई सन्देह नहीं रह गया। ३१ दिसम्बर १९११ को उन्होंने चीनमें प्रजातंत्रकी घोषणा कर दी।

डाक्टर सनयानसेन अस्थायी रूपसे प्रजातंत्रके प्रथम राष्ट्रपति बनाये गये थे। इसी समय पेकिंगकी सरकारने क्रान्तिकारियोंका सामना करनेके लिए प्रधान सेनापति यूआन-शी-

काईको भेजा। यूआनने उन लोगोंसे इस शर्तपर सुलह कर ली कि राष्ट्रपतिके पदपर उसीकी नियुक्ति की जाय। तदनुसार फरवरी १९१२ में नैनकिंगकी राष्ट्रसभाने उसे चीनी प्रजातंत्रका राष्ट्रपति चुन लिया। कुछ ही समयके बाद चार बड़े राष्ट्रोंसे एक बड़ी रक़म कर्ज़के रूपमें लेनेके लिए बातचीत शुरू की गयी। ये चार राष्ट्र ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका तथा जर्मनी थे। बादमें इस गुटमें रूस तथा जापान भी शामिल कर लिये गये। कुछ दिनोंके पश्चात् परिस्थितिको जटिल होते देखकर अमेरिका इस गुटसे अलग हो गया।

युआन-शी-काईने प्रतिनिधि-सभाकी स्वीकृति लिये बिना ही विदेशी राष्ट्रोंसे अढ़ाई करोड़ पौण्ड ऋण लिया और उसके बदलेमें उसने नमक-करसे होनेवाली आमदनी तथा आयात-निर्यात-करकी बचत विदेशियोंके हाथ रेहन रख दी। इससे प्रजातंत्रवादियोंकी एक बड़ी संख्या उसके विरुद्ध हो गयी। उनके असन्तोषका एक कारण और था। प्रजातंत्रकी स्थापनाके बाद जब रूसने बाहरी मंगोलियापर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया और ब्रिटेनने तिब्बतको अपना प्रभाव-क्षेत्र बना लिया, तब उसने अधिक दृढ़तासे उनका विरोध नहीं किया। युआन-शी-काईने प्रतिनिधि-सभा भंग कर दी और विदेशियों तथा कुछ अन्य लोगोंके बहकानेमें आकर स्वयं सम्राट्-पद ग्रहण करनेकी इच्छा प्रकट की। १९१५ का अन्त होते होते उसने सचमुच इसे कार्यमें परिणत करनेका उपक्रम किया। उसकी इस कार-रवाईसे जहाँ तहाँ विद्रोह शुरू हो गया। तब २२ मार्च १९१६ को उसने एक घोषणा प्रकाशित की, जिसमें पुनः प्रजातंत्रकी स्थापनाके लिए आश्वासन दिया गया था। फिर भी विद्रोहकी

आग बढ़ती ही गयी। इसी समय ६ जून १९१६ को युआन-शी-काईकी मृत्यु हो गयी।

इधर यूरोपीय युद्ध छिड़ने पर जापानने जर्मनीको लिखा कि पूरबसे अपने युद्धपोत हटा लो और चीनका किआओ चाऊ नामक स्थान हमें सौंप दो, हम उसे बादमें चीनको लौटा देंगे। जर्मनीसे कोई उत्तर न मिलने पर उसने किआओचाऊ पर क़ब्ज़ा कर लिया और युद्धका अन्त हो जाने पर भी उसे चीनके हाथ वापस नहीं किया। बात यह है कि मित्र-राष्ट्रोंने गुप्त रूपसे जापानको यह आश्वासन पहले ही दे दिया था कि सन्धिके समय शान्तुंग प्रायद्वीप उसे ही दिला दिया जायगा। इसीसे जापानने उसे हड़प लेनेकी धृष्टता की।

सन् १९१५ के शुरूमें उसने चीनपर दबाव डालकर अपनी इक्कीस माँगे स्वीकृत करानी चाहीं। इनमेंसे एक तो यह थी कि शान्तुङ्गमें जर्मनीको जो अधिकार प्राप्त थे, वही अधिकार अब जापानको दे दिये जायँ। अन्य माँगोंमें दक्षिण मंचूरिया तथा पूर्वी मंगोलियामें जापानको विशेषाधिकार प्रदान करनेकी बात कही गयी थी। "चीनकी सत्ता अक्षुण्ण बनाये रखनेके उद्देश्यसे" इस बातपर ज़ोर दिया गया कि चीन "अपने किसी बन्दरगाह या समुद्र-तटवर्त्ती द्वीपका पट्टा (जापानको छोड़कर) और किसी तीसरे देशके नाम न लिखे।" अन्य महत्त्वपूर्ण माँगें ये थीं—जापानके प्रमुख कुछ स्थानोंमें चीनी पुलिसके साथ साथ जापानी पुलिस भी रखी जाय; चीन कमसे कम आधी गोला-बारूद जापानसे खरीदे और जापानी विशेषज्ञोंको अपने यहाँ नियुक्त करे; राजनीति, अर्थनीति, तथा सैनिक नीतिसे सम्बन्ध रखनेवाले विषयोंकी देखरेख करनेका अधिकार

जापानी सलाहकारोंको रहे; और फारमोसा द्वीपके सामनेका फूकीन प्रान्त जापानका प्रभाव-क्षेत्र मान लिया जाय।

चीनने ज़ोरोंसे इन माँगोंका विरोध किया, किन्तु बादमें जापानको युद्धकी धमकी देते देखकर उसने लाचार होकर उसकी लगभग सोलह माँगें स्वीकृत कर लीं। परिणाम यह हुआ कि दक्षिण मंचूरिया, पूर्वी मङ्गोलिया, शान्तुङ्ग और फूकीन प्रान्तोंमें निश्चित रूपसे जापानका प्रभाव स्थापित हो गया। यूरोपके प्रमुख राष्ट्र इस समय महायुद्धमें संलग्न थे, इसीसे वे लोग सुदूर पूर्वकी स्थितिकी ओर विशेष ध्यान नहीं दे सकते थे। जापान ऐसा सुयोग पाकर कब चूकनेवाला था? उसने चीनको दबाकर जो कुछ लेते बना, ले लिया।

युद्ध-समाप्तिके बाद वर्सेल्जकी सन्धिपर विचार करनेवाली सभामें चीनके प्रतिनिधियोंने किआओचाऊका प्रश्न पुनः उठाया। उन लोगोंने प्रभाव-क्षेत्रोंको उठा देने तथा पट्टे रद्द कर देनेके प्रश्नपर भी ज़ोर दिया। शान्तुङ्ग तथा किआओचाऊके सम्बन्धमें अमेरिकाने भी उनका समर्थन किया, किन्तु १९१७ में जापानके साथ मित्रराष्ट्रोंका जो गुप्त समझौता हो गया था, उसके कारण चीनकी कोई सुनवाई नहीं हुई। चीनी प्रतिनिधियोंने बहुत सिर पीटा और बार बार इस बातपर ज़ोर दिया कि इस तरहके गुप्त समझौतों द्वारा चीनके अधिकार बेचनेका अन्य राष्ट्रोंको कोई हक नहीं है, किन्तु उन्हें निराश होना पड़ा। अमेरिकाकी सहानुभूतिका केवल इतना ही परिणाम हुआ कि जापानने ज़बानी यह प्रतिज्ञा की कि हम किआओचाऊ चीनको लौटा देंगे और शान्तुङ्गमें केवल आर्थिक अधिकार ही अवशिष्ट रहने देंगे।

इसके बाद सन् १९२१–२२ में वाशिङ्गटन सम्मेलन हुआ। इसमें चीनकी ओरसे एक बार फिर शान्तुङ्ग तथा जापानको २१ माँगोंकी समस्या पेश की गयी। इस बार अमेरिका तथा ब्रिटेनने जापानकी नीतिका विशेष रूपसे विरोध किया, जिससे उसे अपनी उपर्युक्त इक्कीस २१ मागोंमें बहुत कुछ परिवर्त्तन करना पड़ा। अब उसने किआओचाऊ भी चीनको लौटा देना स्वीकार किया और शान्तुङ्गकी जर्मन रेलवे भी चीनके हाथ बेच देनेकी प्रतिज्ञा की। इसके अतिरिक्त सम्मेलनमें भाग लेनेवाले ब्रिटेन, अमेरिका, बेलजियम, चीन, फ्रांस, इटली, जापान, हालैण्ड तथा पोर्तगाल, इन नौ राष्ट्रोंमें एक सन्धि हुई, जिसके अनुसार इन्होंने चीनकी स्वतंत्रता और उसकी राजनीतिक सत्ताको अक्षुण्ण बनाये रखने तथा उसे निर्विघ्न रूपसे एक स्थायी और कार्यक्षम शासनकी स्थापना करनेके लिए पूरा मौक़ा देनेकी प्रतिज्ञा की। प्रतिज्ञा करनेवाले राष्ट्रोंने इस बातका भी आश्वासन दिया कि चीनकी कमज़ोरीसे लाभ उठा कर कोई राष्ट्र अपने लिए विशेषाधिकार प्राप्त करनेकी चेष्टा न करेगा। जापानने कुछ ही वर्षोंके भीतर कितनी निर्लज्जता के साथ इस सन्धिका उल्लङ्घन किया, इसका वर्णन हम अगले अध्यायमें करेंगे।

यूरोपीय युद्धकी समाप्तिके बाद अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति चीनके बहुत कुछ अनुकूल होने लगी। युद्धमें परास्त और जर्जरित हो जानेके कारण जर्मनीको विवश होकर चीनमें अपने विशेषाधिकारोंका परित्याग कर देना पड़ा। अमेरिका तथा ब्रिटेनको चीनके प्रति सहानुभूति प्रकट करते देखकर जापानको भी कुछ दबना पड़ा। अब फ्रांसकी भी ऐसी स्थिति नहीं रह गयी कि

वह चीनकी राष्ट्रीय जागृतिका तिरस्कार करते हुए वहाँ अपना प्रभाव बढ़ानेकी चेष्टा करता। रूस तो पहले ही अपने विशेषाधिकार छोड़ चुका था। उसने बाक्सर-विद्रोह सम्बन्धी हरजानेका अपना हिस्सा छोड़ दिया और चीनी पूर्वी रेलको भी उसके हाथ बेच देना स्वीकार कर लिया। साम्राज्यवादी राष्ट्रोंके विरोधके कारण उसने चीनकी सहानुभूति प्राप्त करना आवश्यक समझा।

इसमें सन्देह नहीं कि यदि चीनकी राष्ट्रीय शक्ति बराबर बढ़ती गयी होती और वहाँ पुनः पुनः आपसकी फूट न फैलने पाती, तो आज चीनकी अवस्था इतनी गयी बीती नहीं हो सकती थी। दुर्भाग्यवश चीनको अपने मार्गमें अनेक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा। यूरोपीय युद्धके प्रश्नपर मतभेद हो जानेके कारण सन् १९१७ में वहाँ दो दल हो गये। उत्तरमें चांग-सो-लिन सबसे शक्तिशाली बन गया, किन्तु राष्ट्रीय सरकार डाक्टर सनयातसेनके नेतृत्वमें दक्षिणमें ही क़ायम रही। धीरे धीरे इसकी शक्ति बहुत बढ़ गयी। ठीक इसी समय विदेशियोंके बहकानेमें आकर दक्षिणके प्रभावशाली सेनापति चियांगकाईशेकने राष्ट्रसभा कुओमिनतांगसे सम्बन्ध विच्छेद कर लिया और नैनकिंगमें अपनी अलग सरकार स्थापित कर ली। उत्तरमें तो पृथक् सरकार थी ही, अब दक्षिणमें भी कैण्टन तथा नैनकिंगमें अलग अलग सरकारें स्थापित हो गयीं, जो दिसम्बर १९३१ तक क़ायम रहीं। जापानके आक्रमणसे उत्पन्न परिस्थितिके कारण इन दोनोंमें एकता स्थापित हो गयी।

चियांगकाईशेकने नैनकिंगमें प्रजातंत्री सरकारकी स्थापना

करनेके बाद शीघ्रही रूससे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। उसने रूसियोंको चीनके बाहर निकाल दिया और चीनी वर्गवादियों-को निर्दयतापूर्वक कत्ल करना शुरू किया। जब सन् १९२९ में नैनकिंग सरकारने सोवियट रूससे सम्बन्ध तोड़नेकी घोषणा की थी, तब साम्राज्यवादी राष्ट्रोंको बड़ी खुशी हुई थी। वे नहीं चाहते थे कि चीनमें साम्यवादी सिद्धान्तोंका प्रचार हो और रूसकी सैनिक सहायतासे वहाँकी जनताकी शक्ति बढ़े। मौक़ा अच्छा देखकर जापानने शीघ्र ही अपनी साम्राज्यलिप्सा पूरी करनेका प्रयत्न शुरू कर दिया। सितम्बर १९३१ में उसने मंचूरियापर आक्रमण किया और वहाँ मंचूकुओ नामक नये राज्यकी स्थापना करा दी। इसके बाद जापानने जेहोल प्रान्तपर भी क़ब्ज़ा कर लिया और चीनकी दीवार लाँघकर मई १९३३ में पेकिंगपर भी अधिकार कर लेनेका उपक्रम किया।

यदि १९२९ में चीनने रूससे सम्बन्ध त्याग देनेकी मूर्खता न की होती, तो सम्भव है, आज मंचूरिया उसके हाथसे निकल कर जापानके संरक्षणमें न गया होता और न जापानकी हिम्मत चीनकी दीवारके भीतर घुसनेकी होती। मालूम होता है, चियांगकाईशेक भी अपनी भूल समझ गये हैं। इसीसे चीन और रूसमें अब पुनः सम्बन्ध स्थापित हो गया है।

ग्यारहवां अध्याय

जापानका साम्राज्यवाद *

एशियाके पूर्वी किनारेसे कुछ दूरीपर कमचाटकाके दक्षिणमें तीन चार हजार छोटे बड़े टापुओंकी एक श्रृंखलासी फैली हुई है। इस द्वीपपुंजका नाम ही जापान है। यह एक छोटासा देश है और क्षेत्रफलकी दृष्टिसे भारतके सातवें हिस्से-से अधिक बड़ा नहीं है। इतना होते हुए भी आज इसने अपनेको इतना शक्तिशाली बना लिया है और शिक्षा तथा व्यवसाय आदिके क्षेत्रमें इतनी उन्नति कर ली है कि इस समय संसारके प्रमुख राष्ट्रोंमें इसकी गणना की जाती है। यही कारण है कि आज यह चीन जैसे विशाल देशको भी नाकों चने चबानेके लिए विवश कर सकता है।

प्राचीन कालमें चीन और कोरियाके साथ जापानका निकट सम्बन्ध स्थापित था। ईसाकी छठीं शताब्दीमें वहाँ बौद्ध धर्मका प्रचार हुआ। पहले पहल चीनी विद्वानों और कलाकारोंकी सहा-यतासे ही चीनी साहित्य एवं कलाओंका प्रादुर्भाव हुआ, यद्यपि बादमें जापानियोंने स्वयं अपने उद्योगसे उनमें बहुत अच्छी उन्नति कर ली। यूरोपियनोंके साथ उनका प्रथम संसर्ग

---

* इस अध्यायके लिखनेमें लेखकने अपने निम्नलिखित लेखोंसे भी सहायता ली है—

आधुनिक जापान (माधुरी, मार्च १९३३)
जापानका साम्राज्यवाद (जागरण, ५–१२–३३),
जापानकी मनोवृत्ति (जागरण, १७–४–३३)
चीनके प्रति जापानकी नीति (कर्मवीर, २८–१–३३)

सोलहवीं शताब्दीमें हुआ। सन् १५४२ में वहाँ कुछ पोर्तगीज लोग पहुँचे। उनके बाद स्पेन, हालैण्ड, तथा ब्रिटेनके भी व्यापारी वहाँ गये और उन्होंने जापानियोंके साथ वाणिज्य-सम्बन्ध स्थापित कर लिया। यह सम्बन्ध अधिक समयतक स्थायी न रह सका, क्योंकि इन व्यापारियोंके दुर्व्यवहारसे चिढ़कर एवं "जेजुइट" पादरियोंके अत्याचारोंसे तंग आकर जापानके शासकोंने अपने देशमें विदेशियोंका आना जाना बिलकुल रोक दिया। सन् १६२४ से १६३८ के भीतर सभी विदेशी व्यापारी तथा धर्म-प्रचारक वहाँसे निकाल बाहर किये गये और यह घोषणा कर दी गयी कि अब यदि ईसाई धर्मका अनुयायी एक भी व्यक्ति, चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो, जापानमें दिखाई पड़ेगा, तो उसका सिर काट लिया जायगा।

लगभग दो सौ वर्षोंतक यह नीति जारी रही। उन्नीसवीं शताब्दीके मध्यमें रूस और अमेरिकाके जहाज़ व्हेल मछलीका शिकार करनेके उद्देश्यसे पुनः जापानके किनारेतक पहुँचने लगे। सन् १८४६ में अमेरिकाकी सरकारने जापानके सम्राट्के पास एक दूत भेजा और उनसे अमेरिकन व्यापारियोंको व्यापार करनेकी अनुमति प्रदान करनेकी प्रार्थना की, जो अस्वीकृत हुई। कुछ समयके बाद हालैण्डके राजाने भी इसी आशयका एक पत्र मिकाडो (जापानी सम्राट्) के पास भेजा, किन्तु उसका भी कोई प्रभाव न पड़ा और जापानकी नीति ज्योंकी त्यों बनी रही।

जापानके टससे मस न होनेके कारण जब व्हेलके शिकारके लिए गये हुए अमेरिकन नाविकोंकी कठिनाइयाँ बढ़ने लगीं,

यहाँ तक कि तूफान आदिके आने पर भी उन्हें जापानके किनारे आश्रय लेने या भोजनादि सामग्री प्राप्त करनेमें रुकावट डाली जाने लगी, तब सन् १८५१ में अमेरिकाके राष्ट्रमंत्रीने अधिक ज़ोरदार नीति ग्रहण करनेका निश्चय किया। तदनुसार दो वर्ष बाद अमेरिकाकी सरकारने कमोडोर पेरीको व्यापारिक सन्धिकी बातचीत करनेके लिए चार युद्धपोतोंके साथ जापान भेजा। जापानी लोग अमेरिकन जहाज़ोंपर हमला करनेका विचार कर ही रहे थे कि पेरीकी चतुराईसे वे शान्त हो गये और सन्धिकी बातचीत शुरू हो गयी। ३१ मार्च १८५४ को एक सन्धि हुई, जिसके अनुसार जापानने शिमोदा और नागासकी नामके दो बन्दर अमेरिकनोंके लिए खोल दिये, जहाँ उनके जहाज़ भोजन, लकड़ी, कोयला आदि ले सकते थे और तूफानके समय आश्रय ग्रहण कर सकते थे। इसके बाद रूस, हालैण्ड, ब्रिटेन आदि देशोंने भी जापानसे इसी तरहकी सन्धि कर ली। सन् १८५८ में अमेरिकन दूत टाउनसेण्ड हैरिसको बहुत कोशिश करने पर सम्राट्के प्रतिनिधि शोगुनसे भेंट करनेकी इजाज़त मिल गयी। परिणाम यह हुआ कि ओसाका बन्दर भी अमेरिकाके लिए खोल दिया गया और वहाँके नागरिकोंको इन बन्दरगाहोंमें रहने तथा व्यापार करनेकी अनुमति प्राप्त हो गयी। शीघ्र ही ब्रिटेन, फ्रांस, हालैण्ड तथा अन्य देशोंको भी वही सुविधाएँ मिल गयीं जो अमेरिकाको दी गयी थीं।

विदेशियोंके साथ सम्बन्ध स्थापित होनेका एक परिणाम यह हुआ कि जापानमें शीघ्र ही जागीरदारीकी प्रथाका अन्त हो गया। सन् १८६७ तक जापानी सम्राट् मिकाडोकी शक्ति बहुत

परिमित थी। उस समय जापान छोटे छोटे कई प्रान्तोंमें बँटा हुआ था। प्रत्येक प्रान्तका शासन एक एक सरदारके सिपुर्द था। प्रत्येक सरदारके अधीन बहुतसे स्वामिभक्त खड्गधारी योद्धा रहते थे। ये 'समुराई' कहलाते थे। सबसे बड़ा सरदार शोगुन कहलाता था, जो सम्राट्का प्रतिनिधि समझा जाता था। शासन सम्बन्धी वास्तविक अधिकार इसीके हाथमें रहता था। जब शोगुनने कमोडोर पेरीसे सन्धि की और विदेशियोंको जापानमें आने-जानेकी अनुमति दी, तब कई बड़े बड़े सरदार जो पहलेसे ही उससे ईर्ष्या करते थे, कायर कह कर उसकी निन्दा करने लगे और उसकी शक्ति चूर्ण करनेके प्रयत्नमें लग गये। १८६७ में उन्हें सफलता मिल गयी और शासनके समस्त अधिकार जापानके सम्राट्को प्राप्त हो गये।

अब जापानपर पश्चिमी देशोंके संसर्गका प्रभाव पड़नेमें देर न लगी। उसने समझ लिया कि अपने आपको यूरोपीय शक्तियोंका शिकार बननेसे रोकनेके लिए उसे भी उन्हींकी तरह शक्ति-सम्पन्न, सुशिक्षित, एवं वाणिज्य-व्यवसायमें कुशल बनना पड़ेगा। इसीसे उसने शीघ्र ही पश्चिमी सभ्यताका अनुकरण करना शुरू कर दिया। विदेशियोंकी छेड़छाड़ तथा आत्म-रक्षाके प्रश्नके कारण समस्त देशमें राष्ट्रीयताका भाव तो पहले ही फैल चुका था, अतः उन्नतिके पथपर अग्रसर होनेमें उसे कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई।

राष्ट्रकी उन्नतिके लिए शिक्षाके प्रसारकी अनिवार्य आवश्यकता समझकर सन् १८६९ में ही एक आदेश प्रकाशित किया गया, जिसमें कहा गया था कि "सब मनुष्योंके लिए शिक्षा प्राप्त करना अत्यावश्यक है...आजसे देशकी सारी

जनतामें, चाहे वह किसी वर्गकी हो, शिक्षा-प्रचारका प्रयत्न करना होगा, ताकि किसी भी गाँवमें अशिक्षित व्यक्तियोंका एक भी कुटुम्ब न रह जाय और न कोई ऐसा कुटुम्ब ही मिले जिसमें एक भी व्यक्ति अशिक्षित हो।"

फिर क्या था, देशभरमें हजारों पाठशालाएँ और विद्यालय खोल दिये गये। कृषि एवं व्यवसाय सम्बन्धी तथा विविध-कलाओंकी शिक्षापर विशेष ध्यान दिया जाने लगा।* इसके सिवाय विशेष शिक्षा प्राप्त करनेके लिए बहुसंख्यक विद्यार्थी विदेशोंको भी भेजे गये।

इसी तरह उद्योग-व्यवसायकी उन्नतिके लिए भी ज़ोरोंका प्रयत्न शुरू हुआ। सरकारकी ओरसे अनेक व्यावसायिक प्रदर्शिनियोंका आयोजन किया गया और देशके व्यवसायोंको हर तरहसे प्रोत्साहन देनेकी चेष्टा की गयी। सरकारने एक ऐसी संस्था स्थापित की, जिसका मुख्य काम विदेशी बाज़ारोंमें जापानी वस्तुओंका प्रदर्शन करना और उसके प्रचारका उद्योग करना ही था। इसी प्रकार उसने संरक्षण देकर तथा अन्य उपायोंसे नये-नये उद्योग-व्यवसायोंकी सहायता की। परिणाम यह हुआ कि जापानने शीघ्र ही इतनी व्यावसायिक उन्नति कर ली कि आज वह ब्रिटेन और अमेरिकासे भी टक्कर ले रहा है। पिछले दस वर्षोंके भीतर जापानमें तैयार होनेवाले कपड़ेकी मात्रा दूनी हो गयी है। सन् १९१२ में वहाँके पुतली-घरोंमें तकुओं और करघोंकी संख्या क्रमशः २१॥ लाख तथा

* अनिवार्य शिक्षापर इतना ज़ोर दिया गया कि सन् १९०७ में ६ वर्षसे अधिक उम्रवाले ९७ फी सदी लड़के स्कूलोंमें शिक्षा पाने लगे (यूरोप एण्ड दि ईस्ट, पृ० ४९५)।

२२ हजार थी। १९३१ में वह ७३।।। लाख और ७४ हजार हो गयी।

फ्रांस, ब्रिटेन, तथा रूसको व्यापारके बहाने धीरे धीरे चीनकी भूमि हड़पते देखकर जापान भी चौकन्ना हो उठा। कोरियाके साथ सन् १८७६ में ही उसने व्यापारिक सन्धि कर ली थी। इसके बाद जब अमेरिका, ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस आदि राष्ट्रोंने भी कोरियासे पृथक् पृथक् सन्धि कर व्यापार करने तथा ईसाई धर्म फैलानेका अधिकार प्राप्त कर लिया और जब वे चीनकी तरह वहाँ भी वैसी ही चालें चलने लगे, तब जापानने उनका विरोध करना शुरू किया।

कोरियामें इस समय दो दल स्थापित हो गये थे। दोनों ही वहाँका शासनसूत्र अपने हाथमें लेनेकी चेष्टा करते थे। एक दल जिसकी समर्थक चीनकी सरकार थी विदेशियोंका विरोधी था, और दूसरा दल जापानियोंकी तरह नये विचारोंका अनुयायी था। इस परिस्थितिसे लाभ उठाकर जापानने भी अपना प्रभाव बढ़ानेकी चेष्टा की। इसीसे सन् १८८२ में कुछ लोगोंने जापानी दूतावासपर आक्रमण कर दिया। आक्रमणकारियोंके नेताको चीन सरकारने निर्वासित कर दिया, जिससे मामला उस समय शान्त हो गया।

मई १८९४ में पुनः एक उपद्रव खड़ा हो गया और उसे दबानेके लिए कोरियाकी सरकारने चीनसे सहायता माँगी। चीनने भी उसे अपना करद राज्य समझकर दो हजार सैनिक उसकी सहायताके लिए भेज दिये। जापानको यह बात अच्छी न लगी, क्योंकि वह कोरियाको स्वयं अपने चंगुलमें फाँसना चाहता था। उसने तुरन्त मेजर जनरल ओशीमाके सेना-

पतित्वमें अपनी सेना भेजकर कोरियाकी राजधानी तथा कई मुख्य बन्दरगाहोंपर क़ब्ज़ा कर लिया। जापानने चीनसे प्रस्ताव किया कि आओ, हम और तुम मिलकर विद्रोहका दमन कर कोरियाकी अवस्था सुधारनेका प्रयत्न करें। चीनको यह प्रस्ताव पसन्द नहीं आया, क्योंकि कोरियाको वह अपने अधीन समझता था और उसके मामलोंमें हस्तक्षेप करनेका जापानका अधिकार माननेके लिए तैयार न था। जापानी सेनाने कोरियाके राजप्रासादपर जबरन क़ब्ज़ा कर लिया। १ अगस्त १८९४ को चीन-जापानमें बाक़ायदा युद्धकी घोषणा हो गयी।

जापानी वीरोंका पराक्रम पश्चिमी शक्तियोंने पहले पहल इसी युद्धमें देखा और देखकर वे मन ही मन जापानकी भावी प्रतिद्वन्द्विताका अनुमान लगाने लगे। लड़ाईमें चीन पूरी तरह-से हार गया। उसे लाचार होकर सन्धिकी प्रार्थना करनी पड़ी। तदनुसार १७ अप्रैल १८९५ को शिमोनोसेकी की सन्धि हुई। जैसा कि हम पिछले अध्यायमें लिख चुके हैं, इस सन्धि-के अनुसार कोरिया एक पूर्ण स्वाधीन राज्य मान लिया गया। जापानने शीघ्र ही वहाँ अपना प्रभुत्व जमाना शुरू किया। जब उसकी नीतिके कारण कोरियावालोंमें कुछ असन्तोष फैलने लगा, तो रूसने इस अवसरसे लाभ उठानेकी चेष्टा की। रूसका बल पाकर वहाँके राजाने जापान द्वारा किये गये कुल सुधार रद्द कर दिये।

सन् १९०० के मार्च महीनेमें यह घोषित किया गया कि कोरियाका मुख्य बन्दरगाह मेसेनपो रूसको दे दिया गया है। रूसने शीतकालमें अपने युद्धपोत वहाँ रखनेकी इच्छा प्रकट की। जापानने देखा कि रूसके हाथमें इस बन्दरके चले जानेसे

जापान सागरसे चीन-सागरकी ओर जानेवाले मार्गपर रूस का प्रभाव स्थापित हो जाता है, जो उसके लिए खतरनाक हो सकता है। इसीसे उसने इसका विरोध किया। यदि कोरियन सरकार इस समय यह घोषणा न कर देती कि उक्त बन्दर रूसको न दिया जायगा, तो बहुत संभव था कि जापान और रूसमें उसी समय खटक जाती।

जापान रूसकी गति-विधिको बड़े ध्यानसे देखता आ रहा था। लिआओतुंगके सम्बन्धमें उसने जो चाल चली थी, उसे जापान कैसे भूल सकता था ? रूसकी कारस्वाइयोंसे उसे यह समझ लेनेमें देर न लगी कि वह मंचूरिया ही नहीं, कोरियापर भी अपना प्रभाव स्थापित करना चाहता है। इसीसे उसने रूस-का प्रसार रोकनेके लिए अपनेको समर्थ बनानेका प्रयत्न शुरू कर दिया। उसने अपनी सैनिक शक्ति बढ़ानेकी ओर विशेष ध्यान दिया और सन् १९०२ में ब्रिटेनसे मैत्री-सम्बन्ध स्थापित कर लिया। इस प्रकार पूरी तैयारी कर उसने रूसको लल-कारनेका निश्चय कर लिया।

जापानने देखा कि बाक्सर-विद्रोहके समय रूसने मंचूरिया-में जो सेना ला रखी थी, उसे शीघ्र ही वहाँसे हटा लेनेकी इच्छा प्रकट करते हुए भी उसने १८ महीने बीत जाने पर भी वापस नहीं बुलाया। इधर उसने यालू नदीके उस पार ठीक कोरिया-की सीमापर रूसी बस्ती बसानेका प्रयत्न शुरू किया। इस प्रकार मंचूरिया और कोरियाकी ओर अग्रसर होनेका प्रयत्न करते देखकर सन् १९०३ में जापानने रूसको लिखा कि रूसी सेना अभीतक मंचूरियामें विद्यमान है, वह शीघ्र ही वहाँसे हटा ली जाय। उसने अपने पत्रमें रूसके सामने यह प्रस्ताव भी रखा

कि यदि तुम कोरियामें हस्तक्षेप करनेका हमारा अधिकार मान लो तो मंचूरियाके अधिकांशमें हम तुम्हारे स्वार्थकी बात स्वीकार कर लेंगे। रूसने कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया। वह बराबर टाल-मटूल करता गया। यह देखकर ९ फरवरी १९०४ को जापानने रूसके विरुद्ध युद्धकी घोषणा कर दी।

युद्धमें जापानी वीर बड़ी बहादुरीसे लड़े। वहाँके सैनिकोंने, जिनके हृदय देशभक्तिसे आप्लावित हो रहे थे, बड़ी दृढ़ताके साथ पोर्ट आर्थरके तथाकथित अजेय क़िलेको घेर लिया और उसे अपने अधिकारमें ले लिया। मंचूरियाके प्रधान नगर मुकदनमें रूसकी एक बड़ी सेनाको जापानियोंने गहरी शिकस्त दी और यूरोपकी ओरसे आये हुए रूसी बेड़ेको समुद्रकी लड़ाईमें चकनाचूर कर दिया। सितम्बर १९०५ में पोर्ट्स माउथकी सन्धि हुई। इसके अनुसार यह स्वीकार कर लिया गया कि कोरियामें जापानका "स्थायी राजनीतिक, सैनिक, तथा आर्थिक स्वार्थ" है। अब जापानको लिआओतुंग प्रायद्वीपमें वे ही अधिकार प्राप्त हो गये जो इसके पहले रूसको प्राप्त थे। इसके अतिरिक्त दक्षिण मंचूरिया भी जापानका प्रभावक्षेत्र मान लिया गया और मंचूरियाकी रेलवे लाइनका उत्तरार्द्ध उसके क़ब्ज़ेमें आ गया। जापानके उत्तरमें स्थित सखलीन द्वीपका आधा हिस्सा जापानको दे दिया गया। आधा रूसके ही अधिकारमें रहा। सन्धिकी शर्त्तोंमें एक यह भी थी कि दोनों देश मंचूरियासे अपनी अपनी सेना हटा लेंगे, किन्तु रेल-मार्गकी रक्षाके लिए संरक्षक नियुक्त करनेका अधिकार उन्हें रहेगा। सन्धिपत्रमें यह भी कहा गया था कि मंचूरियाके व्यवसाय-वाणिज्यकी उन्नतिके लिए चीन जो सामान्य नियम बनावेगा,

उनका पालन अन्य देशोंकी तरह जापान तथा रूसको भी करना पड़ेगा।

इस प्रकार पहले चीनको और बादमें रूसको परास्त कर जापानने सारे संसारको आश्चर्य-चकित कर दिया। अब उसकी गणना प्रथम श्रेणीके राष्ट्रोंमें होने लगी। शीघ्र ही अन्तर्राष्ट्रीय मामलोंमें उसकी भी सलाह ली जाने लगी। सन् १९०२ में ब्रिटेनके साथ उसकी जो सन्धि हुई थी, वह १९०५ में और भी पक्की कर दी गयी और इस नयी सन्धिके अनुसार दोनोंने यह प्रतिज्ञा की कि अन्य किसी राष्ट्रद्वारा आक्रमण होने पर हम एक दूसरेकी सहायता करेंगे। सन् १९०७ में फ्रांस तथा रूससे भी उसका मैत्री-सम्बन्ध स्थापित हो गया। रूसने उसे कोरियामें मनमानी काररवाई करनेकी स्वीकृति दे दी और जापानने उत्तरी मंचूरियाको रूसका प्रभावक्षेत्र मान लिया।

अब जापानको कोरियामें अपने मनसूबोंके अनुसार कार्य करनेकी आज़ादी मिल गयी। उसने वहाँकी अधिकांश सेना तोड़ दी और रेल, तार, तथा डाकखानोंका नियंत्रण अपने हाथ में ले लिया। नवम्बर १९०५ में कोरियाके राजाको लाचार होकर ऐसी सन्धिपर हस्ताक्षर करने पड़े जिसके अनुसार जापानको वहाँके परराष्ट्र सम्बन्धी मामलोंमें दखल देनेका अधिकार प्राप्त हो गया और वहाँका शासनकार्य भी जापानी दूतकी सलाहसे किया जाने लगा। यह देखकर अमेरिका, ब्रिटेन आदि देशोंने अपने अपने राजदूत कोरियासे हटा लिये और उस देशके सब मामलोंके सम्बन्धमें सीधे टोकियोसे लिखापढ़ी करने लगे। सन् १९१० में जापानने कोरियाको खुल्लमखुल्ला अपने राज्यमें मिला लिया।

गत महायुद्धके समय जब यूरोपके प्रायः सभी प्रमुख राष्ट्र अपनी अपनी विपत्तिमें फँसे थे, तब जापानने चीनपर दवाव डालकर अपनी २१ माँगें स्वीकृत करानी चाहीं, किन्तु जैसा कि हम पिछले अध्यायमें लिख चुके हैं, युद्ध-समाप्तिके बाद वाशिंगटन सम्मेलनमें अमेरिका तथा ब्रिटेनने इन माँगोंका विरोध किया और जापानको विवश होकर उनमें विशेष परिवर्त्तन करना पड़ा। इतना होते हुए भी जापान निरुत्साहित न हुआ। अपनी आकांक्षाओंकी पूर्त्तिके लिए वह बराबर प्रयत्न करता रहा।

यों तो साधारणतया सारे चीन देशपर, किन्तु विशेष रूपसे मंचूरियाकी ओर उसकी दृष्टि बराबर लगी रही। वह एक अत्यन्त उपजाऊ और सम्पन्न देश है। लोहे, कोयले और सोनेकी वहाँ अनेक खानें हैं तथा कृषिके लिए भी काफी स्थान उपलब्ध है। उसे वहाँसे प्रर्याप्त मात्रामें कच्चा माल मिल सकता है, इसीसे वह बहुत दिनोंसे मंचूरियापर प्रभुत्व स्थापित करनेकी चेष्टा करता रहा है। वहाँ उसने करोड़ों रुपये लगा दिये हैं। सन् १९०५ की सन्धि द्वारा जापानने जो दक्षिणी मंचूरिया रेलवे रूससे ले ली थी, उसके साथ भी जापानका स्वार्थ विशेष रूपसे सम्बद्ध है। विद्रोहका दमन करनेके लिए चीनको जब इस रेलवेसे अपनी सेना भेजनी पड़ी थी, तब उसे अनेक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा था, इसीसे बादमें उसने जापानी रेलवेके प्रायः समानान्तर पर ४०० मील लम्बी अपनी नयी रेलवे लाइन बना ली। जापान इससे बहुत क्षुब्ध हो उठा, क्योंकि रेलकी इस नयी सड़कके कारण उसके स्वार्थों पर विशेष आघात पहुँचा। अब वह मंचूरियापर आक्रमण करनेका अवसर ढूँढ़ने लगा।

जापानकी दृष्टिमें मंचूरियाके विशेष महत्त्वका जो कारण ऊपर लिखा गया है, उसके सिवाय एक कारण यह भी था कि जापान वहाँपर अपनी बढ़ती हुई आबादीके एक अंशको बसाना चाहता था। सन् १८७२ में जापानकी जनसंख्या ३ करोड़ ३० लाख थी। १९०२ में यह ४ करोड़ ६० लाख तथा १९२९ के अन्तमें ६ करोड़ ५७ लाख हो गयी अर्थात् ५७ वर्षोंके भीतर १०० प्रतिशत वृद्धि हुई। इसीसे उसे संसारके अन्य अन्य भागोंमें अपने नागरिकोंको बसानेकी चेष्टा करनी पड़ी। कोरियापर प्रभुत्व स्थापित होनेके बाद बहुतसे जापानी वहाँ जा बसे। दक्षिण मंचूरिया तथा प्रशान्त सागरके द्वीपोंमें भी वे फैल गये। अमेरिकाके कोलम्बिया, कैलीफोर्निया आदि नगरोंमें भी वे बसते जा रहे थे, किन्तु सन् १९२४ में अमेरिकाने जो क़ानून बना दिया, उससे जापानियोंका वहाँ जाना बिलकुल कम हो गया। आस्ट्रेलियामें भी उसके लिए द्वार बन्द है।

एक बात और है। जापान केवल इतनेसे ही सन्तुष्ट नहीं है कि उसके नागरिक अन्य देशोंमें जाकर मेहनत मजदूरी द्वारा किसी तरह अपना पेट भर लिया करें। वह चाहता है कि जहाँ जहाँ ये लोग जाकर बसें, वहाँ वहाँ हमारा व्यापार भी बढ़ता जाय और हमारे नागरिकोंको वाणिज्य-व्यवसायकी तथा धन कमानेकी वे सब सुविधाएँ मिलें, जो वहाँवालोंको दी जाती हों। इसीसे मंचूरिया तथा चीनमें अपना प्रभाव बढ़ानेके लिए जापान वर्षोंसे प्रयत्न करता आ रहा था। वह मंचूरियापर आक्रमण करनेकी फिक्रमें ही था कि इसी समय कप्तान नाकामुराकी हत्या हो गयी। फिर क्या था, १८ सितम्बर

१९३१ की रातको जापानी सेनाने मुकदनपर आक्रमण कर दिया और वहाँके नागरिकोंको कुचल डाला।

चीनने राष्ट्रसंघसे शिकायत की और इस मामलेमें तुरन्त हस्तक्षेप करनेका अनुरोध किया, किन्तु संघसे कुछ करते धरते न बना। दो ढाई महीने बाद उसने यह प्रस्ताव स्वीकृत किया कि लार्ड लिटनकी अध्यक्षतामें एक कमीशन मंचूरिया जाकर सारे मामलेकी जाँच करे और शीघ्र अपनी रिपोर्ट संघके सामने पेश करे, तब इस सम्बन्धमें आवश्यक कारखाई की जायगी। जापानने इस कमीशनके साथ सहयोग करनेसे इनकार कर दिया। कमीशन चीन पहुँचने भी न पाया था कि शांघाईमें फिर जापानकी तोपें गरजने लगीं।

मंचूरियापर आक्रमण होनेके बाद जापानके प्रति चीनका विरोध-भाव बढ़ने लगा। जापानी वस्तुओंका बहिष्कार ज़ोरोंसे किया जाने लगा। शांघाईके छात्रों और नवयुवकोंने इसमें विशेष भाग लिया। निदान इस सम्बन्धकी अनेक घटनाओंसे चिढ़कर जापानने २० जनवरीको एक पत्र चीनी अधिकारियोंके पास भेजा। इसमें जो अपमानजनक शर्त्तें रखी गयी थीं, उन्हें शांघाई (चापेआइ) की नगर-सभाके अध्यक्षने २८ तारीखको स्वीकार कर लिया और तुरन्त ही जापानके विरुद्ध किये जानेवाले प्रत्येक कार्यका दमन करना शुरू कर दिया। उसी दिन ११ बजे रातको जापानने यह माँग पेश की कि शांघाईमें जो संरक्षक सेना मौकेके स्थानोंपर प्रस्तुत है, वह तुरन्त वहाँसे हटा ली जाय। इस पत्रपर अभी विचार भी नहीं होने पाया था कि आध घण्टेके भीतर जापानने धावा बोल दिया।

देखते देखते जापानी सेनाने गोले बरसा कर उत्तर दिशा-

का रेलवे स्टेशन और कामर्शल प्रेस नामका मुद्रणालय, जो दुनिया भरमें सबसे बड़ा समझा जाता था, भस्मसात् कर दिया। इसी तरह जापानकी गोलाबारीसे वहाँका सुप्रसिद्ध पुस्तकालय, जिसमें दस लाखसे अधिक पुस्तकें थीं, नष्ट हो गया। इसमें अनेक बहुमूल्य हस्तलिखित पुस्तकें भी थीं, जो अब सर्वथा दुष्प्राप्य हैं। इस समय चीनी सेना बड़ी बहादुरीसे लड़ी और उसने जापानियोंको शीघ्र ही अन्तर्राष्ट्रीय बस्तीमें खदेड़ दिया। उसे तटस्थ भूमि समझकर चीनी सैनिक रुक गये। इस बीचमें जापानियोंको अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाने तथा रणपोत और हवाई जहाज़ एकत्र करनेका मौक़ा मिल गया। अब उन्होंने फिर लड़ाई शुरू की और चापेआई (शांघाईके चीनी भाग) के हजारों मकानोंको जलाकर खाक कर डाला।

निदान बहुत बड़ी जनधनकी हानि होनेके बाद झगड़ा किसी तरह शान्त हुआ। लिटन कमीशनने मंचूरियासे लौट कर अपनी रिपोर्ट संघके सामने पेश कर दी। इसमें कहा गया था कि सितम्बर १९३१ में जापानने आत्मरक्षाके बहाने मंचूरियामें जो सैनिक कारखाई की थी, वह उचित और न्यायसंगत नहीं कही जा सकती। कमीशनने यह स्वीकार किया कि चीनके सम्बन्धमें जापानकी जो शिकायतें थीं, वे ऐसी न थीं जिनका निपटारा करनेके लिए इस तरहका भीषण बदला लेना आवश्यक समझा जा सके। 'मंचूकुओ' नामक नवीन राज्यकी स्थापना करानेमें जापानियोंने कैसी चालबाजियोंका सहारा लिया था, इसकी पोल भी रिपोर्टमें खोली गयी थी।

जब संघमें कमीशनकी रिपोर्टपर विचार होने लगा, तब जापानके कई सैनिक अफ्सरों तथा कुछ समाचारपत्रोंने यह

कहना शुरू किया कि यदि संघका निर्णय जापानके विपक्षमें हुआ, तो उसे उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर देनेके लिए बाध्य होना पड़ेगा। संघ द्वारा नियुक्त "उन्नीस सदस्योंकी कमेटीने" लिटन कमीशनकी सिफारिशोंके आधारपर अपना वक्तव्य तैयार किया और इस समस्याके निपटारेका यह उपाय बतलाया कि संघ एक कमेटीकी स्थापना कर दे जो मंचूरियामें ऐसा शासन स्थापित करनेकी चेष्टा करेगी, जिससे वह चीनके अधीन होते हुए भी उससे प्रायः बिलकुल स्वतन्त्र रहे और जो इस बातका भी प्रयत्न करेगी कि मंचूरियन रेलवेसे दूर जिन जिन स्थानोंपर जापानी सेनाने दखल जमा लिया हो, उन उन स्थानोंसे वह हटा दी जाय।

जब राष्ट्रसंघने उक्त कमेटीका वक्तव्य स्वीकार कर लिया, तब जापानी प्रतिनिधि संघकी बैठकसे उठकर बाहर निकल आये और कुछ ही समयके बाद जापानने संघसे सम्बन्ध-त्याग-की घोषणा भी कर दी। जिस समय यह प्रश्न संघमें पेश था, उस समय दो चार छोटे छोटे राष्ट्रोंके प्रतिनिधि ही स्पष्ट रूपसे जापानके व्यवहारकी निन्दा करते थे और इस मामलेमें दृढ़ता दिखानेके लिए संघपर दबाव डालते थे। बहसकी जो रिपोर्ट "मैनचेस्टर गार्जियन" के संवाददाताने भेजी थी, उससे स्पष्ट है कि ब्रिटेन, इटली, जर्मनी आदि देशोंकी सहानुभूति निश्चित रूपसे जापानके साथ थी। ब्रिटिश परराष्ट्र-मंत्री सर जान साइमनके सम्बन्धमें उसने लिखा था कि उन्होंने "लिटन कमीशनकी रिपोर्टसे वे अंश चुन चुन कर प्रस्तुत किये जो चीनके प्रतिकूल थे और जापानके विरुद्ध कुछ भी नहीं कहा। उनके भाषणमें स्थान स्थानपर जापानकी तारीफ की गयी थी,

पर चीनके पक्षमें आरंभसे अन्ततक एक शब्द भी नहीं कहा गया था।"

ब्रिटेन आदि राष्ट्रोंका रुख देखकर और यूरोपीय देशोंको अपनी अपनी आर्थिक तथा राजनीतिक समस्याओंमें उलझा हुआ समझकर जापानकी हिम्मत बढ़ गयी। वह चीनके साथ पुनः छेड़ छाड़ करनेका मौक़ा ढूँढ़ता रहा। निदान चीनकी सीमापर स्थित शान हाईकान नामक नगरकी जापानी फौजी छावनीमें पाये गये दो बमोंका बहाना लेकर जनवरी (१९३३) के शुरूमें उसने चीनी बस्तीपर आक्रमण कर दिया और गोलोंकी वर्षा कर उसे भस्म कर डाला।

इसके बाद उसने जेहोल प्रान्तपर भी अधिकार कर लेनेका निश्चय किया। उसने चीनकी सरकारके पास इस आशयकी अन्तिम सूचना भेजी कि जेहोलमें जो चीनी सेना है, वह तुरन्त वहाँसे हटा ली जाय, क्योंकि उक्त प्रान्त मंचूकुओका अविच्छेद्य अंग है। ऐसा ही एक पत्र मंचूकुओंकी ओरसे भी जेहोलके चीनी शासकके पास भेजा गया था। चीनने जापानका आदेश माननेसे इनकार कर दिया और प्राणोंकी बाजी लगाकर भी जेहोलकी रक्षा करनेका संकल्प कर लिया।

चीनके प्रतिनिधिने पुनः राष्ट्रसंघका ध्यान जापानकी हरकतोंकी ओर आकर्षित कराया, किन्तु इस बार भी संघसे कुछ करते धरते नहीं बना। उसने जेहोलपर क़ब्ज़ा कर चीनका अंग-भंग न करनेके लिए जापानसे अनुरोध अवश्य किया, किन्तु परिणाम कुछ भी न हुआ। चीनी सैनिकोंने जापानी सैनिकोंका मुक़ाबिला करनेका शक्ति भर प्रयत्न किया और दो चार मोर्चोंपर बड़ी गहरी लड़ाई हुई, फिर भी

वे लोग जेहोलकी रक्षा करनेमें समर्थ न हो सके। उसपर शीघ्र ही जापानका अधिकार हो गया।

शत्रुका पीछा करते हुए जापानी सेना चीनकी दीवार लाँघकर खास चीनके भीतर घुस गयी और वहाँ भी एक बड़े भूभागपर अधिकार कर लिया। पेकिंग नगरके द्वारपर जापानी सैनिकोंको उपस्थित देखकर चीनने सुलहकी प्रार्थना की। तदनुसार ३१ मईको तांगकूमें चीन-जापानमें एक अस्थायी सन्धि हुई, जिसके अनुसार चीनकी दीवारके दक्षिणमें एक तटस्थ क्षेत्र स्थापित कर दिया गया है। इसके भीतर चीन न तो अपनी कोई सेना रखेगा और न किसी तरहकी सामरिक तैयारी ही कर सकेगा। संभव है, जापान मंचूरियाकी तरह यहाँ भी एक नया राज्य स्थापित करना चाहता हो, जो उसके दवावमें रहे और जिसके कारण मंचूरियापर चीनके आक्रमण-की विशेष सम्भावना न रह जाय।

जापानके साम्राज्यवादका एक और उदाहरण यह है कि वह राष्ट्रसंघसे सम्बन्ध-त्यागकी घोषणा कर चुकनेके बाद भी प्रशान्त सागरके उन द्वीपोंको नहीं छोड़ना चाहता, जो पहले जर्मनीके अधीन थे और जिनका शासनादेश उसे संघसे ही प्राप्त हुआ था। इनकी कुल संख्या ६२३ है। इनमें कैरोलाइन्स, लैड्रोन्स, मार्शल द्वीप-पुंज तथा अन्य छोटे छोटे टापू शामिल हैं। व्यापारिक दृष्टिसे इनका कोई महत्त्व नहीं है, किन्तु सामरिक दृष्टिसे ये बड़े कामके हैं। इनपर प्रभुत्व बनाये रखकर जापानके लिए अमेरिकाके जल-मार्गोंका नियंत्रण कर सकना और युद्धके समय फिलिपाइन आदिसे उसका सम्बन्ध-विच्छेद करा देना बहुत आसान है। यद्यपि संघके शासना-

देशमें इस बातका उल्लेख स्पष्ट रूपसे कर दिया गया था कि इन द्वीपोंपर क़िले नहीं बनाये जा सकेंगे, फिर भी यदि संघसे नाता तोड़कर जापान वहाँपर किलेबन्दी कराना शुरू कर दे, तो एक कठिन समस्या उत्पन्न हो जायगी। अमेरिका जापानके इस कार्यको अपने लिए खतरेका कारण समझेगा और वह जापानको कदापि ऐसा न करने देगा।

इसके सिवाय जापान कोरियाके आसपास रूसकी भी कुछ भूमि अपने अधिकारमें कर लेना चाहता है, जिसमें रूस कोरियावालोंको उसके विरुद्ध न भड़का सके। साइबेरियामें इमारती लकड़ी बहुत बड़ी तादादमें पायी जाती है और खनिज वस्तुएँ भी पर्याप्त मात्रामें मौजूद हैं। वहाँ जापानकी बढ़ती हुई जनसंख्याके निकासके लिए भी काफी गुञ्जाइश है। इसीसे मंचूरियाकी तरह साइबेरियाके पूर्वी भागपर भी जापानकी दृष्टि लगी हुई है। एक बार पहले भी उसने वहाँ अपना प्रभुत्व स्थापित करनेकी चेष्टा की थी और सन् १९१८ से १९२२ तक अपने सैनिक भी वहाँ ला रखे थे।

जापानियोंकी ओरसे कई बार यह बात कही गयी है कि रूसका प्रभाव रोकनेके लिए एक बार उससे युद्ध करना अनिवार्य है। इसीसे गतवर्ष जब रूसने उससे तटस्थताकी सन्धिका प्रस्ताव किया था, तब जापानी सरकारने उसे नामंजूर कर दिया था। जापानका यह रुख देखकर रूस भी सतर्क हो गया और उसने भी सैनिक तैयारी शुरू कर दी। इधर चाइनीज ईस्टन रेलवेके सम्बन्धमें जापान तथा रूसमें कुछ कड़ा पत्रव्यवहार हुआ और ऐसा प्रतीत होने लगा कि दोनोंमें शीघ्र ही युद्ध छिड़ जायगा, किन्तु बादमें किसी तरह मामला शान्त

हो गया। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि जापान अधिक समयतक शान्त बैठा रह सकेगा और उपयुक्त अवसर मिलते ही अपनी महत्त्वाकाक्षाओंकी पूर्त्तिका प्रयत्न न करेगा।

पश्चिमके साम्राज्यवादी राष्ट्रोंकी तरह जापान भी अपना उद्देश्य 'स्थायी शान्ति' स्थापित करना एवं 'पिछड़े हुए देशोंकी सहायता' करना बतलाता है। वहाँके युद्ध-सचिव जनरल आराकीने अभी हालमें 'काईकशा' पत्रमें लिखा था कि "जापान एशियाकी अत्याचार-पीड़ित जातियोंका उद्धारक बनना चाहता है।" इसी तरह जापानके प्रतिनिधि मत्सुओकाने एक अमेरिकन पत्र-प्रतिनिधिसे कहा था कि "हम लोग शान्ति और ऐक्य स्थापित करनेमें चीनकी सहायता करना चाहते हैं; हम मंचूरियाको उच्च एवं मानव-हितकारी आध्यात्मिक सिद्धान्तोंकी शिक्षा देना चाहते हैं और हमारी इच्छा उनमें तदनुकूल भाव भर देनेकी है। हमें आशा है कि मंचूरिया सारे एशियाके सामने एक आदर्श उपस्थित करेगा। जापान अमेरिका तथा समस्त पश्चिमी संसारको आध्यात्मिकता सिखा सकता है। मेरा विश्वास है कि जापानमें शीघ्र ही एक दिव्य दूत पैदा होगा, जो ईसा मसीह द्वारा दिये गये शान्ति और अहिंसाके उपदेशकी हिन्दू दर्शन-शास्त्रोंके अनुरूप मीमांसा करेगा।"

यदि जापानका उद्देश्य सचमुच इतना उच्च एवं पवित्र है, तो फिर यह समझमें नहीं आता कि वह क्यों बार बार अपने पड़ोसी चीनका गला दबानेकी चेष्टा कर रहा है। कमज़ोर और अत्याचार-पीड़ित देशोंकी सहायता करनेका यह ढंग सचमुच बड़ा विचित्र है और यह उसी मनोवृत्तिका सूचक

है जिसका परिचय हमें पश्चिमके साम्राज्यवादी देशोंकी कार्य-प्रणालीसे समय-समय पर मिलता रहता है। इसमें सन्देह नहीं कि जापान यदि चाहे तो अब भी एशियाके राष्ट्रोंका पथ-प्रदर्शन कर सकता है और उनकी सहायताका वास्तविक प्रयत्न कर पुनः समस्त एशियाकी सहानुभूति एवं सदिच्छाओं-का पात्र बन सकता है। ऐसा करनेसे अन्य देशोंके साथ साथ उसके भी आर्थिक एवं सामाजिक हितकी वृद्धि होना अवश्यं-भावी है; किन्तु लक्षणोंसे प्रतीत होता है कि अब वह साम्रा-ज्यवाद एवं कूटनीतिके पथमें बहुत आगे बढ़ गया है, जहाँसे लौटना उसके लिए असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। अतः निकट भविष्य में उसकी मनोवृत्तिमें कोई विशेष परिवर्त्तन होगा, ऐसी आशा करना व्यर्थ है।

बारहवाँ अध्याय

संयुक्तराज्य अमेरिकाकी नीति

अभीतक साम्राज्यवादके प्रसारका जो वृत्तान्त हम लिख चुके हैं, उसमें अमेरिकाका प्रायः कोई उल्लेख नहीं हुआ है। इसका कारण यह है कि जब यूरोपीय राष्ट्र आफ्रिका तथा एशियामें अपने अपने लिए नये देश प्राप्त करनेके प्रयत्नमें व्यस्त थे, तब अमेरिकाका ध्यान अपनी आन्तरिक स्थितिको सुधारनेकी ओर ही लगा हुआ था। उन्नीसवीं शताब्दीमें यूरोपीय देशोंसे जो लोग बाहर गये, उनकी सबसे बड़ी संख्याने अमेरिकामें ही जाकर अपना घर-द्वार बसाया। उस

समय वे लोग नयी ज़मीनमें खेती कर अन्न तथा रुई आदि कच्चा माल पैदा करने और उसे अपनी अपनी मातृभूमिको भेजनेमें लगे रहते थे।

सन् १८५० से १९०० तक अमेरिकावालोंने बड़ी मेहनत और बड़े धैर्यके साथ वहाँकी भूमि तथा प्राकृतिक साधनोंकी उन्नतिका प्रयत्न किया। इन पचास वर्षोंके भीतर वहाँकी आबादी २ करोड़ ३० लाखसे बढ़कर ७ करोड़ ६० लाख अर्थात् लगभग तिगुनी हो गयी। ज़मीनकी कोई कमी तो थी नहीं, इसलिए कृषिकी उत्पत्ति भी बराबर बढ़ती गयी। उस समय अमेरिकामें कारखानोंकी स्थापना नहीं हुई थी, अतः उसे तैयार मालको खपानेके लिए विदेशी बाज़ारोंकी आवश्यकता न थी और न बाहरसे कच्चा माल मँगाना ही उसके लिए ज़रूरी था। उस समय केवल कृषिजन्य पदार्थ ही वह अन्य देशोंको भेजता था और बाहरसे सिर्फ मजदूर बुलानेकी ही ज़रूरत उसे थी। विभिन्न देशोंके मजदूरोंके आनेसे अनेक सामाजिक समस्याएँ उसके सामने उपस्थित हो गयीं। हब्शियोंकी गुलामी तथा काले-गोरेके प्रश्नके अतिरिक्त एक बड़ी समस्या यह भी थी कि भिन्न भिन्न देशोंसे आये हुए गौरांग जातिके लोगोंको एकताके सूत्रमें बाँधकर किस तरह एक राष्ट्रकी स्थापना की जाय। इन सब उलझनोंमें फँसे रहने के कारण उस समय अमेरिकाके लिए साम्राज्य स्थापित करनेकी ओर ध्यान देना सम्भव न था।

बीसवीं शताब्दीका प्रारम्भ होते होते परिस्थिति शीघ्रतापूर्वक बदलने लगी। सन् १९०० से १९१० तक वहाँकी आबादी २१ प्रति शत बढ़ गयी, किन्तु कृषिगत भूमिमें केवल

४.८ प्रति शतकी ही वृद्धि हुई। अब देशकी औद्योगिक उन्नतिकी ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। आबादी बहुत बढ़ जानेके कारण कारखानों द्वारा प्रस्तुत की गयी वस्तुओंके लिए स्वदेशमें ही विस्तृत बाज़ार प्राप्त हो गया। नतीजा यह हुआ कि उद्योग-व्यवसायोंकी उन्नति बड़ी शीघ्रताके साथ होने लगी। शहरोंकी आबादी तथा उनका विस्तार बढ़ने लगा। इसके साथ साथ विदेशी वाणिज्यमें भी पर्याप्त वृद्धि होने लगी। अब अमेरिकाकी शान्तिमय नीति भी बदल गयी और वह धीरे धीरे साम्राज्यवादकी ओर क़दम बढ़ाने लगा।

यद्यपि संयुक्तराज्य अमेरिकाने स्पष्ट रूपसे साम्राज्यवादकी नीति बहुत देरके बाद ग्रहण की, फिर भी जबतक वह इसकी तैयारी कर रहा था, तबतक इस सम्बन्धमें बिलकुल उदासीन भी नहीं रहा। उन्नीसवीं शताब्दीके द्वितीय दशाब्दमें जब स्पेनके अमेरिकन उपनिवेशोंने विद्रोह कर दिया, तब फ्रांस तथा स्पेनको उनपर पुनः प्रभुत्त्व स्थापित करनेके लिए चिन्तित देखकर अमेरिका चौकन्ना हो गया। ब्रिटेनके रुखसे प्रोत्साहित होकर वहाँके राष्ट्रपति मनरोने २१ दिसम्बर १८८३ को यह घोषणा की कि यदि यूरोपीय राष्ट्र पश्चिमी गोलार्द्धके किसी भागमें छेड़छाड़ करनेकी चेष्टा करेंगे, तो अमेरिका इसे अपनी शान्ति और सुरक्षाके लिए खतरनाक समझेगा। "यूरोपीय देशोंके वर्त्तमान उपनिवेशों अथवा उनके अधीन भू-भागोंके साथ हमने कोई हस्तक्षेप नहीं किया है और न भविष्यमें करेंगे। किन्तु जिन देशोंने स्वतन्त्रताकी घोषणा कर दी है और जो अभीतक उसकी रक्षा करनेमें समर्थ हुए हैं तथा हमने भी बहुत सोच-विचारके पश्चात् जिनकी स्वतंत्रता स्वीकार

कर ली है, उनके साथ किसी तरहकी छेड़छाड़को हम संयुक्त-राज्य अमेरिकाके प्रति अमित्रतापूर्ण व्यवहारकी ही सूचक समझ सकते हैं।" इसी तरह अलास्काकी ओरसे रूसको आगे बढ़नेका प्रयत्न करते देखकर उन्होंने कहा था कि "अब यूरोपके किसी भी देशको अमेरिकाके महाद्वीपोंमें नये उपनिवेश बसानेका विचार न करना चाहिये।"

अमेरिकाकी उपर्युक्त नीति "मनरो डाक्ट्रिन" (मनरो नीति) के नामसे प्रसिद्ध है। इसकी दो मुख्य बातें ये थीं—एक तो यह कि दक्षिण या मध्य अमेरिकामें कोई भी यूरोपीय देश उपनिवेश न बसा सकेगा; दूसरी यह कि अमेरिका स्वयं मौजूदा उपनिवेशोंमें हस्तक्षेप न करेगा। यद्यपि अमेरिकाकी इच्छा 'मनरो डाक्ट्रिन' का दृढ़तापूर्वक पालन करानेकी थी, फिर भी यह स्पष्ट है कि इसमें काफी ढिलाई की गयी। सन् १८९८ में स्वयं अमेरिकाने ही स्पेनके हाथसे क्यूबा तथा पोर्टोरिको छीनकर उसकी अवहेलना की। उसी प्रकार जब ग्रेट ब्रिटेनके संरक्षणमें यूरूग्वेका प्रजातंत्र स्थापित हुआ और जब फाकलैण्ड द्वीपपुंजको ब्रिटेनने अपने क़ब्ज़ेमें ले लिया एवं वीराक्रज़पर फ्रांसीसी युद्ध-पोतने गोले बरसाये, तब अमेरिकाने उन्हें रोकनेकी चेष्टा नहीं की। दो एक बार और भी फ्रांस, स्पेन आदि द्वारा 'मनरो डाक्ट्रिन' का उल्लंघन किया गया। जो हो, इतना होते हुए भी यह मानना पड़ता है कि अमेरिकाकी इस नीतिके कारण ही यूरोपीय राष्ट्र मध्य तथा दक्षिण अमेरिकामें अपने पाँव जमानेका साहस न कर सके।

उन्नीसवीं शताब्दीमें दक्षिण अमेरिकाके अधिकतर देशों तथा मध्य अमेरिकाकी स्थिति ऐसी थी कि यदि अमेरिकाने

'मनरो' नीतिका सहारा न लिया होता, तो वहाँपर किसी न किसी साम्राज्यवादी राष्ट्रका प्रभुत्व अवश्य ही स्थापित हो जाता। मध्य अमेरिकाके देशोंमें सुदृढ़ शासनका अभाव था और सैनिक संघटनकी दृष्टिसे भी वे बहुत कमज़ोर थे। इसके सिवाय वहाँके प्राकृतिक साधनोंसे भी पर्याप्त लाभ उठानेका अभीतक कोई प्रयत्न नहीं किया गया था। वहाँके तथा बोलीविया, पेरू, ईक्वेडोर, पनामा, ब्रेजिल आदि दक्षिण अमेरिकाके देशोंमें अधिकतर काले चमड़ेवाले रेड इण्डियन तथा हब्शी लोग ही रहते थे। ऐसी अवस्थामें यदि अमेरिकाने उपर्युक्त भाव धारण न किया होता, तो यूरोपीय राष्ट्र कदापि चूकने वाले न थे। आफ्रिकाकी तरह मध्य अमेरिका तथा दक्षिण अमेरिकाके देशोंको भी वे लोग आपसमें बाँट लेनेका प्रयत्न अवश्य करते।

'मनरो डाक्ट्रिन' में अमेरिकाको जो सफलता मिली, उसका एक बड़ा कारण यूरोपीय राष्ट्रोंका पारस्परिक मतभेद है। यदि यूरोपके समस्त राष्ट्र इस नीतिकी उपेक्षा करनेका निश्चय कर लेते, तो अमेरिकामें इतनी शक्ति न थी कि वह उन्हें स्वेच्छानुसार कारवाई करनेसे रोकनेमें समर्थ होता। फ्रांसकी शक्ति-वृद्धिसे ब्रिटेन हमेशा सशंक रहता था। फ्रांसको अमेरिकामें प्रभुत्व स्थापित करते देखकर वह चुप नहीं रह सकता था। उसी प्रकार यदि 'मनरो डाक्ट्रिन' की अवहेलना कर ब्रिटेन वहाँके पिछड़े हुए देशोंके साथ छेड़छाड़ करनेकी कोशिश करता, तो फ्रांस, जर्मनी आदि राष्ट्र उसका विरोध करते। यही कारण है कि मध्य तथा दक्षिण अमेरिकाके देश यूरोपके साम्राज्यवादी राष्ट्रोंके पञ्जेमें फँसनेसे बच गये।

ब्रिटेनकी सहानुभूति संयुक्त राज्य अमेरिकाके साथ थी, अतः इन दोनों देशोंकी नीतिके कारण बाहरके किसी भी देश-की हिम्मत मध्य अमेरिकामें अपनी सत्ता स्थापित करनेकी नहीं हुई, किन्तु यदि अमेरिका स्वयं वहाँ अपना प्रभाव बढ़ाने-की चेष्टा करता तो उसे कौन रोक सकता था? सन् १८४८ में लड़ाईके बाद उसने मेक्सिकोका कुछ भाग अपने क़ब्ज़ेमें कर लिया। और भी कुछ स्थान प्राप्त कर लेनेके बाद सन् १८६७ में उसने अलास्काको खरीद लिया। इसके बाद क्यूबा, हेटी आदि अन्य स्थानोंमें भी अमेरिकाने अपना प्रभाव स्थापित करनेकी चेष्टा की। अमेरिकाकी इस प्रवृत्तिके कई कारण थे, राजनीतिक भी तथा आर्थिक भी, किन्तु उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तिम दशा-ब्दका आरंभ होनेतक हम उसे साम्राज्यवादकी प्रवृत्ति नहीं कह सकते, क्योंकि उस समयतक अमेरिकाके लिए अपने कारखानों द्वारा तैयार की गयी वस्तुओंको खपानेके निमित्त नये नये बाज़ार प्राप्त करने अथवा बेकार पूँजीको बाहर भेजनेकी आवश्यकता नहीं पड़ी थी। हाँ, इसके बाद अवश्य उसने उन तरीकोंसे काम लेना शुरू किया, जिनका प्रयोग यूरोपके साम्रा-ज्यवादी राष्ट्र पहलेसे ही करते आ रहे थे। अब 'मनरो डाक्ट्रिन' का जो अर्थ लगाया जाने लगा, उसमें और प्रभाव-क्षेत्र स्था-पित करनेकी नीतिमें कोई अन्तर नहीं रह गया।*

---

* सन् १८९५ में दक्षिण अमेरिकाके वेनीजूला राज्यसे जब ब्रिटिश गाइनाकी सीमाके सम्बन्धमें ब्रिटेनका झगड़ा चला, तब अमेरिकाके परराष्ट्र मंत्रीने ब्रिटेनको साफ साफ लिख दिया कि "समस्त अमेरिकन महाद्वीपपर आज संयुक्त राज्य अमेरिकाका ही पूर्ण प्रभुत्व स्थापित है और वह जिस राज्यसे कहे उसे उसका आदेश क़ानूनकी ही तरह मानना होगा।"

साम्राज्यवाद कैसे फैला ?

अन्य पूँजीवादी राष्ट्रोंकी तरह अमेरिकाको भी साम्राज्य-वादकी ओर प्रवृत्त करनेवाला एक बड़ा कारण उसकी औद्योगिक उन्नति ही थी। ज्यों ज्यों वहाँके उद्योग-व्यवसायोंकी उन्नति होती गयी, त्यों त्यों वहाँका निर्यात व्यापार भी बढ़ने लगा। सन् १८९३ में वहाँसे १५ करोड़ ८० लाख डालरका माल बाहर गया। छ वर्ष बाद ३२ करोड़ ९० लाख डालरका और सन् १९०० में कोई ४४ करोड़ डालरका गया अर्थात् सात वर्षके भीतर वह लगभग तिगुना हो गया। अब यूरोपीय बाज़ारोंमें भी उसकी चीजें पहुँचने लगीं और वहाँके राष्ट्र-नायक तथा अर्थनीतिज्ञ वाणिज्य-क्षेत्रमें इस नये प्रतिद्वन्द्वी-को प्रवेश करते देखकर विशेष रूपसे चिन्तित हो गये। वाणिज्य-व्यापारकी उन्नतिका एक परिणाम यह हुआ कि अमेरिका-की राष्ट्रीय आय बहुत बढ़ गयी। वहाँके पूँजीपति अपनी बेकार पूँजी मध्य अमेरिकाके देशों तथा कैरीबियन समुद्रके द्वीपोंमें लगाने लगे। नीचे हम देखेंगे कि बादमें इसी पूँजीकी रक्षाके बहाने अमेरिकाको उक्त देशोंकी आन्तरिक व्यवस्थामें हस्तक्षेप करनेका मौक़ा मिला और वह साधारणतया तबतक शान्त नहीं हुआ, जबतक उन देशोंपर उसका आर्थिक तथा किसी सीमातक राजनीतिक नियंत्रण भी स्थापित न हो गया।

सन् १८९८ में स्पेनके साथ अमेरिकाका जो युद्ध हुआ था, उसके बाद अमेरिकन साम्राज्यवादकी नीति बिलकुल स्पष्ट हो गयी। इस समय अमेरिका महाद्वीपका जो अंश स्पेनके अधिकारमें बाक़ी बच गया था, उसमें क्यूबा द्वीप विशेष महत्त्वपूर्ण था। सन् १८५० के बादसे ही संयुक्त राज्य

अमेरिकाकी पूँजी वहाँके चीनीके कारखानों, रेलों, लोहेकी खानों, तम्बाकूकी खेती आदिमें लगायी जाने लगी थी। सन् १८९३ तक इस पूँजीकी तादाद लगभग पाँच करोड़ डालरतक (डालर = करीब ३ रुपये) पहुँच चुकी थी। सन् १८९४ में वहाँ स्पेनके विरुद्ध बलवा हो गया। इसके प्रवर्त्तक वे क्यूबा-निवासी थे जो अभीतक संयुक्त राज्य अमेरिकामें रहते आ रहे थे। विद्रोहके कारण ऊखकी खेतीको बड़ी क्षति पहुँची। सन् १८९६ में ऊखकी उत्पत्ति पहलेकी अपेक्षा लगभग तीन चौथाई कम हो गयी, जिसके कारण कोई ६॥ करोड़ डालरका नुक्सान हुआ। चीनी तैयार करनेके बहुतसे अमेरिकन कारखाने बन्द हो गये, अतः वहाँके व्यापारी क्यूबामें शान्ति और व्यवस्थाकी स्थापनाके लिए उत्सुक हो उठे।

इस आर्थिक विपत्तिके अतिरिक्त स्पेनसे युद्ध छेड़नेके और भी कई कारण थे। मेक्सिकोकी खाड़ीमें जाने आनेके मार्गमें पड़नेके कारण अमेरिकाके लिए, सामरिक दृष्टिसे, क्यूबाका विशेष महत्त्व था। इसके अतिरिक्त वह 'मनुष्यताके नाम पर' भी उसके मामलेमें हस्तक्षेप करना चाहता था, क्योंकि विद्रोहियोंका दमन करनेमें स्पेनिश अधिकारी बड़ी सख्तीसे काम ले रहे थे और बहुत ही निष्ठुरतापूर्ण व्यवहार कर रहे थे। इन अत्याचारों तथा अन्य बातोंके सम्बन्धमें अमेरिकन सरकारने शीघ्र ही स्पेनसे शिकायत की। इसी समय अमेरिकाका एक युद्धपोत हवाना बन्दरके पास बारूदसे नष्ट कर दिया गया। यद्यपि इस बातका निश्चित रूपसे पता नहीं लगाया जा सका कि इस कारवाईमें स्पेनवालोंका हाथ था या विद्रोहियोंका अथवा जहाज परकी ही किसी विस्फोटक

वस्तुके अपने आप भड़क उठनेके कारण उक्त दुर्घटना हुई थी, फिर भी बहुतसे अमेरिकनोंका यह विश्वास हो गया कि स्पेन-ही उसके लिए दोषी है। निदान अप्रैल १८९८ में स्पेनसे लड़ाई ठन गयी, जो लगभग आठ महीनोंके बाद १० दिसम्बरको समाप्त हुई।

सन्धिकी शर्तोंके अनुसार क्यूबाको स्पेनकी अधीनतासे तो छुटकारा मिल गया, किन्तु वह पूर्ण रूपसे स्वाधीन न हो सका। सन् १९०२ में अमेरिकाने कुछ शर्तोंके साथ क्यूबाकी "स्वतन्त्रता" स्वीकार कर ली। उन शर्तोंमें से कुछ ये थीं—क्यूबा किसी विदेशी राष्ट्रसे ऐसी सन्धि न कर सकेगा, जिससे उसकी स्वतंत्रताके लिए खतरा पैदा हो जानेकी सम्भावना हो; क्यूबामें शान्ति बनाये रखने अथवा उसकी स्वतंत्रता-की रक्षाके लिए हस्तक्षेप करनेका अधिकार अमेरिकाको होगा; क्यूबाको यह मंजूर करना होगा कि वह अपने कुछ बन्दरगाहों-में अमेरिकन जहाज़ोंको कोयला लेने तथा अन्य आवश्यकता-वश ठहरने देगा। इसी तरह व्यापारिक सुविधाओंके सम्बन्ध-में भी क्यूबाको कुछ शर्तें स्वीकार करनी पड़ीं।

उपर्युक्त सन्धिका सहारा लेकर संयुक्तराज्य अमेरिकाने "शान्ति और व्यवस्था" की रक्षाके निमित्त कमसे कम चार बार अपनी सेना क्यूबा भेजी।* परिणाम यह हुआ है कि

* इस समय (अगस्त १९३३ में) क्यूबामें जो अशान्ति फैली हुई है, उसके कारण पुनः ऐसा प्रतीत हो रहा है कि अमेरिकाको शीघ्र ही प्रत्यक्ष रूपसे हस्तक्षेप करना पड़ेगा। १० अगस्तके एक तारसे विदित होता है कि राष्ट्रपति रूजवेल्ट इस समय बड़े असमंजसमें पड़े हुए हैं। यदि विदेशियोंके जान-मालकी रक्षाके लिए वे वहाँ अमेरिकन सेना भेजते

वहाँके राष्ट्रपतिको समय समयपर अमेरिकाका लिहाज करना पड़ा है। इसी तरह वहाँके वाणिज्यक्षेत्रमें भी गत बीस-बाईस वर्षोंके भीतर अमेरिकाने अपना काफी प्रभाव जमा लिया है। वहाँके चीनीके कारखाने, जो राष्ट्रीय आयके साधन हैं, अमेरिकनोंके ही हाथमें हैं। संयुक्तराज्य अमेरिकाने वहाँकी सरकारको जो ऋण दिया है, उसके कारण भी उसे क्यूबापर अपना दबदबा स्थापित करनेमें मदद मिली है।

स्पेन और अमेरिकाके युद्धका एक परिणाम यह भी हुआ कि प्रशान्त सागरमें स्थित फिलिपाइन द्वीपपुंजपर भी अमेरिकाका अधिकार हो गया। युद्धके शुरूमें ही यह खबर पाकर कि जर्मन तथा ब्रिटिश जहाज फिलिपाइनमें पहुँच चुके हैं, संयुक्तराज्य अमेरिकाने अपने कई जहाज वहाँ भेज दिये। स्पेनिश शासनकी बुराइयोंके कारण वहाँ जो बलवा हो गया था, उससे लाभ उठाकर अमेरिकन सैनिकोंने स्पेनकी सेनाको अनायास ही परास्त कर दिया। सन्धिकी शर्त्तोंके अनुसार इस द्वीपपुंजको स्पेनने केवल दो करोड़ डालरके बदले अमेरिकाके हाथ सौंप दिया। यद्यपि अमेरिकाने शुरूमें ही यह घोषणा कर दी थी कि फिलिपिनो लोगोंको शीघ्र ही आज़ादी दे दी जायगी, किन्तु बादमें पूरबकी स्थिति देखकर और वहाँके प्राकृतिक साधनोंसे लाभ उठानेका इरादा कर अमेरिकाने उसे अपने ही अधिकारमें रखनेका निश्चय किया। यह देखकर

हैं तो मध्य अमेरिकाके देश इसे संयुक्त राज्य अमेरिकाका साम्राज्यवाद कह कर ज़ोरोंसे इसका प्रतिवाद करेंगे और यदि वे हस्तक्षेप नहीं करते तो अन्य राष्ट्र अपने नागरिकोंकी रक्षाका प्रश्न अपने हाथमें ले लेंगे, जिससे सुविख्यात 'मनरो नीति' की अवहेलना होगी।

फिलिपिनो लोगोंका असन्तोष बढ़ गया और उन्होंने ज़ोरोंसे विद्रोह कर दिया। इसका दमन करनेमें अमेरिकाको लगभग तीन वर्ष लग गये और इसमें उतने ही अमेरिकनोंको अपने प्राण न्यौछावर करने पड़े, जितने स्पेनके साथ किये गये युद्धमें मारे गये थे।

सन् १८९९ से १९०२ तक वहाँ सैनिक-शासन क़ायम रहा। इसके बाद विलियम टैफ्ट वहाँके गवर्नर-जनरल बनाये गये। उन्होंने बड़ी सहानुभूतिके साथ शासन किया। सन् १९०७ में वहाँ व्यवस्थापक सभाकी स्थापना हुई। इसके दो अंग थे। उच्च सभामें अमेरिकन कर्मचारी ही थे और निम्न सभामें विशेष रूपसे धनिकोंके प्रतिनिधियोंको स्थान दिया गया था। छः वर्ष बाद व्यवस्थापक सभाओंके संघटनमें पुनः सुधार हुआ, जिसके अनुसार फिलिपिनो लोगोंके प्रतिनिधियोंको बहुमत प्राप्त हो गया। सन् १९१६ में अमेरिकाकी कांग्रेसने "जोन्स-ऐक्ट" नामक विधान स्वीकृत किया, जिसके अनुसार फिलिपाइन द्वीप-समूहको उपनिवेशका पद दे दिया गया और यह विश्वास दिलाया गया कि उसे शीघ्र ही पूर्ण स्वतंत्रता भी दे दी जायगी, किन्तु अमेरिकन कांग्रेसमें रिपब्लिकन दलका ज़ोर बढ़ते ही पाँसा पलट गया। राष्ट्रपति हार्डिङ्गने सन् १९२१ में वहाँकी अवस्थाकी जाँच करनेके लिए एक कमीशन नियुक्त किया। कमीशनने फिलिपिनो लोगोंकी उन्नतिकी बात मानते हुए भी यह मत प्रकट किया कि इन लोगोंमें आर्थिक संघटन नहीं है और न ये राष्ट्रकी रक्षाकी दृष्टिसे स्वतंत्रता बनाये रखनेमें समर्थ हैं।" परिणाम यह हुआ कि गवर्नर-जनरलके अधिकारोंमें वृद्धि कर दी गयी और स्वतंत्रता प्रदान करनेका

विचार स्थगित कर दिया गया। फिलिपाइनकी व्यवस्थापक सभा आत्म-शासनकी माँगपर बराबर ज़ोर देती रही, किन्तु अमेरिकापर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

यद्यपि फिलिपाइनवालोंको अपने देशके आन्तरिक शासन में धीरे धीरे काफी अधिकार मिल गये, फिर भी वे इतनेसे सन्तुष्ट न हुए। वे पूर्ण स्वतंत्रताके लिए आन्दोलन करते रहे। निदान गत वर्ष अमेरिकाकी कांग्रेसने फिलिपाइन द्वीपकी स्वतंत्रताके सम्बन्धमें एक बिल स्वीकृत किया। यद्यपि राष्ट्रपति हूवरने पूर्व खण्डकी नाजुक हालतका हवाला देकर इस बिलपर हस्ताक्षर करनेसे इनकार कर दिया था, फिर भी अमेरिकाकी प्रतिनिधि-सभा तथा सिनेट द्वारा पुनः दो तिहाई मतसे स्वीकृत हो जानेके कारण इस बिलको अब क़ानूनका स्वरूप प्राप्त हो गया है और यदि वहाँके साम्राज्यवादियोंने पुनः कोई भारी विघ्न उपस्थित न किया तो अगले दस वर्षोंमें फिलिपाइन द्वीप-पुंजकी स्वतंत्रता बहुत कुछ निश्चित है।

यह एक मानी हुई बात है कि साम्राज्यवादकी प्रेरणाका एक मुख्य कारण आर्थिक लाभकी आशा है। जबसे फिलिपाइन द्वीपपुंजपर अमेरिकाका अधिकार हुआ है, तबसे वहाँ अमेरिकन वस्तुओंकी खपत बराबर बढ़ती गयी है। सन् १८९३ में फिलिपाइनने जो वस्तुएँ बाहरसे मँगायी थीं, उनमेंसे केवल ६ प्रति शत अमेरिकाकी थीं, किन्तु सन् १९०८ में अमेरिकन वस्तुओंका भाग १७ प्रति शत और १९२५ में ५५ प्रति शत हो गया। यही कारण है कि अमेरिका उसे अपने अधिकारसे निकलने नहीं देना चाहता था, किन्तु अब परिस्थिति बदल गयी है। कृषि और व्यवसायमें पर्याप्त उन्नति कर लेनेके कारण

फिलिपाइन द्वीपकी बहुत-सी चीजें—चीनी, तम्बाकू आदि—अमेरिकामें पर्याप्त संख्यामें आने लगी हैं। मजदूरी सस्ती होने तथा अन्य कारणोंसे वे अपेक्षाकृत सस्ती पड़ती हैं, अतः उनकी प्रतियोगितामें अमेरिकन वस्तुओंके लिए ठहरना कठिन हो रहा है। अमेरिकाके ही अधीन होनेके कारण वहाँकी चीज़ोंपर अन्य देशोंकी तरह आयात-कर नहीं लगाया जा सकता, अतः इस संकटसे बचनेका सीधा उपाय यही है कि उसे स्वतन्त्रता दे दी जाय। सम्भव है, दस वर्षके भीतर परिस्थिति पुनः बदल जाय और अमेरिकाके साम्राज्यवादी फिर कोई नया अड़ंगा लगाने लगें। जो हो, अन्य साम्राज्यवादी राष्ट्रोंको देखते हुए अमेरिकाने जो कुछ किया है, वही बहुत है और पराधीन जातियोंकी दृष्टिसे उसकी यह आंशिक उदारता भी प्रशंसनीय है।

स्पेनके साथ युद्ध समाप्त होने पर पोर्टोरिको नामक छोटेसे द्वीपपर भी अमेरिकाने क़ब्ज़ा कर लिया। कुछ दिनोंके सैनिक-शासनके बाद वहाँ वैध शासनकी स्थापना हुई, किन्तु प्रतिनिधि सभाके रहते हुए भी वास्तविक अधिकार गवर्नर जनरलके हाथमें रखे गये। सन् १९१७ में वहाँवालोंको अमेरिकन नागरिकताके अधिकार दे दिये गये, फिर भी वास्तविक "स्वराज्य" न मिलनेके कारण वे लोग सन्तुष्ट न हुए। अमेरिकाने उनकी शिक्षा, स्वास्थ्य-रक्षा आदिका अच्छा प्रबन्ध किया और वहाँके वाणिज्यसे खुद भी खूब लाभ उठाया। सन् १९०० में इस द्वीपने ७० प्रति शत वस्तुएँ अमेरिकासे मँगायी थीं, किन्तु १९२४ में ९० प्रति शत वस्तुएँ मँगायीं।

क़रीब क़रीब उसी समय जब कि स्पेनके साथ अमेरिकाका

युद्ध हुआ, हवाई द्वीपपर भी अमेरिकाका प्रभुत्व स्थापित हो गया। उन्नीसवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें अमेरिका तथा यूरोपके पूँजीपतियोंने वहाँके चीनीके व्यवसायमें काफी पूँजी लगा दी। सन् १८७५ की सन्धिके अनुसार संयुक्तराज्य अमेरिकाने क्यूबाकी तुलनामें हवाई द्वीपकी चीनीके साथ विशेष रियायत की और उसे विना आयात-करके अमेरिकामें आने देना स्वीकार किया, किन्तु जब १८९० में चीनीपर लगनेवाला टैक्स बिलकुल उठा लिया गया, तब हवाई द्वीपकी चीनीके लिए क्यूबाकी बनी चीनीके सामने ठहरना कठिन हो गया। नतीजा यह हुआ कि जो लोग इस द्वीपमें ऊखकी खेती तथा चीनी तैयार करानेके व्यवसायमें लगे हुए थे, उनका आर्थिक कष्ट बढ़ गया। इनमें अमेरिकनोंकी संख्या ज़्यादा थी अतः उन्होंने अमेरिकासे इस कष्टके समय सहायता करनेका अनुरोध किया। हवाईके अमेरिकन मंत्री जॉन स्टीवन्ज़ने सिफारिश की कि हवाई द्वीप-पर अमेरिका क़ब्ज़ा कर ले और वहाँकी चीनीको १२ डालर फी टनके हिसाबसे आर्थिक सहायता देना स्वीकार करे। उसने अपने पत्रमें यह भी लिखा कि नाविक केन्द्र तथा समुद्री तारों-का अड्डा बनानेके लिए अमेरिकाको हवाई द्वीपकी बड़ी आव-श्यकता है और यदि अमेरिकाकी ओरसे ज़रा भी गफलत हुई, तो सिंगापुर या हांगकांगकी तरह यह द्वीप भी ब्रिटेनकी अधी-नतामें चला जायगा।

अमेरिकाने स्टीवन्ज़की बात मान ली। शीघ्र ही उसके युद्ध-पोतोंने हवाई द्वीपको घेर लिया। वहाँका राजा पदच्युत कर दिया गया और १८९८ के जुलाई महीनेमें वह स्पष्ट रूपसे अमेरिकाकी अधीनतामें ले लिया गया। अमेरिकाने वहाँकी

व्यावसायिक उन्नति करनेका विशेष प्रयत्न किया है और ऊखकी खेतीमें चीनी तथा जापानी कुलियोंसे भी सहायता ली है। अमेरिकामें चीनीके व्यवसायियोंका जो संघ है, उसे हवाई द्वीपसे अच्छा लाभ हो रहा है।

अब कैरीबियन समुद्रके हेटी द्वीपको लीजिये। यह हेटी तथा सान डोमिनगो नामक दो प्रजातंत्र राज्योंमें बँटा हुआ था। सन् १८९३ में न्यूयार्ककी एक अमेरिकन कम्पनीने १ लाख ७० हजार पौण्डके बदले वे ऋणपत्र खरीद लिये, जिनका सम्बन्ध उस ऋणसे था जो सान डोमिनगोकी सरकारने एक डच कंपनीसे लिया था। कम्पनीने अपनी रक़मकी रक्षाके उद्देश्यसे वहाँके तटकरकी वसूलीका अधिकार अपने हाथमें ले लिया। जब १८९९ में डोमिनगोके राष्ट्रपतिने तटकर वसूल करनेके लिए अपना खास बोर्ड क़ायम किया, तब अमेरिकन कम्पनीने अपनी सरकारसे हस्तक्षेप करनेकी प्रार्थना की। अमेरिकाने दबाव डालकर डोमिनगोकी सरकारको इस बातके लिए राजी किया कि वह ४५ लाख डालर देकर कम्पनीका दावा पूरा कर दे। इसके साथ एक शर्त्त यह भी रखी गयी कि यदि उक्त रक़म यथासमय अदा न की गयी, तो अमेरिकाको अधिकार होगा कि वह तटकरकी आयका निरीक्षण करनेके लिए अपना आदमी नियुक्त करे। तीन चार वर्ष बाद डोमिनगोकी सरकारको आर्थिक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा, जिससे उसने पुनः अमेरिकाको अपने तटकर विभागका नियंत्रण करनेके लिए "आमंत्रित" किया। सन् १९०५ तथा १९०७ में जो समझौते हुए, उनके अनुसार अमेरिकाको तटकर वसूल करनेका अधिकार निश्चित रूपसे प्राप्त हो गया। इसके

अतिरिक्त सान डोमिनगोकी सरकारने यह भी मंजूर किया कि वह अमेरिकाकी पूर्व स्वीकृतिके विना कोई नया ऋण न लेगी।

धीरे धीरे राजनीतिक मामलोंमें भी अमेरिकाकी ओरसे हस्तक्षेप किया जाने लगा। सन् १९११ में किसीने वहाँके राष्ट्र-पतिपर गोली चला दी। अशान्ति फैलनेके लक्षण देखकर अमेरिकाके तत्कालीन राष्ट्रपति टैफ्टने वहाँकी परिस्थितिकी जाँच करनेके लिए एक कमिश्नरको भेजा। वह जब अमेरिकन जहाज़ी बेड़ेके साथ वहाँ पहुँचा, तो उसने डोमिनगोके अस्थायी राष्ट्रपतिसे पदत्याग कर देनेको कहा। इसी तरह सन् १९१३ तथा १९१६ में भी वहाँके मामलोंमें हस्तक्षेप किया गया। वहाँके राष्ट्रपतिको तुरन्त ही पद-त्याग कर देना पड़ा। अब जो नया राष्ट्रपति चुना गया, उसे अमेरिकाकी सरकारने तबतक माननेसे इनकार कर दिया, जबतक वह अमेरिकासे नयी सन्धि करनेको राज़ी न हो जाय। उसके न मानने पर तटकरका निरीक्षण करनेवाले अमेरिकन अफ्सरने डोमिनगो-की सरकारको उसका हिस्सा देनेसे इनकार कर दिया। इसके बाद अमेरिकन जहाजी बेड़ेके कप्तानने डोमिनगोमें फौज़ी शासनकी स्थापना कर दी और वहाँके निर्वाचित कर्मचारियोंको हटाकर अपनेको अधिनायक घोषित कर दिया। सन् १९२४ तक यही अवस्था रही। तब वहाँके नेताओंने अमेरिकाकी शर्त्तें मंजूर कर लीं और डोमिनगोकी आर्थिक व्यवस्थाके नियंत्रण-का अधिकार अमेरिका द्वारा नियुक्त कर्मचारियोंके हाथ सौंप दिया। इस रियायतके बदले अमेरिकाने भी वहाँसे अपनी सेना हटा लेना स्वीकार कर लिया।

हेटीके मामलेमे अमेरिकाने और भी अधिक सख़्तीसे काम लिया। सन् १९१४-१५ में उसने यहाँ भी आर्थिक नियंत्रण स्थापित करनेकी चेष्टा की, किन्तु हेटीकी सरकारने अमेरिकाका प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया। दिसम्बर १९१४ में अमेरिकाके कुछ जहाज़ हेटीकी राजधानीमें जा पहुँचे। शीघ्र ही वहाँके नेशनल बैंकपर धावा बोल दिया गया और वहाँसे पाँच लाख डालरका सोना छीन लिया गया। हर तरहसे दबाये जाने पर भी हेटी-सरकार अमेरिकाकी शर्त्तें माननेसे इनकार करती रही। जब जुलाई १९१५ में वहाँ राज्य-क्रान्ति हो गयी और वहाँके राष्ट्रपतिने दो सौ राजनीतिक कैदियोंको क़त्ल करा दिया, तब अमेरिकाको शान्ति स्थापित करनेके उद्देश्यसे वहाँ अपनी सेना भेजनेका बहाना मिल गया। इन सैनिकोंके पहरेमें ही नये राष्ट्रपतिका चुनाव हुआ। इसने अमेरिकाकी माँगें स्वीकार कर लेनेकी प्रतिज्ञा पहले ही कर दी थी, किन्तु चुनावके बाद जब वे माँगें उसके सामने रखी गयीं, तब उसे वे पहलेकी अपेक्षा इतनी अधिक कठोर मालूम हुईं कि उसने उन्हें स्वीकार करनेमें अपनी असमर्थता प्रकट की। यह देखकर अमेरिकाने पुनः बल-प्रयोगका निश्चय किया। अमेरिकन जहाजोंमें आये हुए सैनिकोंने तमाम चुंगी घरोंपर क़ब्ज़ा कर लिया और समुद्र-तटकी आमदनीका एक पैसा भी हेटीकी सरकारको देनेसे इनकार कर दिया। जब सान डोमिनगोकी तरह यहाँ भी सैनिक शासन स्थापित करनेकी धमकी दी गयी, तब हेटियन सरकारको लाचार होकर अमेरिकाकी अत्यन्त अपमानजनक शर्त्तें मंजूर करनी पड़ीं। परिणाम यह हुआ कि हेटीकी स्वतन्त्रता नाममात्रके लिए ही रह गयी और

वह कई बातोंमें स्पष्ट रूपसे अमेरिकाका संरक्षित राज्य बन गया।

सन् १९२४ में कांग्रेसकी ओरसे जो जाँच की गयी थी, उससे मालूम होता है कि जिस समय हेटी अमेरिकाके सैनिक नियंत्रणमें था, उस समय वहाँ कितना अत्याचार किया गया था। अंकोंसे स्पष्ट है कि उस समय कमसे कम तीन हजार हेटियन लोगोंकी हत्या की गयी थी। इनमेंसे अधिकतर व्यक्ति बड़ी ही निष्ठुरतापूर्वक मारे गये थे। इसका एक कारण यह था कि अमेरिकाके समुद्री सैनिक वहाँकी स्त्रियोंके साथ अत्यन्त अभद्रोचित व्यवहार किया करते थे। विरोध करने पर झगड़ा बढ़ जाता था और अमेरिकन सैनिक बिना किसी पशोपेशके विरोध करनेवालोंको मार डालते थे। इन हत्याओंके बदले प्रायः उन्हें कोई सजा नहीं दी जाती थी, क्योंकि "साम्राज्यवादी सैनिकोंकी दृष्टिमें काले आदमीकी जानका महत्त्व ही क्या हो सकता है!"*

इधर मध्य अमेरिकाके देशोंमें भी संयुक्त राज्य अमेरिका अपना प्रभाव फैला रहा था। सन् १८५० के बादसे ही मध्य अमेरिकाके आरपार एक नहर बनानेकी योजनापर विचार हो रहा था। यह नहर दो ही देशोंकी भूमि काटकर बनायी जा सकती थी—निकारागुआ या पनामा (कोलम्बिया)। दोनों ही स्वतन्त्र राज्य थे। १८५० में ब्रिटेनके साथ अमेरिकाकी जो सन्धि हुई थी, उसके अनुसार यह तय हुआ था कि नहर निकारागुआ होकर बनायी जायगी। इस अन्तर्राष्ट्रीय जल-मार्गके सम्बन्धमें तटस्थताका सिद्धान्त मान लिया गया था

* श्री मैलकम डगलस (माडर्न रिव्यू, सितम्बर १९३०)

और यह निश्चय हुआ था कि सन्धिपर हस्ताक्षर करनेवाले दोनों राष्ट्र (अमेरिका तथा ब्रिटेन) संसारके अन्य देशोंसे अनुरोध करेंगे कि वे इसकी तटस्थता बनाये रखनेमें उनके साथ सहयोग करें।

जब ब्रिटेन बोअर-युद्धमें फँसा हुआ था, तब (१९०१ में) मौक़ा अच्छा देखकर संयुक्त राज्य अमेरिकाने उसे पुरानी सन्धि रद्द कर नयी सन्धि स्वीकार करनेके लिए राजी किया। तटस्थताकी शर्त्त इसमें भी रखी गयी, किन्तु उसकी रक्षाकी जिम्मेदारी अमेरिकाने केवल अपने ही ऊपर ले ली। उसने यह प्रतिज्ञा की कि नहर संसारके सब देशोंके जहाजोंके लिए हमेशा खुली रहेगी, चाहे शान्तिका समय हो और चाहे युद्धका।

नहर बनानेके सम्बन्धमें बादमें यह निश्चय हुआ कि वह निकारागुआके बजाय पनामा होकर ही बनायी जाय, किन्तु पनामाका प्रान्त कोलम्बियाके प्रजातन्त्रके अन्तर्गत था। कोलम्बियाके मन्त्रीने जनवरी १९०३ में छः मील चौड़ा ज़मीनका टुकड़ा ९९ वर्षके पट्टेपर देना स्वीकार कर लिया था, किन्तु अक्टूबरमें वहाँकी सिनेटने उक्त समझौतेका समर्थन करनेसे इनकार कर दिया। तब अमेरिकाके तत्कालीन राष्ट्रपति रूजवेल्टने निश्चय किया कि कोलम्बियाकी स्वीकृति न मिलने पर भी नहर बनानेका काम शुरू कर दिया जाय। इस बीचमें विविध कूटनीतिक चालोंकी सहायतासे पनामामें विद्रोह खड़ा कर दिया गया। संयुक्त राज्य अमेरिकाने कोलम्बियासे पृथक् होनेका उसका अधिकार तुरन्त मान लिया और वहाँ अपनी जलसेना भेज दी। एक ही महीनेके भीतर वहाँ प्रजातन्त्रकी

स्थापना कर दी गयी। इसने एक करोड़ डालर नकद तथा कुछ वार्षिक किराया देने पर हमेशाके लिए दस मील चौड़ी ज़मीनका पट्टा अमेरिकाके नाम लिख दिया। इसपर अमेरिकाका अधिकार हो गया और यहाँपर किलेबन्दी करनेकी अनुमति भी उसे दे दी गयी।

पनामा नहरके बनवानेमें लगभग ३५ करोड़ डालर खर्च हुए। सन् १९२० में इसका उद्घाटन हुआ। संयुक्त राज्य अमेरिकाने शीघ्र ही वहाँपर क़िलेबन्दी कर ली और उसकी रक्षाके उद्देश्यसे पासके कुछ द्वीपोंपर भी धीरे धीरे क़ब्ज़ा कर लिया।

पनामाके ठीक उत्तरमें कोस्टारिका है। यहाँकी खानों, रेलों, बैंकों आदिका नियंत्रण विदेशियोंके हाथमें था। १९१५-१६ में अमेरिकनोंको तैल-क्षेत्रोंकी खोज करनेका अधिकार दिया गया। जब अगले वर्ष वहाँ क्रान्ति हुई और नयी सरकारने एक ब्रिटिश कम्पनीको तैल-सम्बन्धी सुविधा देनेका विचार किया, तब अमेरिकाने उसे स्वीकार नहीं किया। सन् १९१९ में अमेरिकाके प्रोत्साहनसे दूसरी क्रान्ति हुई। अब अमेरिकाने नयी सरकारकी सत्ता मान ली। इसने शीघ्र ही ब्रिटिश कम्पनीको दी गयी रियायत रद्द कर दी। इस प्रकार इसे भी अमेरिकाका प्रभाव मानना पड़ा।

निकारागुआके साथ भी इसी तरह छेड़छाड़ की गयी। वहाँका राष्ट्रपति ज़ेलेया अमेरिकन व्यापारियोंकी नीतिके विरुद्ध था। सन् १९०९ में ज़ेलेयाके ख़िलाफ वहाँ एक विद्रोह खड़ा हो गया। अडोल्फो डिआज़ नामक एक मनुष्यने, जो एक अमेरिकन कम्पनीका मुलाजिम था, कोई पाँच लाख डालरसे

विद्रोहियोंकी सहायता की । और भी कई अमेरिकन कम्पनियों से उन्हें मदद मिली, फिर भी सरकारी सेनाने उन्हें हरा दिया। बादमें संयुक्त राज्य अमेरिकाके समुद्री सैनिकोंकी सहायतासे उन्होंने विजय प्राप्त की । अब एस्ट्रैडा वहाँका राष्ट्रपति निर्वाचित हुआ । अमेरिकाने शीघ्र ही नयी सरकारको स्वीकार कर लिया । कुछ समयके बाद यह तय हुआ कि निकारागुआकी सरकार अमेरिकाके महाजनोंसे कर्ज़ लेगी और उसकी अदायगीकी सुव्यवस्थाके उद्देश्यसे तटकरकी आमदनीका नियंत्रण अमेरिकाको सौंप देगी । वहाँकी जनता इस निर्णयके ख़िलाफ थी, अतः एस्ट्रैडाको पद-त्याग कर देना पड़ा ।

अब अमेरिकाकी सहायतासे अडोल्फो डिआज़ वहाँका राष्ट्रपति बना । सन् १९११ में निकारागुआके सिरपर जबरन एक ऋण लाद दिया गया और उसके बदले तटकरकी आमदनी पर अमेरिकाका नियंत्रण स्थापित हो गया । निकारागुआने यह भी स्वीकार किया कि वहाँके नवसंघटित राष्ट्रीय बैंकमें ५१ प्रतिशत हिस्से अमेरिकन पूँजीपतियोंको दिये जायँगे । इसके बाद और भी ऋण लेनेके लिए उसपर दबाव डाला गया । शीघ्र ही डिआज़के विरुद्ध बलवा हो गया । अमेरिकाके आठ युद्ध-पोतों तथा २६७० सैनिकोंके आ जानेसे वह दबा दिया गया और डिआज पुनः चार वर्षके लिए राष्ट्रपति चुन लिया गया ।

सन् १९२७ में वहाँके "उदार दल" ने चमारो-डिआज़ दलके खिलाफ़ जो अमेरिकाके पैक्षमें था, विद्रोह कर दिया। अमेरिकाकी जलसेनाने पुनः हस्तक्षेप किया । इसी समय सैनडिनो नामक एक युवकने मेक्सिकोसे वापस आकर अमेरिकाके विरुद्ध एक दलका संघटन किया । केवल चार पाँच सौ अनुया-

यियोंको लेकर सैनडिनो कोई एक वर्षतक अमेरिकन सेनासे लड़ता रहा। उसने कई बार उसे परास्त किया। अंतमें सन् १९२८ के शुरूमें अमेरिकाके राष्ट्रपति कूलिजने कर्नल स्टिमसन को किसी तरह समझौतेका मार्ग ढूँढ़ निकालनेके इरादेसे भेजा। कुछ समयतक बातचीत करनेके बाद उदार दलवालों-ने सैनडिनोको समर्पित करनेके सिवाय अन्य शर्त्तोंपर लड़ाई बन्द करना स्वीकार किया। अब यह तय हुआ कि अमेरिकन सैनिकोंकी देखरेखमें नया निर्वाचन हो और उसमें जिस दलकी जीत हो, उसका शासन सब लोग स्वीकार करें। इस समझौ-तेके कारण सैनडिनोका आन्दोलन धीरे-धीरे शिथिल पड़ता गया। यद्यपि चुनावमें लिबरल दलकी जीत हुई, फिर भी स्वतन्त्रतावादियोंकी शक्ति क्षीण हो जानेके कारण अमेरिकन साम्राज्यवादके लिए पुनः रास्ता साफ हो गया।

इसी तरह सैलवेडोर तथा हाण्डुराजमें भी हस्तक्षेप करने तथा आर्थिक प्रभाव फैलानेका प्रयत्न किया गया। यही संयुक्त राज्य अमेरिकाकी आर्थिक कूटनीति है, जिसे अनेक लेखकोंने "डालर डिप्लोमैसी" का नाम दिया है। अमेरिकाके दोनों दल—डिमोक्रैट तथा रिपब्लिकन दल—इस नीतिके समर्थक हैं। इसके कारण दक्षिण अमेरिका भी संयुक्तराज्य अमेरिकाका "प्रभाव-क्षेत्र" बन गया है, जहाँ यूरोपीय राष्ट्रोंको पैर रखनेका अधिकार नहीं है और जहाँ उन्हें किसी तरहकी विशेष सुविधाएँ नहीं दी जा सकतीं।*

अब हम मेक्सिकोके साथ अमेरिकाके हस्तक्षेपका वर्णन कर यह अध्याय समाप्त करेंगे। मेक्सिकोमें ऐसी अनेक बातें विद्यमान थीं, जो साम्राज्यवादी देशोंको अपनी ओर खींचनेके

लिए काफी थीं। वहाँ सोने, चाँदी, ताम्बे और सीसेकी खानें तो थीं ही, साथ ही मिट्टीका तेल भी पर्याप्त मात्रामें निकाला जा सकता था। राष्ट्रपति डिआज़के शासनकालमें (१८७७ से १८८० तथा १८८४ से १९११ तक) वहाँकी खानोंका विकास करने तथा रेलकी सड़कें बनवानेमें ज़ोरोंसे विदेशी पूँजी लगायी गयी। सन् १९२४ तक वहाँ अकेले संयुक्त राज्य अमेरिकाकी ही कोई २५ करोड़ पौण्डकी पूँजी विभिन्न कामोंमें लगायी जा चुकी थी—६ करोड़ खानोंमें, १० करोड़ तैल कूपोंमें, ३.२ करोड़ रेलोंमें तथा शेष रक़म अन्य कामोंमें लगी हुई थी। अन्य देशोंने जो पूँजी लगायी थी, उसमेंसे १५ करोड़ ब्रिटेनकी तथा १० करोड़ और और देशोंकी थी।

जबतक मेक्सिकोमें आन्तरिक शान्ति क़ायम रही और विदेशी पूँजीपतियोंको मेक्सिकन श्रमिकोंकी गाढ़ी कमाईका एक बड़ा हिस्सा मुनाफे या व्याजके रूपमें मिलता रहा, तब तक तो कोई गड़बड़ी नहीं हुई, किन्तु १९१० के बाद गृह-कलहका आरंभ होने पर इसमें व्याघात पड़ते ही उसके साथ छेड़-छाड़ शुरू हो गयी। वहाँके किसानों और श्रमिकोंकी हालत बहुत गयी बीती थी। छोटे छोटे किसानोंकी ज़मीन छीन ली गयी थी और वे एक तरहसे कृषक-मजदूर मात्र रह गये थे। यह ज़मीन कुछ शर्त्तोंपर विदेशियोंको दे दी गयी थी। दरिद्रताके साथ साथ कृषकों तथा श्रमिकोंमें शिक्षाका भी अभाव था। अपनी असहाय अवस्थाके कारण मन ही मन वे अत्यन्त असन्तुष्ट हो रहे थे। इसीसे मौक़ा मिलते ही उन्होंने मेक्सिकोके विद्रोही सेनापतियोंका साथ देकर राज्य-क्रान्ति करानेका उद्योग किया।

वहाँका राष्ट्रपति डिआज़ बड़ा जबरदस्त आदमी था। वह अपनी लोक-प्रियताके कारण नहीं, प्रत्युत अपनी सेनाके बलपर आठ बार राष्ट्रपति चुना गया। जब जून १९१० के चुनावमें उसे अपने विरोधियोंकी शक्ति बढ़ती हुई सी मालूम हुई, तब उसने अपने प्रतिद्वन्द्वी फ्रैंसिस मदीरो तथा उसके अनेक अनुयायियोंको जेलमें डाल दिया और अपने आपको निर्वाचित करा लिया। कैदसे छूटते ही मदीरोने विद्रोहका संघटन किया। विरोधियोंकी संख्या एवं शक्तिमें वृद्धि होते देखकर डिआज़ पदत्याग कर यूरोप चला गया। अब मदीरो राष्ट्रपति चुना गया, किन्तु शीघ्र ही उसके विरुद्ध भी बलवे होने लगे। सन् १९१३ में सेनापति ह्यूरटा मदीरोके साथ विश्वासघात कर स्वयं राष्ट्रपति बन गया।

मेक्सिकोके गृह-युद्धका एक बड़ा कारण ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमेरिकाके उन पूँजीपतियोंकी प्रतिस्पर्द्धा थी, जिनका सम्बन्ध वहाँके मिट्टीके तेलके व्यवसायके साथ था। डिआज़ ब्रिटिश कम्पनीको तेल निकालनेकी सुविधाएँ देनेके पक्षमें था, किन्तु उसको परास्त करनेवाला मदीरो स्टैण्डर्ड आइल कम्पनी (अमेरिकन) का समर्थक था। इसके बाद जब ह्यूरटा राष्ट्रपति बना, तो उसने फिर ब्रिटिश कम्पनीका पक्ष लिया। राष्ट्रपति विल्सनने ह्यूरटाको मैक्सिकोका राष्ट्रपति माननेसे इनकार कर दिया, किन्तु साथ ही उन्होंने अमेरिकन साम्राज्यवादका भी स्पष्ट रूपसे समर्थन नहीं किया।

ह्यूरटाके पतनके बाद वैध आन्दोलनका समर्थक करंज़ा राष्ट्रपति बननेका प्रयत्न करने लगा। अन्य प्रतिद्वन्द्वियोंके रहते हुए भी सबसे अधिक शक्तिशाली समझ कर विलसनने उसे

राष्ट्रपति मान लिया। इसके बाद भी मेक्सिकोमें शान्ति न हुई। मार्च १९१६ में करंज़ाके प्रतिद्वन्द्वी पंचो विलाने सीमाका अतिक्रमण कर १७ अमेरिकनोंको मार डाला। अब विलसनको विवश होकर अपने नागरिकोंकी हत्याका बदला लेने और विलाको सजा देनेके लिए १२ हजार सैनिक भेजने पड़े। करंज़ाने अन्तर्राष्ट्रीय नीतिके प्रतिकूल कहकर इस कार्यका विरोध किया। ईस समय राष्ट्रपति विलसन यदि साम्राज्यवादियोंके कहनेमें आ गये होते तो युद्ध छिड़नेमें कोई देर न थी, किन्तु उन्होंने अमेरिकाके अन्य राष्ट्रोंकी मध्यस्थतासे झगड़ेका निपटारा करना स्वीकार कर लिया और सेना वापस बुला ली।

इस झगड़ेसे छुट्टी पाते ही करंज़ाकी सरकारने भूमि सम्बन्धी सुधार और विदेशियोंकी सुविधाएँ कम करनेके कार्यक्रममें हाथ लगाया। १९१९ में उसने पौने चार करोड़ एकड़ भूमिके सम्बन्धमें दी गयी रियायत रद्द कर दी। नये शासन-विधानकी २७ वीं धारामें यह स्पष्ट कर दिया गया कि खानें तथा तैल-कूप राष्ट्रीय सम्पत्ति हैं। उसने मिट्टीके तेलकी उत्पत्ति पर मूल्यानुसार १० प्रति शत कर बैठा दिया। इस पर अमेरिकन व्यवसायियोंमें बड़ा असन्तोष फैला। उन्होंने नव निर्वाचित राष्ट्रपति हार्डिंगको प्रभावित करना शुरू किया। नतीजा यह हुआ अमेरिकाकी सरकारने १९२० में मेक्सिकोके नये राष्ट्रपति ओब्रेगानको तभी स्वीकार किया, जब उसने यह मंजूर कर लिया कि राष्ट्रीय स्वत्व सम्बन्धी क़ानूनसे वे सब जायदादें बरी रहेंगी, जो १९१७ के पहले प्राप्त की गयी थीं। इसी समझौतेके आधारपर डोहेनी नामक तैलके सुप्रसिद्ध अमेरिकन

व्यवसायीने ओब्रेगानको ५० लाख डालरका ऋण उस विद्रोह-को दबानेके लिए दिया, जिसका अगुआ डीला हूरटा नामक एक व्यक्ति था और जिसे कदाचित् रायल डच शेल कंपनी नामक ब्रिटिश तैल कम्पनी द्वारा आर्थिक सहायता दी गयी थी। इसके बाद १९२४ में कालेस वहाँका राष्ट्रपति हुआ। उसने तैल तथा भूमि सम्बन्धी सुधारोंके कानूनोंको कार्यमें परिणत करनेकी चेष्टा की किन्तु अन्तमें उसे भी विदेशी पूँजीपतियोंसे मिलकर काम करनेके लिए बाध्य होना पड़ा।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उससे स्पष्ट है कि संयुक्त राज्य अमेरिकाकी नीति भी साम्राज्यवादका रूपान्तर ही है। अमेरिकाका ध्यान पिछड़े हुए देशोंपर अपना आर्थिक प्रभुत्व बढ़ानेकी ओर ज़्यादा रहा है, राजनीतिक प्रभुत्वकी ओर कम। मध्य अमेरिका तथा एशियाके देशोंमें ही नहीं, यूरोपके देशोंमें भी उसने करोड़ों रुपये लगा दिये हैं। सन् १९२५ तक उसकी कोई दो अरब पौण्डकी पूँजी विदेशोंमें लगी थी—४३ प्रति शत मध्य अमेरिकामें, २७ प्रति शत कनैडा तथा न्यूफाउण्डलैण्डमें, २२ प्रति शत यूरोपीय देशोंमें, शेष ९ प्रति शत एशिया तथा ओशीनियामें। इस समय तो इसकी तायदाद और भी ज़्यादा हो गयी है। संभव है, अमेरिकाको इस पूँजीकी रक्षा तथा अपना आर्थिक प्रभुत्व बढ़ानेके निमित्त आगे चलकर अधिक स्पष्ट रूपसे साम्राज्यवादकी नीतिका अनुसरण करना पड़े। यदि ऐसा हुआ तो इसमें आश्चर्यकी कोई बात न होगी, क्योंकि उसकी वर्त्तमान आर्थिक उन्नतिका अन्तिम परिणाम इसके सिवाय और हो ही क्या सकता है?

तेरहवाँ अध्याय

प्रशान्त सागरके द्वीप

संसारकी राजनीतिक घटनाओंके कारण इधर दस बीस वर्षोंसे प्रशान्त सागरका महत्त्व बहुत बढ़ गया है। विस्तारकी दृष्टिसे यह महासागर समस्त पृथ्वीके तृतीयांशसे भी अधिक बड़ा है। इसमें जो छोटे-बड़े द्वीप हज़ारोंकी संख्यामें इधर उधर फैले हुए हैं, उन्हें अपने क़ब्ज़ेमें लानेके लिए साम्राज्यवादी राष्ट्रोंमें प्रायः वैसी ही होड़ाहोड़ी हुई है, जैसी आफ्रिका तथा एशियाके भूभागोंपर प्रभुत्व स्थापित करनेमें हुई थी। इनमेंसे कुछ द्वीप काफ़ी बड़े हैं, उदाहरणार्थ न्यूगिनी द्वीप फ्रांस तथा इटलीके बराबर है। उसी तरह बोर्निओ जर्मनीके, सुमात्रा ब्रिटेनके और सेलीबीज़ आस्ट्रिया तथा हंगरीके बराबर है। अतः इनका व्यापारिक महत्त्व स्पष्ट ही है। इसके सिवाय सामरिक दृष्टिसे भी ये द्वीप बड़े कामके हैं। इस विचारसे बड़े द्वीपों की अपेक्षा छोटे द्वीप किसी तरह कम उपयोगी नहीं हैं। कुछ द्वीप तो इधर उधर छिटफुट फैले हुए हैं, किन्तु अधिकतर द्वीप प्रायः समूहोंके रूपमें ही हैं, जैसे हवाई द्वीप, मार्शल द्वीप, फिजी द्वीप, कैरोलाइन द्वीप आदि।

सोलहवीं शताब्दीमें थोड़ेसे पोर्तगीज़ नाविकोंने प्रशान्त सागरकी यात्रा कर कुछ द्वीपोंमें प्रवेश किया था। सत्रहवीं शताब्दीमें हालैण्डवाले भी सुमात्रा, बोर्निओ, जावा, सेलीबीज आदि द्वीपोंमें जा पहुँचे और वहाँ अपनी व्यापारिक कोठियाँ खोल लीं। इसके कोई सवा सौ वर्ष बाद अंग्रेज तथा

फ्रांसीसी भी इस ओर अग्रसर हुए। सन् १७९७ के बादसे ईसाई पादरियोंने प्रशान्त सागरके द्वीपोंमें धर्म-प्रचार करना शुरू किया। धर्म-प्रचारके साथ साथ ये लोग यहाँके सरदारों और मुखियोंको अपने अपने देशोंके अनुकूल बनानेकी चेष्टा करने लगे, किन्तु अनेक स्थानोंमें स्वार्थी व्यापारियों तथा उद्दण्ड नाविकोंके अत्याचारोंके कारण गोरी जातियोंके प्रति असन्तोषकी मात्रा बढ़ने लगी। परिणाम यह हुआ कि अपने नागरिकोंकी रक्षाके बहाने यूरोपीय राष्ट्रोंने उनके साथ छेड़-छाड़ करना शुरू किया। फिर भी शुरू शुरूमें उनकी मंशा विशेष रूपसे अपना साम्राज्य बढ़ानेकी न थी। इसीसे आस्ट्रे-लिया और न्यूजीलैण्डपर राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करनेकी ओर उस समय विशेष ध्यान नहीं दिया गया।

अठारहवीं सदीके अन्ततक आस्ट्रेलियाका केवल इतना ही महत्त्व था कि ब्रिटिश कैदियोंके लिए वह "काला पानी" का काम देता था। सन् १८०५ में जब वहाँ भेड़ पालकर ऊन तैयार किया जाने लगा और इसके बाद जब १८५० में सोनेकी खानोंका पता लगाया गया, तब उसकी ओर ब्रिटेनका ध्यान विशेष रूपसे आकृष्ट होने लगा। अंग्रेज लोग हजारोंकी संख्यामें जा जाकर वहाँ आबाद होने लगे। १८६० तक वहाँ उन्होंने अनेक उपनिवेश स्थापित कर लिये।

इधर उन्नीसवीं सदीके शुरूमें न्यूजीलैण्डमें गये हुए पादरियोंने वहाँके सरदारोंको सिखा पढ़ाकर ब्रिटिश संरक्षण स्वीकार करनेके लिए राज़ी कर लिया था, किन्तु ब्रिटिश सरकारने इस मामलेमें अपनी उदासीनता प्रकट की। वहाँ उपनिवेश बसानेके सम्बन्धमें गिबन वेकफील्डने जो योजना

बनायी थी, उसे भी उसने मंजूर नहीं किया। फिर भी वेक-फील्ड न माना। उपनिवेश स्थापित करनेकी इच्छा रखनेवाले अंग्रेजोंको एक जहाज़में बैठाकर जनवरी १८४० में वह न्यू-ज़ीलैण्ड जा पहुँचा। इसी समय यह खबर फैली कि फ्रांस वहाँ अपना उपनिवेश स्थापित करनेका इरादा कर रहा है। तब ब्रिटिश सरकारने शीघ्रतापूर्वक एक गवर्नर भेज दिया। उसने वहाँ पहुँचते ही विभिन्न सरदारोंसे सन्धियाँ कर लीं और उसे ब्रिटिश उपनिवेश बनानेका प्रयत्न शुरू कर दिया। फ्रांसीसी जहाज़ वहाँ मईमें पहुँचा किन्तु अंग्रेजोंको पहलेसे ही जमा हुआ देखकर उसे निराश होकर लौट जाना पड़ा।

अंग्रेज अधिवासियोंकी संख्या बढ़ जाने पर जब वहाँके मूल-निवासी माओरी लोगोंके साथ ज्यादती होने लगी, तब उन्होंने विद्रोह कर दिया। १८६० से १८७० तक दस वर्षकी लड़ाईके बाद वे लोग शान्त किये जा सके। यूरोपीय सभ्यता-को अपनाकर किसी तरह उन्होंने आत्मरक्षा की।

सन् १८७१ में सैण्टाक्रज द्वीपपुंजमें एक ब्रिटिश पादरीकी हत्या हो जाने पर ब्रिटिश सरकारका ध्यान उस ओरके द्वीपों-की तरफ गया। ग्लैडस्टनने देखा कि इस तरहकी हत्याओंका एक बड़ा कारण वह असन्तोष है जो जबरन काम करनेके लिए बाध्य किये जानेके कारण वहाँके मूल-निवासियोंमें उत्पन्न हो रहा था, अतः उसने इस प्रथाको क़ानून द्वारा रोकनेका प्रयत्न किया। इसके बाद, जैसा कि हम पृष्ठ १४६ पर लिख आये हैं, सन् १८७४ में ब्रिटेनने फीज़ी द्वीपपुञ्जपर क़ब्ज़ा कर लिया।

इधर आस्ट्रेलियाके उत्तरमें स्थित न्यूगिनी (या पापुआ) नामक द्वीपको अपना उपनिवेश बनानेका जर्मनोंका इरादा देख-

कर क्वीन्सलैण्डमें बसे हुए अंग्रेज घबरा गये और उन्होंने १८७५ में ही ब्रिटिश सरकारसे उसे अपने क़ब्ज़ेमें ले लेनेका अनुरोध किया। ब्रिटेनके उपनिवेश-विभागने ऐसा करना उचित नहीं समझा। निदान जर्मनीके मनसूबोंकी थाह पाकर सन् १८८३ में क्वीन्सलैण्डवालोंने उसपर अधिकार कर लेनेकी घोषणा कर ही दी। ब्रिटिश उपनिवेश-सचिव लार्ड डर्बीको यह बात पसन्द नहीं आयी, क्योंकि वहाँके "मूल-निवासियोंने गोरों द्वारा उक्त द्वीपके अधिकृत किये जानेकी कोई इच्छा प्रकट नहीं की थी;" किन्तु जर्मनीका रुख देखकर अगले ही वर्ष उन्हें अपनी नीति बदल देनी पड़ी। नवम्बर १८८४ में ब्रिटेनने दक्षिणी भागपर अपना प्रभुत्व जमा लिया। उधर उत्तर-पूर्वमें जर्मनी भी आ डँटा। तब १८८६ में यह तय हुआ कि उत्तर-पूर्वका हिस्सा जर्मनीके और दक्षिण-पूर्वका ब्रिटेनके अधिकारमें रहे। पश्चिमी भागमें दोनों राष्ट्रोंको हालैण्डकी सत्ता स्वीकार करनी पड़ी, क्योंकि हालैण्ड बहुत पहलेसे ही इस द्वीपपर अपने अधिकार-की बातपर ज़ोर देता आ रहा था।

न्यू गिनीके पश्चिममें बोर्नियो नामक द्वीप है। सन् १८८१ में कुछ ब्रिटिश व्यापारियोंने अपनी एक कम्पनी बनाकर बोर्नियो-में जाकर व्यापारका सिलसिला शुरू किया। उनकी इच्छा उत्तरी भागपर क़ब्ज़ा करनेकी देखकर हालैण्डने यह कह कर उनका विरोध किया कि इस द्वीपपर हमारा अधिकार तो बहुत पहलेसे चला आ रहा है। उसके विरोधकी उपेक्षा कर १८८८ में ब्रिटेनने उत्तरके कोनेपर अपना संरक्षण स्थापित कर लिया और उसी साल उत्तर पश्चिमके सारावाक नामक राज्यको भी अपना संरक्षित राज्य बना लिया।

धीरे धीरे जहाज़ोंके ठहरने तथा कोयला-पानी लेनेकी आवश्यकताके बहाने और भी सैकड़ों छोटे छोटे द्वीपोंपर अधिकार कर लिया गया। इधर यूरोपीय युद्धकी समाप्तिके बाद राष्ट्रसंघके शासनादेशसे जर्मनीके भी कई द्वीप ब्रिटेनको मिल गये। इनमेंसे बिसमार्क द्वीप-पुंज, सोलोमन द्वीप-पुंज तथा न्यूगिनीका जर्मन भाग आस्ट्रेलियाके और जर्मन समोआ न्यूज़ीलैण्डके जिम्मे कर दिये गये।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, ब्रिटिश जहाजोंके बहुत पहले ही पोर्तगाल तथा हालैण्डके जहाज प्रशान्त सागरकी यात्रा कर चुके थे और इन देशोंके नागरिकोंने कई द्वीपोंपर क़ब्ज़ा भी कर लिया था। इनमेंसे पोर्तगालके अधीन तो अब बहुत कम स्थान रह गये हैं, किन्तु हालैण्डके अधीन अब भी बहुतसे स्थान हैं जिनका क्षेत्रफल सवा सात लाख वर्गमीलसे भी अधिक है।

सत्रहवीं शताब्दीमें मलाया, सुमात्रा, जावा आदि स्थानोंसे पोर्तगालवालोंको हटाकर डच ईस्ट इंडिया कम्पनीने मसालेकी चीज़ोंका व्यापार अपने हाथमें ले लिया था, किन्तु सन् १७९८ तक यह कम्पनी टूट गयी और उसके अधीनस्थ भूभाग डच्च सरकारके हाथमें चले गये। इसके बाद जब नैपोलियनके साथ ब्रिटेनका युद्ध हुआ और उसमें हालैण्डने नैपोलियनका पक्ष ग्रहण किया, तब ब्रिटेनने डच ईस्ट इण्डीजके द्वीपोंपर क़ब्ज़ा कर लिया (१८१०-११)। सन् १८१८ में ये द्वीप पुनः हालैण्डको लौटा दिये गये।

डच ईस्ट इण्डीजमें जावा, सुमात्रा, बोर्नियोका एक बड़ा अंश तथा अन्य कई टापू हैं। धन-धान्य पूर्ण होनेके अतिरिक्त

सैनिक दृष्टिसे भी इनका विशेष महत्त्व है। इन द्वीपोंके कारण हालैण्ड भी अपनेको गौरवशाली राष्ट्र समझता है। इनका क्षेत्रफल हालैण्डके क्षेत्रफलका ५८ गुना है, अतः इनके कारण हालैण्डवालोंके मनमें अभिमानका भाव उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है।

शुरू शुरूमें हालैण्डवालोंने वहाँके लोगोंका धन-शोषण कर अपने ही स्वार्थकी सिद्धिकी ओर विशेष ध्यान दिया। मसालेकी चीज़ोंका व्यापार घट जाने पर वहाँ काफी, तम्बाकू, चाय आदिकी खेतीका विस्तार किया जाने लगा। एक डच शासकने यह आदेश जारी किया कि एक ज़िलेके प्रत्येक गाँव-में हर एक कुटुम्बको काफीके एक हजार पौधे लगाने ही होंगे। इसकी उत्पत्तिका दो पञ्चमांश टैक्सके रूपमें ले लिया जाता था और शेष तीन पञ्चमांश सरकारके हाथ बेच देना पड़ता था। इसी तरह कुछ सड़कें तैयार करनेमें भी बहुतसे मूल-निवासियोंको जबरन काम करनेके लिए बाध्य होना पड़ता था। प्रत्येक गाँवको सड़कका जितना भाग तैयार करनेकी जिम्मेदारी सौंप दी जाती थी, उतना यदि तैयार नहीं हो पाता था तो वहाँके मुखियाको फाँसी दे दी जाती थी।

सन् १८३० में जावामें एक तरहकी "कृषि-प्रथा" जारी की गयी। इसके अनुसार मूलनिवासियोंको अपनी भूमिका पञ्च-मांश सरकारी खेतीके लिए छोड़ देना पड़ता था। खेतीका काम उन्हें ही करना पड़ता था और अपने समयका पाँचवाँ भाग, बिना किसी तरहका वेतन पाये, उसमें लगाना पड़ता था। इससे डच सरकारको अच्छा लाभ हुआ, किन्तु इस प्रथाके कारण मूलनिवासियोंमें असन्तोष फैल गया। हालैण्डके

उदार दलवालोंके उद्योगसे यह प्रथा १८६०–६५ में बन्द कर दी गयी। केवल ऊखकी खेतीमें वह जारी रही किन्तु १८७८ में उसकी मात्रा भी बहुत घटा दी गयी।

अब वहाँवालोंको इच्छानुसार काम करनेकी आज़ादी दे दी गयी, किन्तु गवर्नमेण्टने एक और चाल चली। उसने एक तरहका मुण्ड-कर लगा दिया। इसे अदा करनेके लिए मूल-निवासियोंको मजदूरी करना आवश्यक था। फिर भी धीरे धीरे उन्हें अधिक स्वतन्त्रता मिल गयी, जिसका परिणाम अच्छा ही हुआ। सन् १९२० तक जावाके व्यापारने इतनी उन्नति कर ली कि वह फिलिपाइनके व्यापारका पँचगुना हो गया।

हालैण्डवालोंके अत्याचारोंके कारण सुमात्रा, बोर्नियो, आदिमें कई बार उपद्रव हुए, किन्तु वे किसी तरह शान्त कर दिये गये। डच पार्लिमेण्टके ज़ोर देने पर वहाँके शासनादिमें कई सुधार किये गये, जिससे देशी राजाओं या सरदारोंने विद्रोह करना छोड़ दिया। सन् १९१७ में जावामें एक व्यवस्थापक सभाकी स्थापना की गयी। इसका काम महत्त्वपूर्ण प्रश्नोंके सम्बन्धमें बहस करना और सलाह देना भर था। न तो इसे कोई वास्तविक अधिकार प्राप्त थे और न इसके सदस्य सर्वसाधारणके प्रतिनिधि ही समझे जा सकते थे। सन् १९२५ में आन्तरिक मामलोंमें इसे कुछ और अधिकार दिये गये।

जबसे 'डच ईस्ट इण्डीज़' के द्वीपोंमें रबर और मिट्टीके तेलकी उत्पत्ति होने लगी है, तबसे संसारके औद्योगिक राष्ट्रोंका ध्यान उनकी ओर विशेष रूपसे आकृष्ट होने लगा है। अतः उनकी रक्षाके सम्बन्धमें हालैण्डको विशेष चिन्ता हो रही है। यद्यपि सन् १९१३ में ही एक कमीशनने यह सलाह दी थी कि

हालैंडके उपनिवेशोंकी रक्षाके लिए एक विशेष जहाजी बेड़ा तैयार किया जाय, फिर भी यूरोपीय युद्ध छिड़ जानेके कारण यह विचार जहाँका तहाँ रह गया। उस समय हालैण्डको दो देशोंसे विशेष भय था—जापान और ब्रिटेन। यदि हालैण्ड जर्मनीकी ओरसे लड़ाईमें शामिल हो गया होता तो उसे "डच ईस्ट इण्डीज़" से अवश्य ही हाथ धोने पड़ते, किन्तु उसके तटस्थ बने रहनेसे ये द्वीप उसके क़ब्ज़ेमें बचे रहे। अब भी इनके सम्बन्धमें वह चिन्तित अवश्य है, विशेषकर उस समय-से, जबसे ब्रिटेनने सिंगापुरमें अपना सैनिक अड्डा बना लिया है। इसी तरह जापानकी सैनिक नीतिसे भी वह शंकित हो रहा है। राष्ट्रसंघसे उसे बड़ी आशा थी किन्तु चीन-जापानके मामलेमें उसकी छीछालेदर देखकर उसका भी भरोसा उसे नहीं रह गया है। फिर भी साम्राज्यवादी राष्ट्रोंकी स्वार्थपरा-यणताको देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि हालैण्डको इस सम्बन्धमें विशेष रूपसे शंकित होनेकी आवश्यकता नहीं है।

प्रशान्त सागरके हवाई तथा फिलिपाइन द्वीप-पुंज किस तरह अमेरिकाकी अधीनतामें आये, यह हम पिछले अध्यायमें लिख ही चुके हैं। इनके सिवाय सन् १८९८ में अमेरिकाने स्पेनसे गुआम द्वीप भी प्राप्त कर लिया। यहाँ एक अच्छा बन्दरगाह था। साथ ही समुद्री तारके लिए यहाँ उपयुक्त केन्द्र बनाया जा सकता था। इसके बाद १८९९ में जर्मनी तथा ब्रिटेन-से समझौता हो जाने पर समोआ द्वीप-पुंजके टूटुइला द्वीपपर भी उसका अधिकार हो गया। पहले पहल सन् १८७८ में एक अमेरिकन अफ्सरने समोआके देशी राजाके साथ सन्धि की थी, जिसके अनुसार यह तय हुआ था कि यहाँ आनेवाले

अमेरिकन मालपर कोई कर न लगाया जायगा और पैंगो पैंगो नामक बन्दरगाहमें अमेरिकाके जहाज़ोंको ठहरनेकी स्वतंत्रता रहेगी। राजाने यह भी स्वीकार किया था कि विदेशी राज्योंसे बातचीत करते समय अमेरिकन सरकारसे भी परामर्श कर लिया जाया करेगा।

जब जर्मनीको इस सन्धिकी खबर लगी, तब उसने इसका विरोध किया और कहा कि इस द्वीपमें जर्मनीका भी स्वार्थ है। उसने वहाँके दो बन्दरगाहोंपर क़ब्ज़ा कर लिया और इस तरह दबाव डालकर राजासे अपने लिए भी वे ही सुविधाएँ प्राप्त कर लीं, जो अमेरिकाको दी गयी थीं। इसके बाद ब्रिटेनने भी जर्मनीका अनुकरण किया। तब सन् १८८५ में जर्मन दूतने वहाँपर जर्मनीका झंडा गाड़ दिया। उसका उद्देश्य यह सूचित करना था कि जर्मनी उक्त द्वीपको अपने राज्यमें मिला लेना चाहता है। अमेरिका तथा ब्रिटेनको यह बात बुरी लगी। निदान बहुत लिखा-पढ़ीके बाद १८८९ में यह तय हुआ कि समोआपर तीनों राष्ट्रोंकी देख-रेख अवश्य रहे, पर उसकी स्वतंत्रता न छीनी जाय। यह व्यवस्था चल न सकी और सन् १८९९ में नया समझौता हुआ। जर्मन सोलोमन द्वीपके कुछ भागके बदले ब्रिटेनने समोआसे हट जाना स्वीकार कर लिया। अब जर्मनी तथा अमेरिकाने समोआको आपसमें बाँट लिया। टूटुइला नामक द्वीप जिसपर पैंगो पैंगो नामक बन्दरगाह था, अमेरिकाने लिया और पश्चिमके दोनों द्वीप जर्मनीको मिले। दिसम्बर १९२० में यहाँका शासनादेश न्यूज़ीलैण्डको दे दिया गया।

यद्यपि यूरोपीय युद्धकी समाप्तिके बाद जर्मनीके सब उप-

निवेश तथा प्रशान्त सागरके द्वीप उससे छीन लिये गये, फिर भी यहाँपर थोड़ेमें उनका उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं, समोआ द्वीपके राजाके साथ अमेरिकाकी सन्धि होनेके बाद ही सन् १८७९ में जर्मनीने भी अपने लिए वहाँ विशेष सुविधाएँ प्राप्त कर लीं। इसके सिवाय कैरोलाइन, मार्शल द्वीप-पुंज, न्यू ब्रिटेन तथा न्यू आयरलैण्ड आदिमें भी जर्मन व्यापारी अपनी कोठियाँ स्थापित कर रहे थे और जर्मन सरकारसे उन्हें अपने संरक्षणमें ले लेनेकी प्रार्थना कर रहे थे। यद्यपि बिसमार्क स्वयं अभीतक उपनिवेश स्थापित करनेकी नीतिका विरोधी था, फिर भी इन व्यापारियों तथा अन्य लोगोंके दबावके कारण उसे अपनी नीति बदलन पड़ी। इधर जर्मनीकी बढ़ती हुई जनसंख्याने भी उसे नये नये भूभाग प्राप्त करनेकी ओर प्रवृत्त किया। सन् १८८६ में उसने जर्मन न्यू गिनी कम्पनी द्वारा अधिकृत भूभाग-को अपने संरक्षणमें ले लेनेकी घोषणा कर दी। न्यूगिनी द्वीपके दक्षिण भागपर ब्रिटेन पहले ही दखल जमा चुका था, अतः उसने जर्मनीका विरोध किया। अन्तमें दोनोंमें समझौता हो गया, जिसके अनुसार ब्रिटेनने न्यू गिनीके उत्तर-पूर्ववाले भागमें जर्मनीकी और जर्मनीने दक्षिण-पूर्वके हिस्सेमें ब्रिटेनकी सत्ता स्वीकार कर ली। इसके सिवाय सोलोमन द्वीप-पुंज, न्यू आयर्लैण्ड, न्यू ब्रिटेन तथा न्यूगिनीके उत्तरमें स्थित छोटे छोटे द्वीपोंपर* भी जर्मनीका अधिकार मान लिया गया। इस प्रकार लगभग ७० हजार वर्ग मीलकी भूमि जर्मनीके क़ब्ज़ेमें आ गयी।

---

* जर्मनीने इन द्वीपोंका नाम "बिसमार्क द्वीप-पुञ्ज" रखा।

जर्मनीकी इच्छा फिलिपाइन द्वीपोंपर भी अधिकार कर लेनेकी थी, किन्तु जब स्पेनिश अमेरिकन युद्धके समय अमेरिकाने वहाँ दखल जमा लिया, तब १८९९ में उसने पूरबके बहुतसे छोटे छोटे द्वीप खरीद कर ही सन्तोष कर लिया। इनमें पेल्यू द्वीप, कैरोलाइन द्वीप तथा मार्शल द्वीप-पुंज शामिल थे।

इन सब द्वीपोंसे जर्मनीको कोई आर्थिक लाभ नहीं होता था। हाँ, अमेरिका और आस्ट्रेलिया तथा एशिया और आस्ट्रेलियाके मार्गमें पड़नेके कारण उनका सामरिक महत्त्व अवश्य था। वहाँ कोयला आदि लेनेके लिए जहाज़ ठहर सकते थे और वे समुद्री तथा बेतारके तारके अड्डे बनाये जा सकते थे। कैरोलाइन द्वीपपुंजके याप नामक छोटेसे टापूके विशेष महत्त्वका कारण यही है कि वहाँ समुद्री तारोंका अड्डा है। युद्ध समाप्तिके बाद अमेरिकाने इस बातकी बड़ी कोशिश की कि यह टापू जापानके हाथमें न जाने पावे। अन्तमें वाशिंगटन सम्मेलनमें (१९२२) इसका निपटारा हुआ। जापानको वहांका शासनादेश तो दे दिया गया, किन्तु उसके साथ यह शर्त्त रखी गयी कि अमेरिकाको भी उक्त तारोंका प्रयोग करनेका पूरा अधिकार होगा और यदि अमेरिका आवश्यक समझे तो वहाँ अपना रेडियो-केन्द्र भी बना सकेगा।

जर्मनीके अन्य द्वीप भी इसी तरह उससे छीन लिये गये। युद्ध छिड़नेके बाद ही आस्ट्रेलियावालोंने न्यूगिनीपर और न्यूज़ीलैण्डने समोआपर अधिकार कर लिया था, अतः युद्ध-समाप्तिके बाद इनका शासनादेश भी इन्हीं दोनों देशोंको दिया गया। अन्य द्वीप-पुंजोंपर जापानने अधिकार कर लिया था। राष्ट्रसंघके शासनादेशसे ये जापानके ही अधिकारमें रहने

दिये गये। अब जापानने संघसे सम्बन्ध-विच्छेदकी घोषणा कर दी है, अतः जर्मनीने यह माँग पेश की है कि ये द्वीप पुनः उसे लौटा दिये जायँ। जैसा कि हम पहले लिख आये हैं, जापान उन्हें छोड़नेको तैयार नहीं है।

ब्रिटेन, अमेरिका आदिकी तुलनामें फ्रांस प्रशांत सागरके बहुत कम द्वीपोंपर ही अपना अधिकार जमा सका। न्यू कैलेडोनियामें फ्रांसके कुछ नागरिकोंकी हत्या हो जानेके कारण सन् १८५२ में फ्रांसने उसपर क़ब्ज़ा कर लिया। १८९६ तक यहाँ 'कालापानी' की सजा पाये हुए क़ैदी ही रखे जाते थे, किन्तु इसके बादसे यहाँ खेती तथा खानोंका काम भी शुरू किया गया है। न्यू हीब्रीडीज़में भी कुछ फ्रांसीसी पादरी तथा व्यापारी पहुँचे थे, किन्तु वहाँ आस्ट्रेलियाकी प्रेरणासे ब्रिटेन भी अपना अधिकार जमाना चाहता था, अतः १८८७ के समझौतेके अनुसार वहाँ दोनोंका सम्मिलित शासन जारी हुआ। १९०६ में इसमें कुछ परिवर्त्तन किया गया, किन्तु उससे कोई खास फायदा नहीं हुआ।

चौदहवाँ अध्याय

उपसंहार

अभीतक हमने प्रधान रूपसे आफ्रिका और एशियामें ही साम्राज्यवादी राष्ट्रोंके कारनामोंका वर्णन किया है। कारण यह है कि इन्हीं दोनों महाद्वीपोंमें उन्हें अभीष्ट-सिद्धिका सबसे अधिक अवसर प्राप्त हुआ है, किन्तु इसका यह आशय नहीं कि

अन्य महाद्वीपोंमें उन्होंने अपना प्रभाव बढ़ानेकी चेष्टा नहीं की। मध्य अमेरिका तथा दक्षिण अमेरिकाके देशोंमें संयुक्त राज्य अमेरिकाने किस तरह अपना आर्थिक प्रभुत्व स्थापित करनेका प्रयत्न किया है, इसका दिग्दर्शन हम बारहवें अध्यायमें करा चुके हैं। इसी तरह यूरोपमें भी जर्मनी, फ्रांस आदि शक्तिशाली राज्योंने समय समयपर अपने व्यवहारसे यह स्पष्ट कर दिया है कि वे हमेशा इस बातकी ताकमें रहते हैं कि मौक़ा मिलते ही पड़ोसी राज्योंके महत्त्वपूर्ण स्थानोंपर अधिकार कर लिया जाय।

हम इस पुस्तकके प्रथम भागमें लिख आये हैं (पृ० २८, ३७, ३८) कि जब ब्रेस्ट लीटोव्स्क नामक स्थानमें जर्मनी और रूसके बीच सन्धिकी शर्त्तोंके सम्बन्धमें बातचीत हो रही थी, तब जर्मन प्रतिनिधियोंके व्यवहारसे यह बिलकुल स्पष्ट हो गया था कि जर्मनीकी इच्छा रूसके उन औद्योगिक भूभागोंपर अधिकार कर लेनेकी थी, जो उसकी सीमासे लगे हुए थे। इसी तरह वह पोलैण्डपर भी क़ब्ज़ा कर लेना चाहता था, क्योंकि औद्योगिक दृष्टिसे यह प्रान्त भी विशेष महत्त्वपूर्ण था। इसके अतिरिक्त बेलजियम तथा फ्रांसके व्यावसायिक केन्द्रोंकी ओर भी उसकी नज़र लगी हुई थी। कुछ जर्मन साम्राज्यवादियोंकी आशाएँ तो यहाँतक बढ़ गयी थीं कि वे जर्मनीकी विजयके बाद हालैण्ड, बेलजियम, नार्वे, स्वीडन तथा बाल्टिक तटवर्त्ती प्रान्तोंपर भी उसका अधिकार हो जानेका स्वप्न देखने लगे थे।

युद्ध-समाप्तिके बाद फ्रांस तथा इटलीके रुखसे भी यह स्पष्ट हो गया कि जर्मनीकी तरह उनकी मंशा भी आसपासके महत्त्वपूर्ण स्थानोंको अपने अधीन कर लेनेकी थी। फ्रांस अल-

सेस लारेन, सार नदीका प्रान्त, राइनलैण्ड आदिको अपने राज्य में मिला लेना चाहता था और इटलीका इरादा अलबेनियाकी भूमि हड़प कर अपनी सीमा बढ़ानेका था। यद्यपि अमेरिकाके राष्ट्रपति वुडरो विलसनकी उदार नीतिके कारण फ्रांसकी मनोभिलाषा पूर्ण रूपसे सफल न हो सकी, फिर भी सन्धि-सम्मेलनमें उसके मनोभावोंकी उपेक्षा नहीं की जा सकी। अलसेस लारेन तो उसे मिल ही गया, साथ ही लक्षेमवर्गपर भी उसका नियंत्रण स्थापित हो गया। इसी तरह सार प्रान्तकी कोयलेकी खानोंसे लाभ उठानेका अधिकार उसे प्राप्त हो गया, यद्यपि उसे अपने राज्यमें मिला लेनेकी अनुमति फ्रांसको नहीं दी गयी। १५ वर्षोंके लिए इस प्रान्तका शासन राष्ट्रसंघ द्वारा नियुक्त पाँच राष्ट्रोंके प्रतिनिधियोंके सिपुर्द कर दिया गया है। इस अवधिकी समाप्तिके बाद जनसम्मतिके आधारपर इसके भविष्यका निपटारा किया जायगा।

इसी तरह इटलीकी इच्छाके अनुसार सन्धि-सभामें यह निश्चय हुआ था कि अलबेनियाका एक हिस्सा इटलीको अर्पित कर दिया जाय और शेषका शासनादेश उसे दे दिया जाय। अलबेनियाके नागरिकों द्वारा इस व्यवस्थाके विरुद्ध विद्रोह कर दिये जाने तथा स्वयं इटलीमें ही इसकी तीव्र आलोचना होनेके कारण इस निश्चयके अनुसार कार्य नहीं किया जा सका। अलबेनियासे इटलीकी सेनाको हट जाना पड़ा और वहाँ प्रजातंत्र राज्य स्थापित हो गया।

जब राइनलैण्डमें कुछ जर्मनोंने स्वदेशसे अलग हो जानेका आन्दोलन शुरू किया, तब फ्रांसीसी कर्मचारियोंने उनके प्रति सहानुभूति प्रकट की। वे हृदयसे इस बातकी कामना करते

थे कि यदि राइनलैण्ड जर्मनीसे सम्बन्ध त्याग कर एक पृथक् राष्ट्र बन जाय तो बड़ा अच्छा हो, जिसमें उस ओरसे जर्मनीके आक्रमणकी संभावना दूर हो जाय। फ्रांसके दुर्भाग्यसे उन लोगोंकी इच्छा पूरी नहीं हुई और उन्हें हाथ मलते रह जाना पड़ा।

यूरोपके साम्राज्यवादी राष्ट्रोंकी आँखें तुर्कीपर भी लगी हुई थीं और उन्होंने उसे आपसमें बाँट लेनेका निश्चय कर लिया था। यद्यपि तुर्कीमें राष्ट्रीयताका भाव ज़ोरोंसे फैल जानेके कारण उसे सम्पूर्ण रूपसे निगल जानेके प्रयत्नमें वे सफल न हो सके, फिर भी उसका अंग-भंग करनेमें उन्होंने कोई कसर बाक़ी नहीं रखी। इसका वर्णन यथास्थान किया जा चुका है, अतः यहाँ इस सम्बन्धमें और कुछ लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उससे स्पष्ट है कि यूरोपमें भी साम्राज्यवादी राष्ट्रोंने अपने आसपासके देशोंकी भूमि हड़प लेने अथवा उनपर अपना संरक्षण स्थापित करनेका प्रयत्न किया है। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि आफ्रिका तथा एशियामें उन्होंने जिस नीतिसे काम लिया है, उसका प्रयोग ठीक उसी तरह वे यूरोपीय देशोंके साथ नहीं कर सके हैं। इसका रहस्य क्या है?

यूरोपके छोटे छोटे देश ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस आदि साम्राज्यवादी राष्ट्रोंके चंगुलसे अभीतक क्यों बचे हैं और वे किस तरह अपनी स्वतंत्रता क़ायम रखनेमें समर्थ हैं, इसके दो कारण मालूम होते हैं। एक तो यह है कि यूरोपके ये देश छोटे होते हुए भी सभ्यता, शिक्षा-प्रचार एवं सुव्यवस्थित शासन आदि-

की दृष्टिसे आफ्रिका अथवा एशियाके कई देशोंकी तरह पिछड़े हुए नहीं हैं। ऐसी अवस्थामें इन्हें "सभ्यता सिखाने" का बहाना लेकर इनपर प्रभुत्व स्थापित करनेका प्रयत्न नहीं किया जा सकता। इसी तरह दासताकी प्रथा या मानव-जातिके प्रति होनेवाले अन्य अत्याचारोंको दूर करनेकी इच्छा प्रकट कर इन राज्योंके साथ हस्तक्षेप करना कठिन है। यदि साम्राज्य-वादी राष्ट्र चाहें तो मामूली तौरसे इन देशोंमें अपनी फालतू पूँजी लगा सकते हैं, इन्हें ऋण दे सकते हैं और इनके साथ व्यापार कर सकते हैं। ऐसा करनेके लिए इनपर संरक्षण स्थापित करने या इन्हें अपने 'प्रभाव-क्षेत्र' में शामिल करनेकी आवश्यकता नहीं है। हाँ, तुर्की तथा पोर्तगाल, ये दो देश अवश्य ऐसे थे जो कुछ कमज़ोरसे थे और जहाँका शासन सुसंघटित न था। तुर्कीकी क्या दशा हुई और अन्तमें उसने किस तरह अपने आपको पूर्ण रूपसे नष्ट होनेसे बचाया, यह हम लिख ही चुके हैं। रहा पोर्तगाल, सो वह भी ब्रिटेनकी सहानुभूतिके कारण किसी तरह साम्राज्यवादियोंका शिकार होनेसे बच गया।

दूसरा कारण साम्राज्यवादी राष्ट्रोंका पारस्परिक मतभेद एवं एक दूसरेके प्रति ईर्ष्याभाव है। यदि कोई बड़ा राष्ट्र अपने पासके छोटे देशपर क़ब्ज़ा करनेका प्रयत्न करे, तो दूसरे राष्ट्र उसे ऐसा न करने देंगे। उदाहरणार्थ, जर्मनी यदि बेलजियम पर आक्रमण करना चाहे तो ब्रिटेन तथा फ्रांस चुप नहीं बैठे रह सकते। यह बात गत यूरोपीय युद्धके शुरूमें जितनी सच थी, उतनी ही या उससे भी अधिक आज है। इसी तरह यदि इटली यूगोस्लावियाकी ओर अग्रसर होनेकी चेष्टा करे, तो यह

निश्चित है कि फ्रांस जो इस समय लघु मित्र-राष्ट्रोंका पृष्ठपोषक बना हुआ है, उससे कैफियत तलब किये बिना नहीं रह सकता। तात्पर्य यह है कि यूरोपके छोटे छोटे राष्ट्रोंके अभीतक बचे रहनेका एक बड़ा कारण उनकी आपसकी प्रतियोगिता एवं एक दूसरेके वैभवको देख सकनेकी अक्षमता भी है।

इतना होते हुए भी, जैसा कि हम ऊपर लिख आये हैं, यूरोपके औद्योगिक राष्ट्रोंने समय समयपर आस पासके छोटे छोटे देशोंपर भी किसी न किसी रूपमें अपना प्रभुत्व स्थापित करनेकी चेष्टा अवश्य की है। हाँ, यह बात दूसरी है कि परिस्थिति दूसरी होनेके कारण यूरोपमें उनका साम्राज्य-वाद वैसा रूप धारण नहीं कर सका, जैसा हम एशिया या आफ्रिकाके देशोंका वर्णन करते समय दिखा चुके हैं। इस समय भी बड़े राष्ट्रों द्वारा छोटे राष्ट्रोंको प्रभावित करनेकी चेष्टा जारी है। इस सम्बन्धमें फ्रांसका उदाहरण सबसे पहले सामने आता है। लघु-राष्ट्र-मण्डलके राष्ट्रोंको ऋण देकर, उनकी सेनाओंका संघटन करनेके लिए अपने विशेषज्ञ भेजकर और अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों आदिके अवसरपर उनके पक्षका समर्थन कर उसने उन्हें यहाँतक अपने प्रभावमें लानेका प्रयत्न किया कि वे एक तरहसे उसके आश्रित या उपराष्ट्र बन गये। इसी तरह उसने पोलैण्डकी माँगोंका भी ज़ोरोंसे समर्थन कर उसे भी अपना 'पिछलगा' बना लेनेका उद्योग किया है। यद्यपि इस नीतिको हम स्पष्ट रूपसे 'साम्राज्यवाद'-की संज्ञा नहीं दे सकते, फिर भी है यह उसीका छिपा हुआ या सौम्य रूप। इसमें अन्य देशोंको जीतने या उन्हें बाक़ायदा अपना संरक्षित राज्य बनाने-की आवश्यकता नहीं। उनपर केवल आर्थिक प्रभाव डालने या

आवश्यकताके समय सैनिक नियंत्रण कर सकनेका अधिकार प्राप्त हो जानेसे भी काम चल जाता है और इस तरह उनसे बहुत कुछ लाभ उठाया जा सकता है। इस नीतिका प्रयोग उन देशोंके प्रति आसानीसे किया जा सकता है, जिन्हें जीतकर अपने राज्यमें मिला लेनेकी गुंजाइश न हो। इसका सहारा लेनेसे फ्रांसको अपना माल खपाने और अनावश्यक पूँजीको लाभप्रद कामोंमें लगानेका सुभीता प्राप्त हो गया।

यूरोपीय युद्धकी समाप्तिके बाद जब १९१९ में राष्ट्र-संघ स्थापित हुआ, तब बहुतोंके मनमें यह आशा उत्पन्न हो गयी थी कि बड़े राष्ट्रों द्वारा छोटे या कमज़ोर राष्ट्रोंका गला घोंटनेकी नीति अब शीघ्र ही परित्यक्त कर दी जायगी और संसारमें न्याय, एकता तथा स्थायी शान्तिकी स्थापना हो सकेगी। उनकी यह आशा पूरी न हो सकी, जैसा कि बादकी घटनाओंसे स्पष्ट है। साम्राज्यवादी राष्ट्रोंको अपने पथसे रोकनेमें संघ बिलकुल असमर्थ प्रमाणित हुआ और चीन-जापानके मामलेमें उसकी काररवाई देखकर स्वयं उसके सदस्योंका ही विश्वास उसकी सार्थकता परसे उठ आया।

अमेरिकाके राष्ट्रपति श्री वुडरो विलसन बड़े उदारचेता राजनीतिज्ञ थे। वे धन-शोषणकी नीति और साम्राज्य-लिप्सा के विरोधी थे। वे चाहते थे कि सब लोग अपने अपने देशमें सुखसे रहें, कोई किसी दूसरेके देशपर अधिकार न करे। यूरोपीय युद्धमें शामिल होनेके पहले एक बार जब उन्होंने अमेरिकाकी सिनेट सभामें भाषण करते हुए यह कहा था कि अमेरिका समस्त संसारमें इस सिद्धान्तका प्रचार करना चाहता है कि शासितोंकी सम्मतिके विना कोई विदेशी राज्य

उनपर शासन न कर सके, तब यूरोपके राजनीतिज्ञोंको यह बात अच्छी नहीं लगी थी। युद्धकी घोषणा करनेका निश्चय कर लेने पर उन्होंने पुनः इसी बातपर ज़ोर दिया और कहा कि हम जर्मनीके अत्याचारोंका अन्त कर समस्त संसारमें शान्ति स्थापित करनेके उद्देश्यसे प्रेरित होकर ही लड़ाईमें शामिल हो रहे हैं। अमेरिकाको युद्ध शुरू करनेका निश्चय करते देखकर यूरोपके राष्ट्रोंको बड़ी खुशी हुई, क्योंकि अब उन्हें अपना पक्ष प्रबल हो जानेकी आशा हो गयी। यही कारण है कि इस बार उन्होंने विलसनके शब्दोंका विरोध नहीं किया।

यद्यपि युद्धमें शरीक होनेवाले दोनों पक्षोंके राष्ट्र बराबर इस बातपर ज़ोर दिया करते थे कि हमेशाके लिए युद्धका अन्त कर देने तथा छोटे छोटे राष्ट्रोंकी रक्षाके लिए ही हम यह लड़ाई लड़ रहे हैं, पर यह स्पष्ट है कि उनकी ये सब बातें बिलकुल बनावटी थीं। इनका असली उद्देश्य सर्व-साधारणको धोखेमें डाल रखना ही था, जिसमें वे लोग युद्ध जारी रखनेमें धन-जनसे सरकारकी सहायता करते रहें। इस तरह परोपकारिता और निःस्वार्थ भावकी डींग मारनेका एक कारण उन देशोंकी सहानुभूति प्राप्त करनेकी इच्छा भी थी, जो अभीतक युद्धमें शामिल नहीं हुए थे।

युद्ध-समाप्तिके बाद विजेता राष्ट्र अपने पूर्व-कथित शब्दोंको भूल गये और उन्होंने पुनः अपनी पुरानी प्रवृत्तिका परिचय देना शुरू किया। जिन बड़े बड़े राष्ट्र-नायकोंने राष्ट्रपति विलसनके स्वभाग्य-निर्णयके सिद्धान्तका समर्थन किया था, वे अब ऐसा उपाय ढूँढनेकी फिक्र करने लगे जिसका अनुसरण करनेसे वे

संसारकी दृष्टिमें सर्वथा झूठे और बेईमान भी न प्रमाणित होने पावें, किन्तु साथ ही जिससे उनका उद्देश्य भी पूरा हो जावे।

जब ब्रिटेनके मजदूर-दलवालों तथा कुछ लिबरलोंने युद्ध-का विरोध किया और यह कहना शुरू किया कि साम्राज्यवाद-की प्रेरणासे हो यह युद्ध किया जा रहा है, तब उन लोगोंके मनसे ऐसी धारणा दूर करानेके उद्देश्यसे जनवरी १९१८ में ब्रिटिश प्रधान मंत्री श्री लायड जार्जने कहा था कि मित्र-राष्ट्रों-का लक्ष्य स्वभाग्य-निर्णयके सिद्धान्तका समर्थन करना है। "राष्ट्रीय आत्मनिर्णयका यह सिद्धान्त यूरोपियनोंकी तरह जर्मन उपनिवेशोंके रहनेवालोंको भी लागू है", क्योंकि वहाँके सरदार तथा कौंसिलोंके सदस्य अपनी जातियोंके प्रतिनिधि बनकर मत प्रकट कर सकते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि मुख्य विचार इस बातका होना चाहिये कि "यूरोपीय पूँजीपतियों अथवा यूरोपकी सरकारोंके लाभार्थ उनका शोषण न किया जाय*।"

ब्रिटिश प्रधान मंत्रीके इन शब्दोंका यदि कोई अर्थ निक-लता है तो यही कि साम्राज्यवादी राष्ट्रोंको पराधीन जातियों पर, उनकी इच्छाके विरुद्ध, शासन करने और उनका आर्थिक शोषण करनेका कोई अधिकार नहीं। यदि लायड जार्ज साहबके इन शब्दोंके अनुसार सचमुच काम किया गया होता, तो युद्ध-समाप्तिके बाद इन १३-१४ वर्षोंमें साम्राज्यवादका अन्त ही हो जाता, किन्तु पराधीन देशोंके, दुर्भाग्यसे ऐसा नहीं हुआ। स्वभाग्य-निर्णयका सिद्धान्त वस्तुतः यूरोपीय राष्ट्रोंके लिए ही था, जिसके आधारपर वहाँ पोलैण्ड, जेकोस्लोवेकिया, यूगोस्ला-

*टेम्परले कृत "हिस्ट्री आफ दि पीस कान्फरेन्स" भाग १, पृ० १९१

विया आदि नये राष्ट्रोंकी सृष्टि की गयी। एशिया अथवा आफ्रिकाके देशोंके सम्बन्धमें उसका प्रयोग कर यूरोपके साम्राज्यवादी राष्ट्र अपने हाथसे अपने पाँवोंपर कुल्हाड़ी कैसे मार सकते थे ?

फिर भी राष्ट्रपति विलसनके भावोंका आदर करते हुए एवं उनका विशेष आग्रह देखकर, साथ ही पहले की गयी प्रतिज्ञाओंकी स्पष्ट रूपसे अवहेलना करनेका कलंक अपने सिरपर न लेनेके ख़यालसे, अन्तमें महाशक्तियोंने यह स्वीकार किया कि शत्रुके अधीन भूभागोंको राष्ट्र-संघके शासनादेशसे आपसमें बाँट लिया जाय। युद्धकालमें राष्ट्रोंने परस्पर जो गुप्त संधियाँ की थीं, उनकी रक्षाका भी यही सबसे अच्छा उपाय था।

राष्ट्रसंघकी ओरसे जो शासनादेश जारी किये गये, वे तीन श्रेणियोंमें बाँटे गये। 'क' श्रेणीके शासनादेशोंका सम्बन्ध ऐसे देशोंसे था, जिन्हें अपने पाँवोंपर खड़े होनेके लिए कुछ समय तक किसी बड़े राष्ट्रकी "अभिभावकता" में रहनेकी आवश्यकता थी। 'ख' श्रेणीमें वे उपनिवेश रखे गये, जिन्हें स्वायत्त शासन प्रदान करनेके सम्बन्धमें कोई शर्त नहीं रखी गयी, केवल थोड़ीसी ऐसी शर्त्तें रख दी गयीं जिनके कारण साम्राज्यवादियोंके अत्यधिक निष्ठुर व्यवहारोंसे मूलनिवासियोंकी थोड़ी बहुत रक्षा हो सके। 'ग' श्रेणीमें जर्मन साउथ-वेस्ट आफ्रिकाके अतिरिक्त जर्मनीके वे टापू रखे गये जिनके सम्बन्धमें कोई खास शर्त्तें नहीं लगायी गयीं और जो स्पष्ट रूपसे ब्रिटेन, जापान आदि द्वारा अपने साम्राज्यमें मिला लिये गये।

'क' श्रेणीका शासनादेश सीरियाके सम्बन्धमें फ्रांसको तथा ईराक और फिलिस्तीनके सम्बन्धमें ब्रिटेनको दिया गया।

इनमेंसे ईराकको तो गत वर्ष स्वायत्त शासन दे दिया गया है, किन्तु अन्य दोनों देशोंका शासनादेश अभीतक जारी है। वहाँ वाले शासनादेशके कहाँतक विरोधी हैं, विशेषकर सीरिया-वाले, इसका वर्णन हम यथास्थान कर चुके हैं। फिलिस्तीन सम्बन्धी शासनादेशकी शर्तोंके अनुसार ब्रिटेनने यह स्वीकार किया था कि वह वहाँ यहूदियोंको बसानेमें मदद देगा। वहाँके ८० प्रति शत निवासी मुसलमान हैं, इसीसे इस प्रयत्नमें वहाँके अरबोंने ब्रिटेनका काफी विरोध किया है। ब्रिटिश हाई कमिश्नर सर हरबर्ट सैम्यूलके शासनकालमें (१९२०-२५) वहाँ जो शासन-सुधार किये गये और व्यवस्थापक सभाकी स्थापना की गयी, उसका उन्होंने बहिष्कार किया। वहाँकी परिस्थिति देखते हुए यह कहना कठिन है कि फिलिस्तीन ईराककी तरह कब तक स्वायत्त शासनके योग्य समझा जायगा और कब उसे विदेशी नियंत्रणसे छुट्टी मिलेगी।

'ख' श्रेणीके शासनादेश जर्मनीके इन उपनिवेशोंके सम्बन्ध में जारी किये गये थे—टोगोलैण्ड (फ्रांस-ब्रिटेन), कमेरून्स (फ्रांस-ब्रिटेन), और जर्मन ईस्ट आफ्रिका (टंगान्यिका ब्रिटेनको, शेषांश बेलजियमको)। यद्यपि शासनादेशकी शर्त्तोंके अनुसार यहाँ गुलामोंका व्यवसाय तथा बेगारपर काम कराना बन्द कर दिया गया है, फिर भी करोंकी वसूलीके लिए सार्वजनिक कामोंके सम्बन्धमें बेगार करायी जा सकती है। गर्मी अधिक पड़नेके कारण यहाँका शासन प्रधान रूपसे गोरे कर्मचारियों द्वारा चलानेमें कठिनाई होती है, अतः देशी सरदारोंसे भी पर्याप्त सहायता ली जाती है। व्यवसाय-वाणिज्यकी दृष्टिसे यहाँका द्वार सब देशोंके लिए समान रूपसे खुला रहने दिया गया है

'ग' श्रेणीके शासनादेश प्राप्त कर आस्ट्रेलियाने न्यूगिनी पर, न्यूज़ीलैण्डने समोआपर और जापानने कैरोलाइन आदि द्वीप-पुंजोंपर क़ब्ज़ा कर लिया। इसी तरह जर्मन साउथ-वेस्ट आफ्रिकापर दक्षिण आफ्रिकाकी सरकारका प्रभुत्व स्थापित हो गया। यूरोपीय युद्धके बाद वहाँ बहुतसे अंग्रेज जा बसे। उन्होंने वहाँकी भूमिके एक बड़े भागपर दख़ल जमा लिया। सन् १९२१ में वहाँ कुत्तोंपर जो कर बैठाया गया था, उसे देनेसे कुछ मूल-निवासियोंने इनकार कर दिया। इस पर उन्हें क़ैदकी सजा दी गयी। सन् १९२२ में वहाँ एक बलवा हो गया, जिसका दमन करनेमें मशीनगनोंका प्रयोग किया गया और हवाई जहाज़से बम बरसाये गये। उसी साल इस घटनाकी ओर राष्ट्रसंघका ध्यान आकर्षित किया गया। नतीजा यह हुआ कि इस तरहके अन्यायपूर्ण क़ानूनोंमें परिवर्त्तन कर दिया गया। इसी प्रकार समोआके मामलेमें भी एक बार राष्ट्रसंघको हस्तक्षेप करना पड़ा था।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उससे स्पष्ट है कि शासनादेशका तरीक़ा भी किसी न किसी तरहसे साम्राज्यवादात्मक मनोवृत्तिका ही सूचक है। कमसे कम 'ख' श्रेणी तथा 'ग' श्रेणीके शासनादेशोंके सम्बन्धमें तो यह बात बिलकुल निर्विवाद रूपसे कही जा सकती है। यद्यपि कहनेके लिए ये शासनादेश राष्ट्रसंघकी ओरसे जारी किये गये हैं, फिर भी इनकी असली जड़ वे गुप्त सन्धियाँ हैं जो युद्ध समाप्त होनेके पहले ही ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, जापान आदिके बीच हो चुकी थीं। जब संघकी स्थापना हुई, तब उसमें भी इन्हीं चार पाँच महाशक्तियोंका ज़ोर रहनेके कारण शासनादेश जारी करते

समय इनकी इच्छाओंका पूरा पूरा ख़याल रखना पड़ा। संघमें इस समय भी साधारणतया इन्हीं चार-पाँच राष्ट्रोंकी तूती बोलती है और ये जिस तरह चाहते हैं उस तरह उससे नाच नचवाते हैं। छोटे राष्ट्रोंके झगड़ोंका निपटारा करनेमें उसे अवश्य पर्याप्त सफलता मिली है, किन्तु जिन मामलोंका संबंध किसी बड़े राष्ट्रसे रहा है, उसका फैसला करनेमें वह उतनी तत्परता एवं निर्भीकतासे काम नहीं कर सका है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण चीन-जापानका झगड़ा है। यदि इस मामलेमें संघके सदस्योंने अधिक दृढ़ भाव प्रदर्शित किया होता, तो जापानका साहस इतना न बढ़ने पाता और न वह चीनकी ऐसी दुर्दशा कर सकता जैसी इस समय हम देख रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं दुर्बल राष्ट्रोंके हितकी दृष्टिसे संघकी यह शक्तिहीनता अत्यन्त शोचनीय है। यदि यही हालत रही तो हमें दुःखके साथ यह स्वीकार करना पड़ेगा कि संसारमें साम्राज्य-लिप्सा एवं सैनिक प्रतियोगिताका प्राबल्य अभी बहुत दिनोंतक रहेगा और राष्ट्रपति विलसनकी यह आशा कि सब लोग अपने अपने देशमें सुखसे रहें, कोई किसीपर आक्रमण न करे, पूरी होनेमें अभी काफी देर लगेगी।

आधार-पुस्तकोंकी सूची

प्रथम भाग

1. Imperialism by J. A. Hobson, 1905.
2. Imperialism by Lenin.
3. The Foundations of Imperialist Policy by Michel Pavlovitch.
4. Imperialism & World Politics by P. T. Moon.
5. The Export of Capital by C. K. Hobson, 1914.

द्वितीय भाग

१. वर्त्तमान एशिया (हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर)
२. एशिया निवासियोंके प्रति यूरोपियनोंका बर्त्ताव (ठाकुर छेदीलाल कृत)
३. चाँद ("वर्त्तमान मुस्लिम जगत्" शीर्षक लेखमाला, १९३२-३३)
4. Imperialism & World Politics by P. T. Moon, 1927.
5. Economic Imperialism by Prof. Achille Viallate.
6. Modern Imperialism by R. S. Lambert.
7. Economic Imperialism by L. S. Woolf, 1920.
8. Economic Imperialism by G. Brailsford.
9. The War of Civilisation by George Lynch.
10. Imperialism & Civilization by L. Woolf.
11. Europe And The East by Norman Dwight Harris.
12. British Imperialism in East Africa, Colonial Series.
13. British Imperialism in Malaya. " "
14. Encyclopaedia Brittanica (Articles on Africa, South Africa, Egypt, Tunisia, Morocco, Congo, Persia, Afghanistan, China, Siam, Tibet etc.)
15. American Imperialism in the Caribbean Sea, Modern Review September, 1930.

अन्य उपयोगी पुस्तकें

16. Imperialism in the Far East.
17. The New Map of Asia by H. A. Gibbons.
18. The Awakening of Asia by Hyndman.
19. Imperialism & Manchuria by V. Avarin, 1931.
20. Europe And Asia by Townsend Meredith.
21. The Strangling of Persia by W. M. Shuster.
22. Europe and the Far East by R. K. Douglas.
23. History of the Far East by H. Webster, 1923.
24. China Awakened by M. T- Z. Tyau.
25. China Yesterday and Today by E. T. Williams.
26. Japan in World Politics by K. K. Kawakami, 1921.
27. New China by C. E. Malone.
28. The United States as a World Power by A. C. Coolidge.
29. Dollar Diplomacy by Scott Nearing.

भूल-सुधार

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६०	६	कैरीनियन समुद्र	कैरीबियन समुद्र
२०२	१०	क्रूजर	क्रूगर
३०६	१०	स नहीं	प्राप्त नहीं
३४९	१५	चीनी साहित्य	जापानी साहित्य
,,	२३	जागरण ५-१२-३३	जागरण ५-१२-३२
४०३	१३	बदलन पड़ी	बदलनी पड़ी

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका

उ

ए, ऐ

ओ, औ

क

प

य

ह

अंग्रेज जातिका इतिहास

इसमें केवल राजनीतिक घटनाओं या कोरे युद्धोंका वर्णन नहीं है, प्रत्युत राजा और प्रजाके उस राजनीतिक संघर्षका एवं जनताके उन प्रयत्नोंका वर्णन किया गया है जिनके कारण इंग्लैण्ड इतनी उन्नति कर सका। वहाँके धार्मिक, साहित्यिक तथा सामाजिक विकासका भी दिग्दर्शन इसमें कराया गया है। परिवर्द्धित संस्करणका मूल्य २॥)

मीर क़ासिम

भूमिका लेखक—अध्यापक बेनीप्रसाद, एम० ए० डी० एस० सी०।

बंगालके सुयोग्य नवाब मीर कासिमके समयमें अंग्रेजोंने भारतपर कैसे कैसे अत्याचार किये, शाही फरमानकी आड़में उन्होंने कैसा अन्धेर मचा रखा था, नवाबने उनकी धमकियोंकी जरा भी परवा न करके किस प्रकार दृढ़तासे काम लिया और देशी व्यापारियोंको हानि उठाते देखकर सभीके लिये निःशुल्क व्यापारकी घोषणा कर दी, इसपर अंग्रेजोंने कैसी उछल कूद मचायी, उन्होंने नवाबको किस प्रकार युद्धके लिये लाचार किया, निदान किस प्रकार प्रजाके हित तथा न्यायकी रक्षाके लिये कर्त्तव्यपरायण मीर कासिमने अपने सुख और ऐश्वर्यकी आहुति दे दी—इसका पूरा वृत्तान्त इसमें पढ़िये, मूल्य १॥।)

अफलातूनकी सामाजिक व्यवस्था

इसमें सुप्रसिद्ध ग्रीक विद्वान् अफलातून (प्लैटो) की पुस्तकों—रिपब्लिक पोलिटिकस, तथा लाज—का संक्षिप्त विवेचन किया गया है और उनके आधारपर थोड़ेमें किन्तु स्पष्ट रूपसे यह दिखला दिया गया है कि वास्तवमें समाजकी क्या आवश्यकताएँ हैं, उसकी व्यवस्था कैसी होनी चाहिये, अफलातूनकी आदर्श सामाजिक व्यवस्थामें और भारतीय सामाजिक व्यवस्थामें कहाँतक साम्य है, इत्यादि, मूल्य १।=)

पता—ज्ञानमण्डल पुस्तक-भण्डार, काशी।